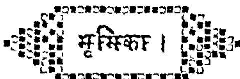
प्रकाशक—
पंडित लालाराम जैन।
मालिक, ग्रन्थप्रकाश कार्यालय,
मल्हारगंज, इन्दौर।



मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिंटिंग प्रेस,
खपाटिया चकला, सूरत।

श्री अर्हद्भ्यो नमः।



भूमिका।



यह पंचाध्यायी ग्रन्थ जैन सिद्धान्तके उच्चतम कोटिके ग्रन्थोंमेंसे एक अद्वितीय ग्रन्थ है। वर्तमान समयके विद्वान् तो इस ग्रन्थको असाधारण और गम्भीर समझते ही हैं, किन्तु ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं इसे ग्रन्थराज कहते हुए इसके बनानेकी प्रतिज्ञा की है। जैसा कि "पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्" इस आदि श्लोकार्धसे प्रकट होता है।

इस ग्रन्थमें जिन महत्त्व पूर्ण विषयोंका विस्तृत विवेचन किया गया है, उन सबका परिज्ञान पाठकोंको इसके स्वाध्याय और मनन करनेसे ही होगा, तथापि संक्षेपमें इतना कहना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ जितना उपलब्ध है, दो भागोंमें बँटा हुआ है। (१) द्रव्य विभाग (२) सम्यक्त्व विभाग। द्रव्य क्या पदार्थ है? वह गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न? उसमें उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन परिणाम प्रतिक्षण किस प्रकार होते हैं? गुण पर्यायोंका क्या लक्षण है? इत्यादि बातोंका अनेक शंका समाधानों द्वारा स्पष्ट विवेचन पहले विभागमें (पहले अध्यायमें) किया गया है। इसी विभागमें प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विवेचन भी बहुत विस्तारसे किया गया है। दूसरे विभाग (द्वितीय अध्याय) में जीवस्वरूप, सम्यक्त्व, अष्ट अंग, और अष्ट कर्मोंका विवेचन किया गया है। यह विभाग अध्यात्म विषय होनेके कारण प्रथम विभागकी अपेक्षा सर्व साधारणके लिये विशेष उपयोगी है।

इस ग्रन्थके अवलोकनसे जैनेतर विद्वान् भी जैन सिद्धान्तके तत्त्वविचार और अध्यात्मचर्चाके अपूर्व रहस्यको समझ सकेंगे।

ग्रन्थकारने पांच अध्यायोंमें पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका पंचाध्यायी नाम रक्खा है और इसी लिये अनेक स्थलोंपर कतिपय उपयोगी विषयोंको आगे निरूपण करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है। जैसे—'उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतं, वक्ष्ये श्रावकाध्यायात्सावकाशात् सविस्तरम्', तथा 'उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणं, शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात्' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्योंसे विदित होता है कि ग्रन्थकारका आशय इस ग्रंथको बहुत विस्तृत बनाने और उसमें समग्र जैन सिद्धान्तरहस्यके समावेश करनेका था, परन्तु कहते हुए हृदय कंपित होता है कि श्रेयांसि बहु विघ्नानि,

विषय-सूची।

उत्तरार्ध।

शुद्धिपत्र ।

प्रथम अध्याय ।

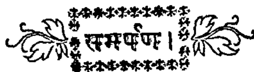
पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७४	११	पर्यायनिपेक्ष	पर्यायनिरपेक्ष
७७	११	अमाव	अभाव
७८	२९	चूकी है	चुका है
९०	१०	सम्यद्दिष्टि	सम्यग्दृष्टि
९५	१	पश्चात्मो	पश्चात्मा
९६	१	०	अर्थ
१०९	१९	ह	है
११०	२	यीतं	वर्तित
१११	१	दष्टांतभास	दृष्टांताभास
१११	११	अहित	अटित
११२	१७	सत्तप	समय
१२९	८	निरोध	विरोध
१२९	२९	किश्चित्	किंचित्
१३८	११	लेडन	गोड न
१३८	१४	गुंपिफतैक	गुंफितैक
१४४	१८	(स्व)	(सत्व)
१५६	४	दूसरे	दूसरा
१५९	९	इसलिये	इसलिये
१६०	२	विमाव	विभाव
१६१	१२	उपयुक्त	उपर्युक्त
१६१	९	वस्तुवा	वस्तुका गुण
१६४	१	सिद्धावाद्	सिद्धावाद्
१६९	१४	भावमय	भवमय
१६९	२८	आदयदी	अवयवी
१७१	२१	मालाकये	मालाकार
१७१	१७	कमुगा	कर्तृत्व

पृष्ठ.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
१८९	२९	त य	न पर्यय
१८९	२९	द्रव्यं गुणो न य	द्रव्यं गुणो न पर्यय
१९०	१०	निश्चयन यस्य	निश्चयनयस्य
१९१	१४	विभणिमं	विमणियं
१९२	१०	(भैमा)	(भैमा)
१९६	२८	अधीम	आधीन
१९४	१८	निश्चन	निश्चयनय
१९५	२	धम	धम
१९६	२८	अनुन	अनुगत
१९६	२९	मर्नीन	मर्दीति
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
२११	७	स्यान्मतिशने	स्यान्मतिश्च न
२११	१८	मापरूप	[illegible]
२१६	१	सम्पूण	सम्पूर्ण
२१८	१२	मधुगुदन	मधुसूदन
२१८	२७	विनिगुणा	विनिगुण
२२०	११	नाम	नामके
२२१	११	व्यवहारन्तभूंतो	व्यवहारान्तर्भूते
२२१	१८	अनय	अनन्य
२२१	१८	पदार्थ	पदार्थे
२२६	२१	ओज्य	भोज्य

द्वितीय अध्याय ।

९	८	मामन्य	सामान्य
१	१६	भिन्द	भिन्न
१	१९	इंद्रियो	इंद्रिये
७	१०	इष्य	द्रव्य

श्रीः।



स्याद्वाद वाराधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति-

श्रीमान् पं० गोपालदासजी।

गुरुवर!

जैन समाजमें तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाजमें भी आपका प्रतिभामय प्रखर पाण्डित्य प्रख्यात था। आपके उद्देश्य बहुत उदार थे, परन्तु सामयिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जैसे अकिंचिनताने आपका साथ नहीं छोड़ा वैसे ही स्वावलम्बन और निरीहताका साथ आपने भी कभी नहीं छोड़ा।

ऐसे समयमें जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त ग्रंथोंके पठन पाठनका मार्ग रुका हुआ था, आपने अपने असीम पौरुषसे उन ग्रंथोंके मर्मी १५-२० मान्य मान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नहीं; किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रवाह बराबर चलता रहे इसके लिये मोरेनामें एक विशाल जैन सिद्धान्त विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिससे कि प्रतिवर्ष सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निकलते रहते हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण यह आपकी कृति जैन समाज हृदय मन्दिरपर सदा अंकित रहेगी।

पञ्चाध्यायी एक अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ होनेपर भी बहुत कालसे लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्योंको पढ़ाकर इसका प्रचार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक दार्शनिक-तात्त्विक व्याख्यानोंसे श्रोतृ समाजको भी इस ग्रन्थके अमृतमय रससे तृप्त किया।

गुरुवर! आपके प्रसादसे उपलब्ध हुए इस ग्रंथकी आपके आदेशानुसार की हुई यह टीका आज आपके ही कर कमलोंमें टीकाकार द्वारा सादर-सप्रेम-सविनय समर्पित की जाती है।

यदि आपके समक्ष ही इसके समर्पणका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता तो आपको भी इस समर्पणसे आनन्द होता और मुझे आपकी हार्दिक समालोचनासे विशेष अनुभव लाभ प्राप्त होता, परन्तु खिन्न हृदय लिखना होता है कि इस अनुवादकी समाप्तिके पहले ही आप स्वर्गीय रत्न बन गये। आपके इस असमय स्वर्गारोहणसे प्रतीत होता है कि आपको अपनी निर्मल कृतिका फल देखना अभीष्ट नहीं था। अन्यथा कुछ काल और ठहरकर आप अपने शिष्यवर्गका अनुभव करते हुए उनकी कार्य परिणतिसे निज कृतिकी सफलता पर प्रसन्न होते।

आपका प्रिय शिष्य

मक्खनलाल शास्त्री।



श्रीमान स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी बरैया।

अर्थ—महावीर स्वामीके सिवाय और भी जितने (वृषभादिक २३) तीर्थंकर हैं। तथा अनादि कालसे होनेवाले अनन्त सिद्ध हैं। उन सबको एक साथ में नमस्कार करता हूं। धर्माचार्य[1], उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त मुनीश्वरोंको भी मैं वन्दना करता हूं।

जिनशासनका माहात्म्य—

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जैन शासन (जैनमत) अनादि-अनन्त है। अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है। दोषोंसे सर्वथा मुक्त है। मार्गमें खोटे मत रूपी शत्रुओंको अग्निकी तरह जलानेवाला है, वह सदा जयशील बना रहे।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पञ्च परमेष्ठियोंकी वन्दना करनेवाला और मङ्गलरूप श्रेष्ठ क्रियाको करनेवाला यह *ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थको बनानेकी प्रतिज्ञा करता है।

ग्रन्थके बनानेमें हेतु—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥

अर्थ—ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है, तथापि उस कारणका भी कारण सब जीवोंका उपकार करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि है।

भावार्थ—जबतक ज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम न हो, तबतक अनेक कारण कलाप मिलनेपर भी ग्रन्थ निर्माणादि कार्य नहीं हो सके। इस लिये इस महान् कार्यमें अन्तरंग कारण तो कविवर (ग्रन्थकार) का विशेष क्षायोपशमिक भाव है परन्तु उस क्षयोपशम होनेमें भी कारण सब जीवोंके उपकार करनेके परिणाम हैं। बिना उपकारी परिणामोंके इस प्रकारकी परिणामोंमें निर्मलता ही नहीं आती।

---

१ आचार्यका मुनियोंके साथ धार्मिक सम्बन्ध ही होता है। परन्तु धर्माचार्यका गृहस्थोंके साथ धार्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकारका सम्बन्ध रहता है। इसीलिये आचार्यका धर्म विशेषण दिया है।

* आनुमानिक—श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द्र सूरि। ऐसा अनुमान क्यों किया जाता है? यह भूमिकासे स्पष्ट होगा।

कथनक्रम—

सर्वोपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्तया।
विज्ञप्ती तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीतिसे सुनना चाहता है। यह बात सर्व विदित है। इसके लिये हमारी यह (नीचे लिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी—

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्यायात्।
साध्यं वस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्मीका निरूपण होनेपर ही धर्मोंका विशेष विचार किया जा सका है। इसके सिवाय और कोई नीति नहीं हो सक्ती। इसलिये पहले सामान्य रूपसे ही वस्तुको सिद्ध करना चाहिये। उसके पीछे धर्मोंकी विशेषताके साथ सिद्ध करना चाहिये।

भावार्थ—अनेक धर्मोंके समूहका नाम ही धर्मी है। धर्म, गुण, ये दोनोंही एकार्थ हैं। जब किसी खास गुणका विवेचन किया जाता है तब वह विवेचनीय गुण तो धर्म कहलाता है और बाकी अनन्त गुणोंका समुदाय धर्मी (पिण्ड द्रव्य) कहलाता है। इसी प्रकार हरएक गुण चालनी न्यायसे धर्म कहलाता है, उसमें बाकीके सम्पूर्ण गुणोंका समूह, धर्मी कहलाता है। धर्मकी मीमांसा (विचार) तभी हो सक्ती है जब कि पहले धर्म समुदाय रूप धर्मीका बोध हो जाय। जिस प्रकार शरीरका परिज्ञान होनेपर ही शरीरके प्रत्येक अंगका वर्णन किया जा सका है। इसलिये यहां पर पहले धर्मोंका विचार न करके धर्मीका ही विचार किया जाता है। सामान्य विवेचनाके पीछे ही विशेष विवेचना की जा सक्ती है।

तत्त्वका स्वरूप—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पञ्च ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्व (वस्तु) सत् लक्षणवाला है। अथवा सत् स्वरूप ही है। और वह स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है। अपनी सहायतासे ही बनता और बिगड़ता है। और वह निर्विकल्प (वचनातीत) भी है।

भावार्थ—वस्तु सत् लक्षणवाला है, यह प्रमाण लक्षण है। *प्रमाणमें एक गुणके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण हैं। अस्तित्व गुणका नाम ही सत् है। सत् कहनेसे अस्तित्व गुणका ही ग्रहण होना चाहिये परन्तु यहांपर सत् कहनेसे सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। इसका कारण यही है कि अस्तित्व आदि सभी गुण अभिन्न हैं। अभिन्नताके कारण ही सत्के कहनेसे सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तुका

* एकगुणमुखेनाशेषवस्तुकथनं प्रमाणाधीनमिति वचनात्।

ग्रहण हो जाता है । इसीलिये वस्तुको सत् स्वरूप भी कह दिया है । सत् और गुण समुदाय रूप वस्तु, दोनों अभिन्न हैं । इस लिये सत् रूप ही वस्तु है ।

यहांपर द्रव्य लक्षणकी भेद विवक्षा रखकर ही वस्तुका सत्, लक्षण बतलाया है । अभेद विवक्षामें तो वस्तुको सत् स्वरूप ही बतलाया गया है ।

नैयायिक आदि कतिपय दर्शनवाले वस्तुको परसे सिद्ध मानते हैं । ईश्वरादिको उसका रचयिता बतलाते हैं, परन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है । वस्तु अपने आप ही सिद्ध है । इसका कोई बनानेवाला नहीं है । इसी लिये न इसकी आदि है और न इसका अन्त है । प्रत्येक वस्तुका परिणमन अवश्य होता है उस परिणमनमें वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणोंका पिण्डरूप वस्तु वचन वर्गणाके सर्वथा अगोचर है ।

ऐसा न माननेमें दोष—

इत्थं नोचेदसतः प्रादुर्भूति निरङ्कुशा भवति ।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं सतो विनाशो वा ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई रीतिसे वस्तुका स्वरूप न माना जावे तो अनेक दोष आते हैं । असत् पदार्थ भी होने लगेगा । जब वस्तुको सत् स्वरूप और स्वतःसिद्ध माना जाता है तब तो असत्की उत्पत्ति बन नहीं सकती है । परन्तु ऐसा न मानने पर यह दोष बिना किसी अंकुशके प्रबलतासे उपस्थित हो जायगा । इसी प्रकार वस्तुकी परसे उत्पत्ति होने लगेगी । वस्तुमें युतसिद्धता (अखण्डताका अभाव) भी होगी । और सत् पदार्थका विनाश भी होने लगेगा । इस तरह ऊपरकी चारों बातोंके न माननेमें ये चार दोष आते हैं ।

असत्पदार्थकी उत्पत्तिमें—

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥ १० ॥

अर्थ—यदि उन दोषोंको स्वीकार किया जाय तो और कौन २ दोष आते हैं, वही बतलाया जाता है । यदि असत्की उत्पत्ति मान ली जाय, अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूपमें भी नहीं है, और न उसके परमाणुओंकी सत्ता ही है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंकी कोई इयत्ता (मर्यादा) नहीं रह सकी है । जब बिना अपनी सत्ताके ही नवीन रूपसे उत्पत्ति होने लगेगी तो संसारमें अनन्तों द्रव्य होते चले जायगे। ऐसी अवस्थामें बिना मिट्टीके ही घड़ा बनने लगेगा, इसको कौन रोक सकेगा ।

भावार्थ—असत्की उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंमें कार्य-कारण भाव नहीं रहेगा । कार्य-कारण भावके उठ जानेसे कोई वस्तु कहींसे क्यों न उत्पन्न होजाय उसमें कोई बाधक नहीं हो सकता है । कार्य-कारण माननेपर यह दोष नहीं आता है । अपने कारणसे ही अपना कार्य

होता है, यह नियम वस्तुओंकी अवस्थामें बाधक हो जाता है । इस लिये असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति न मानकर वस्तुको सत्स्वरूप मानना ही ठीक हैं।

परसे सिद्ध माननेमें दोष—

परतः सिद्धत्वं स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोपि परः ॥११॥

अर्थ-वस्तुको परसे सिद्ध मानने पर अनवस्था नामक दोष आता है। यह दोष बड़ा दोष है । वह इस प्रकार आता है कि-वस्तु जब परसे सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थसे सिद्ध होगा । क्योंकि पर-सिद्ध माननेवालोंका यह सिद्धान्त है कि हर एक पदार्थ परसे ही उत्पन्न होता है ।

भावार्थ-अप्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी उत्तरोत्तर कल्पना करते चले जाना, इसीका नाम अनवस्था दोष है । यह दोष पदार्थ सिद्धिमें सर्वथा बाधक है । पदार्थोंको पर सिद्ध मानने पर यह बड़ा दोष उपस्थित हो जाता है । क्योंकि उससे वह, फिर उससे वह, इस प्रकार कितनी ही लम्बी कल्पना क्यों न की जाय, परन्तु कहीं पर भी जाकर विश्राम नहीं आता। जहां रुकेंगे वहीं पर [illegible] होगा कि यह कहांसे हुआ, । इसलिये वस्तुको पर सिद्ध न मानकर स्वतः सिद्ध मानना ही ठीक है ।

युतसिद्ध माननेमें दोष —

युतसिद्धत्वेऽप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदः कथं तयोर्भवति ॥१२॥

अर्थ-युतसिद्ध माननेसे गुण और गुणी (जिसमें गुण पाया जाय) दोनोंके ही भिन्न २ प्रदेश ठहरेंगे । उस अवस्थामें दोनों ही समान होंगे । फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है [illegible] गुण, गुणीका भिन्न २ लक्षण नहीं बन सकेगा ।

भावार्थ-[illegible] यदि वस्तु मानी जावे तब तो गुण, गुणीके भिन्न [illegible] होते हैं, और [illegible] ही [illegible] गुण, गुणीमें लक्षणभेद हो जाता है । [illegible] भिन्न [illegible] और गुणीके भिन्न माने जावें तब दोनों ही [illegible] अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा लक्षणभेद नहीं बन सकेगा। [illegible] दोनों ही गुण होंगे [illegible] युतसिद्ध मानना ठीक नहीं है।

[illegible]

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोऽपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथंचिद् द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयमानत्वात् ॥ १३ ॥

[illegible]

अर्थ—अथवा सत्का नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा बाधित है। क्योंकि द्रव्य कथञ्चित् नित्य है यह बात विशेष जानकारोंको प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत है।

भावार्थ—यदि द्रव्य कथञ्चित् नित्य न होवे तो प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सक्ता। जिस पुरुषको पहले कभी देखा हो, फिर दुबारा भी उसे देखा जाय तो ऐसी बुद्धि पैदा होती है कि "यह वही पुरुष है जिसे कि हम पहले देख चुके हैं।" यदि उस पुरुषमें कथञ्चित् नित्यता न होवे तो "यह वही पुरुष है" ऐसी स्थिर बुद्धि भी नहीं हो सक्ती। और ऐसी धारणारूप बुद्धि विद्वानोंको स्वयं प्रतीत होती है। इसलिये सर्वथा वस्तुका नाश मानना भी सर्वथा अनुचित है।

सारांश—

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा ।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इसलिये अनेक दूषणोंसे दूषित पक्षोंको जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुए लक्षणवाली निर्दोष वस्तुको स्वीकार करे। अर्थात् सत् स्वरूप, स्वत सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वरूप ही वस्तुको समझे।

सत्ता विचार—

किञ्चैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरंकुशा किन्तु ।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण बतलाया है वह सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु अपने प्रतिपक्ष (विरोधी) के कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है। सत्ताका जो प्रतिपक्ष है उसीके साथ सत्ताकी प्रतिपक्षता है दूसरे किसीके साथ नहीं।

भावार्थ—नैयायिक सिद्धान्त सत्ताको सर्वथा स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उसके कथनानुसार सत्ता यद्यपि वस्तुमें रहती है परन्तु वह वस्तुसे सर्वथा जुदी है, और वह नित्य है, व्यापक है, एक है। जैन सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह सत्ताको वस्तुसे अभिन्न मानता है, स्वतन्त्र पदार्थरूप सत्ताको नहीं मानता। यदि नैयायिक मतके अनुसार सत्ताको स्वतन्त्र पदार्थ माना जावे तो वस्तु अभावरूप ठहरेगी। यदि उसको नित्य माना जावे तो उसके साथ समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्धका नाम समवाय है) से रहनेवाली वस्तुका कभी भी नाश नहीं होना चाहिये। यदि उस सत्ताको व्यापक तथा एक माना जावे तो वह मध्यवर्ती अन्य पदार्थोंमें भी रह जायगी। दृष्टान्तके लिये गोत्व सत्ताको ले लीजिये जैसे—नैयायिक मतके अनुसार उत्तरकालवाली गौमें जो गोत्वधर्म है वही बम्बईवाली गौमें भी है।

जब दोनों जगह एक ही गोत्व धर्म है तब वह अखण्ड होना चाहिये, और अखण्ड होनेसे कलकत्ता और बम्बईके बीचमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबमें भी गोत्वधर्म रह जायगा। गोत्व धर्मके रहनेसे वे सभी पदार्थ गौ, कहलावेंगे। इन बातोंके सिवाय सत्ताको स्वतन्त्र माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। इस लिये सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है किन्तु वस्तुसे अभिन्न एक अस्तित्व नामक गुण है। जितने संसारमें पदार्थ हैं उन सबमें भिन्न २ सत्ता हैं, एक नहीं हैं। जब वस्तु परिणमनशील है तब उसके सत्ता गुणमें भी परिवर्तन होता है, इसलिये वह सत्ता कथंचित् अनित्य भी है, सर्वथा नित्य नहीं है। वस्तुके परिणमनकी अपेक्षासे ही उस सत्तामें प्रतिपक्षता आती है। पर्यायकी अपेक्षासे वह सत्ता अनेक रूप है। द्रव्यकी अपेक्षासे वह एक रूप भी हैं। इसी प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष पदार्थान्तर रूप परिणमनकी अपेक्षासे अभाव भी पड़ता है। और भी अनेक रीतिसे प्रतिपक्षता आती है जिसको ग्रन्थकार स्वयं आगे प्रगट करेंगे।

शङ्काकार

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरङ्कुशा भवतु।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥१६॥

अर्थ—यहां पर कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है। क्योंकि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है। परपक्षसे सर्वथा निरपेक्ष है। अर्थात् सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नहीं है।

उत्तर—

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥ १७॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सत्ताका कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है। दोनों ही नय पक्ष हैं, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वश परस्परमें विपक्षपनेको लिये हुए हैं।

भावार्थ—जिस समय द्रव्यके कहनेकी इच्छा होती है उस समय पर्यायको गौण दृष्टिसे देखा जाता है, और जिस समय पर्यायको कहनेकी इच्छा होती है उस समय द्रव्यको गौण दृष्टिसे देखा जाता है। द्रव्य और पर्यायमें परस्पर विपक्षता होनेसे सत्ताका सपक्ष और विपक्ष भी सिद्ध हो जाता है।

---

१ जिसका कुछ कथन दूसरे अध्यायमें किया गया है।
२ नैयायिक दर्शन

फिर शङ्काकार–

अथाप्याह कुदृष्टि र्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षति र्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ–यहां पर फिर मिथ्या दृष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होते हैं, तो होओ, हमारी कोई हानि नहीं है । सत्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि एक नयसे ही हो जायगी ।

भावार्थ–शङ्काकार कहता है कि यदि द्रव्यार्थिक नय अथवा पर्यायार्थिक नय इन दोनोंमेंसे किसी भी नयसे जैन सिद्धान्त सत्ताको स्वीकार करता है तो उसी नयसे हम सत्ताको स्वतंत्र मानेंगे जिस नयसे भी सत्ता मानी जायगी उसी नयसे सत्ताकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी । दूसरी नयको सत्ताका विपक्ष माननेकी क्या आवश्यकता है ?

शङ्काकारका आशय यही है कि किसी नय दृष्टिसे भी सत्ता क्यों न स्वीकार की जाय, उस दृष्टिसे वह स्वतन्त्र है, विपक्ष नय दृष्टिसे सत्ताका प्रतिपक्ष क्यों माना जाता है ?

उत्तर–

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

अर्थ–शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनों नयोंमेंसे किसी एक नयका लोप करने पर बाकीकी दूसरी नयका भी लोप हो जायगा । यह दोष उपस्थित होता है ।

भावार्थ–"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा परीक्षामुखका सूत्र है । वस्तु उभय धर्मात्मक ही प्रमाणका विषय है । यदि सामान्य विशेषकी अपेक्षा न करें तो सामान्य भी नहीं रह सकता, क्योंकि विना विशेषके सामान्य अपने स्वरूपका लाभ ही नहीं कर सकता । इसी प्रकार विशेष भी यदि सामान्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रहना चाहे तो वह भी नहीं रह सकता । यहां पर विशेष कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, और सामान्य कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है । यदि शङ्काकारके कथनानुसार जिस नयसे सत्ता मानते हैं उसी नयसे सत्ताको स्वतन्त्र मानने लगें और प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षासे असत्ताको स्वीकार न करें तो वस्तु एक नय रूप होगी । निरपेक्ष एक नयकी स्वीकारतामें वह नय भी नहीं रह सकेगी । क्योंकि वस्तु उभय नय रूप है । इसलिये एक नय दूसरे नयकी अवश्य अपेक्षा रखती है । इसी परस्परिक अपेक्षामें सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता पड़ती है ।

परस्परकी प्रतिपक्षता–

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नाना रूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥ २० ॥

अर्थ-जिस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार और भी है। नाना रूपता एक रूपताका प्रतिपक्ष है।

भावार्थ-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत्ताके दो भेद हैं। एक सामान्य सत्ता, और दूसरी सत्ता विशेष। सत्ता सामान्यका ही दूसरा नाम महासत्ता है, और सत्ता विशेषका दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है। महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है। परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नहीं है। इसी प्रकार अवान्तर सत्ता भी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है, किन्तु महासत्ताकी अपेक्षासे वह असत्ता है। हरएक पदार्थमें स्व स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे सत्ता और असत्ता रहती है। इसी लिये हरएक पदार्थ कथंचित् सत्रूप है, और कथंचित् असत् (अभाव) रूप है। सत्ता भी स्व-स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे सत्, असत् रूप उभय धर्म रखती है।

महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहती है इसलिये उसे नानारूपा (अनेकरूपा) कहा है। प्रतिनियत पदार्थोंके स्वरूप सत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ताको एकरूपा कहा है।

और भी-

एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम्।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥

अर्थ-एक पदार्थकी सत्ता, समस्त पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है।

भावार्थ-यद्यपि समस्त वस्तुओंमें भिन्न२ सत्ता है, तथापि वह सब वस्तुओंमें एक सरीखी है। इसलिये सामान्य दृष्टिसे सब पदार्थोंमें एक सत्ता कह दी जाती है। उसीको 'महासत्ता'* कहते हैं।

उस महा सत्ताका प्रतिपक्ष एक पदार्थमें रहनेवाली सत्ता है। उसीको अवान्तर सत्ता कहते हैं। इस अवान्तर सत्तासे ही प्रति नियत पदार्थोंकी भिन्न २ व्यवस्था होती है।

वस्तुमें उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही अवस्थायें प्रतिक्षण हुआ करती हैं। इन तीनों अवस्थाओंको धारण करनेवाली वस्तु ही सत् कहलाती है। इसलिये महासत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रयात्मक है। यद्यपि ये तीनों अवस्थायें एक समयमें होनेवाली त्रिलक्षणात्मक पर्याय हैं। तथापि ये तीनों एक रूप नहीं हैं। जिस स्वरूपसे वस्तुमें उत्पाद है, उससे ध्रौव्य विनाश नहीं है। और जिस स्वरूपसे विनाश है, उससे उत्पाद ध्रौव्य नहीं है। जिस स्वरूप

* यह महासत्ता केवल औपचारिक दृष्टिसे कही गई है। कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक दर्शनवाले सब पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताको एक स्वतन्त्र पदार्थ ही मानते हैं।

से उत्पाद विनाश नहीं है। इसलिये प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाली अवान्तर सत्ता नहीं है किन्तु एक एक लक्षण रूप है। इसी अपेक्षासे त्रिलक्षणात्मक महासत्ताका गाभाव अर्थात् एक एक लक्षण रूप अवान्तर सत्ता है। क्योंकि त्रिलक्षणका प्रत्येक ोधी है।

और भी—

कस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्यादनेकत्वम्।
ादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

—एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है। और अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है।
—महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक रूप बुद्धि पैदा करती है इसलिये वह एक परन्तु अवान्तर सत्तामें यह बात नहीं है, जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है, वह । इसलिये वह अनेक कहलाती है।[*]

प्रश्न—

कस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च।
दनिदानं किं तद्यनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

—वस्तु एक अखण्ड द्रव्य है। वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्प भी में भेदका क्या कारण है? जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसङ्गत हो।
—यहांपर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अखण्ड द्रव्य है, तब सामान्यका प्रतिपक्ष प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद व्यय ध्रौव्यका प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्यायका र्याय आदि जो बहुतसी बातें कही गई हैं, वे ऐसी हैं जो कि द्रव्यमें खण्डपनेको । इस लिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्यमें सामान्य, विशेष, एक, व्यय, ध्रौव्य आदि भेद सिद्ध हों?

उत्तर—

शविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये।
ष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवाङ्गुलिवितस्तिहस्तादिः ॥२४॥

रमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोऽप्यनन्ताश्च।
शा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥२५॥

---

[*] विषयमें स्वामी कुंदकुंद भी ऐसा ही कहते हैं—
सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया।
उप्पादवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा ॥ १ ॥
पञ्चास्तिकाय।

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥२६॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्य अखण्ड प्रदेश (देशांश) वाला है और बड़ा भी है। तथापि उसमें विस्तार क्रमसे अंशोंका विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाशमें विस्तार क्रमसे एक अंगुल, दो अंगुल, एक बिलस्त, एक हाथ आदि अंश-विभाग किया जाता है। जिसमें फिर दुबारा अंश न किया जासके उसे ही निरंश अंश कहते हैं। ऐसे निरंशरूप अंश एक द्रव्यमें-पहला; दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, संख्यात, अविभागी असंख्यात, अनन्त, तथा न, शब्दसे अनन्तानन्त तक होसक्ते हैं। जितने एक द्रव्यमें अंश हैं उतनी ही उस द्रव्यकी पर्यायें समझनी चाहिये। प्रत्येक अंशको ही द्रव्यपर्याय कहते हैं क्योंकि द्रव्यमें जो अंशोंकी कल्पना की जाती है, वही पर्यायोंका स्वरूप है। द्रव्यकी एक समय की पर्याय उस द्रव्यका एक अंश है। इस लिये उन सम्पूर्ण अंशोंका समूह ही द्रव्य है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि द्रव्यकी जितनी भी अनादि—अनन्त पर्यायें हैं, उन्हीं पर्यायोंका समूह द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें एक पर्याय होती है, और कुल समय अनादि अनन्त है, इस लिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अतः उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु-स्वरूप सर्वथा निर्दोष है, और सभी सुव्यवस्थित है। यही वस्तुका स्वरूप प्रमाणसे भली भांति सिद्ध है।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनन्त गुणोंकी अखण्ड पिण्डरूप अखण्ड प्रदेशी है तथापि उसमें अंशोंकी कल्पना की जाती है। वह अंश कल्पना दो प्रकार होती है—एक तिर्यक् अंश कल्पना, दूसरी ऊर्ध्वांश कल्पना। एक समय वर्ती आकारको अविभागी अनेक अंशोंमें विभाजित करनेको तिर्यग् अंश कल्पना कहते हैं। इन प्रत्येक अविभागी अंशोंको द्रव्य पर्याय कहते हैं। द्रव्यका एक समयमें एक आकार है। दूसरे समयमें दूसरा आकार है। तीसरे समयमें तीसरा आकार है। इसी प्रकार अनन्त समयोंमें अनन्त आकार हैं इस प्रकार कालक्रमसे द्रव्यके आकारके अनन्त भेद हैं। इसीका नाम ऊर्ध्वांश कल्पना है। और इन अनन्त समयवर्ती अनन्त आकारोंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। द्रव्यमें उपर्युक्त रीतिसे अंश कल्पना प्रदेशत्व गुणके निमित्तसे होती है। अर्थात् प्रदेशत्व गुणके निमित्तसे द्रव्यमें आकार होता है। उसी आकारमें दो प्रकारसे कल्पना की जाती है। जिस प्रकार द्रव्यमें अंश कल्पना की जाती है उसी प्रकार गुणोंमें भी की जाती है। गुणकी एक समयमें एक अवस्था है। दूसरे समयमें दूसरी अवस्था है तीसरे समयमें तीसरी अवस्था है। इसी प्रकार कालक्रमसे एक गुणकी अनन्त समयोंमें अनन्त अवस्थायें हैं इसीका नाम गुणमें ऊर्ध्वांश कल्पना है। इन अनन्त समयवर्ती अनन्त अवस्थाओंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक अवस्थाको अर्थपर्याय कहते हैं। एक गुणकी एक समयमें

ता है, उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदरूप अंश कल्पनाको गुणमें निरंश कल्पना
है । और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोंको गुणपर्याय कहते हैं । गुणोंमें जो अंश
ा की जाती है यह विष्कंभ क्रमसे नहीं होती क्योंकि देशका देशांश केवल एक
व्यापी है किन्तु गुणका एक गुणांश एक समयमें उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापकर
है इस लिये गुणमें अंश कल्पना काल क्रमसे तरतम रूपसे की जाती है । प्रत्येक समयमें
वस्था किसी गुणकी है उसकी अवस्थाको गुणांश कहते हैं । एक गुणमें अनन्त
त कल्पित किये जाते हैं । इन्हीं कल्पित गुणांशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं ।
तरूप अविभाग प्रतिच्छेदोंका खुलासा इस प्रकार है । जैसे-बकरीके दूधमें चिकणता कम
उसमें अधिक क्रमसे गाय, भैंस, ऊंटनी, भेड़के दूधमें उत्तरोत्तर बढ़ी हुई चिकणता है ।
गुणके किसीमें कम अंश हैं, किसीमें अधिक अंश हैं । ऐसे २ अंश प्रत्येक गुणमें
ा हो सक्ते हैं । दूसरा दृष्टान्त ज्ञान गुणका है-सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवमें
के अनन्तवें भाग व्यक्त ज्ञान है । उस ज्ञानमें भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद
घन्य ज्ञानसे बढ़ा हुआ क्रमसे निगोदियाओंमें ही अधिक २ है । उनसे अधिक २
य, त्रीन्द्रिय आदि जीवोंमें है । पंचेन्द्रिय-असंज्ञीसे संज्ञीमें अधिक है ।
ोंमें किसीमें ज्यादा किसीमें कम स्पष्ट ही जाना जाता है । अथवा एक ही
ामें निगोदियाकी अवस्थासे लेकर ऊपर क्रम २ से केवलज्ञानतक एक ही ज्ञान
ी अनन्त अवस्थायें हो जाती हैं । ये सब अवस्थायें (भेद) ज्ञान गुणके अंश हैं ।
अंशोंको लेकर कल्पना की जा सक्ती है कि अमुक पुरुषमें इतना अधिक ज्ञान है, अमुकमें
कम है । किसी गुणके सबसे जघन्य भेदको अंश कहते हैं । ऐसे २ समान अंश प्रत्येक
अनन्त होते हैं । तभी यह स्थूलतासे व्यवहार होता है कि इतने अंश ज्ञानके अमुकसे
में अधिक हैं । इसी प्रकार रूपमें व्यवहार होता है कि अमुक कपड़ेपर गहरा रंग है ।
पर फीका रंग है । गहरापन और फीकापन रूप गुणके ही अंशोंकी न्यूनता और अधि-
क निमित्तसे कहलाता है । इसी विषयको हम रुपयेके दृष्टान्तसे और भी स्पष्ट कर देते हैं-
रुपयेके चौंसठ पैसे होते हैं । अर्थात् ६४ पैसे और एक रुपया दोनों बराबर हैं । इसीको
शब्दोंमें कहना चाहिये कि एक रुपयेके ६४ भेद या अंश होते हैं । साथमें यह भी कल्पना
ेना उचित है कि सबसे छोटा भेद (अंश) एक पैसा है । कल्पना करनेके बाद कहा जा
है कि अमुक व्यक्तिके पास इतने पैसे अधिक हैं । अमुकके पास उससे इतने पैसे कम हैं ।
किसीके पास १० आना हों, और किसीके पास ६ आना हों तो जाना जा सक्ता है कि
ानावालेसे १० आनावालेके पास १६ अंश अधिक धन है इस दृष्टान्तसे इतना ही अभिप्राय है
घन्य अंशरूप अविभाग प्रतिच्छेदका बोध हो जाय । वास्तवमें अलग २ टुकड़े किसी गुणके नहीं

हो जाते; और न अंशोंका नाश और उत्पत्ति ही होती है । किन्तु व्यक्तता और अव्यक्तता
अपेक्षासे जो तरतम भेद होता है उसीके जाननेके लिये केवल अंशोंकी कल्पना की जाती है । यह
अंश कल्पना सर्वज्ञज्ञानगम्य है । द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी यही बात समझ लेनी चाहिये कि
प्रत्येक गुणके जितने अंश है उतनी ही उस गुणकी पर्यायें हो सक्ती हैं । दूसरे शब्दों
यह कहना चाहिये कि उन त्रिकालवर्ती पर्यायोंका समूह ही गुण कहलाता है ।

द्रव्य चार विभागोंमें बँटा हुआ है, यह बात भी उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो जाती है ।
वे चार विभाग इस प्रकार हैं–देश, देशांश, गुण, गुणांश । अनन्त गुणोंके अख
पिन्ड (द्रव्य)को देश कहते हैं । उस अखण्ड पिण्ड रूप देशके प्रदेशोंकी
कोसामे जो अंश कल्पना की जाती है, उसको देशांश कहते हैं । द्रव्यमें रहनेवाले
गुणोंको गुण कहते हैं । और उन गुणोंके अंशोंको गुणांश कहते हैं । बस प्रत्येक द्रव्यका स
रूप इन्हीं चार बातोंमें पर्याप्त है । इन चार बातोंको छोड़कर द्रव्य और कोई चीज नहीं है ।
ये चारों बातें प्रत्येक वस्तुमें अन्तर हैं । दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन्हीं चा
बातोंसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न निश्चित किया जाता है । इन्हीं चारोंको स्वचतुष्टय कह
हैं । स्वद्रव्य स्वक्षेत्र है, चतुष्टय नाम चारका है, अर्थात् हर एक वस्तुकी अपनी २ च
चार बातें भिन्न भिन्न हैं । स्वचतुष्टयसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ग्रहण होता है । ह
एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न २ हैं । अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड रूप जो दे
है उसीको द्रव्य कहते हैं । उस देशके जो प्रदेशोंकी अपेक्षासे भेद हैं उसीको स्वक्षेत्र कहते
अर्थात् वस्तुका वही क्षेत्र है जितने प्रदेशोंमें वह विभक्त है । वस्तुमें रहनेवाले गुणोंको
भाव कहते हैं और उन गुणोंकी काल क्रमसे होनेवाली पर्यायको ही अर्थात् गुणोंके अंशो
हीं स्वकाल कहते हैं । इसलिये देश, देशांश, गुण, गुणांशका दूसरा नाम ही वस्तुका द्रव्य
क्षेत्र, काल, भाव है । खुलासा इस प्रकार है–वस्तुका स्व द्रव्य, उसके अनन्त गुणसमुदाय
पिण्डको छोड़कर और कोई नहीं है । वस्तुका क्षेत्र भी उसके प्रदेश ही हैं, न कि वह आ
काश है । जहां वह वस्तु रक्खी है वह स्वक्षेत्र नहीं है किन्तु परक्षेत्र है । इसी प्रकार स्वका
भी उस वस्तुकी काल क्रमसे होनेवाली पर्याय (गुणांश) है, न कि जिस कालमें वह प
रिणमन करती है वह काल, वह काल तो पर द्रव्य है । और स्वभाव उस वस्तुके गुण ही हैं

दृष्टान्तके लिये सोंठ, मिरच, पीपल आदि एक रस औषधियोंका चूर्ण पर्याप्त
कह २ [illegible] एक साथ औषधियोंको लेकर उन्हें कूट पीसकर नीबूके रसके साथ घोंटकर सम
[illegible] करें । उस गोलेमेंसे एक २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना डालें ।
इसलिये [illegible] ठीक [illegible] । एक जाति समान २ औषधियोंका जो गोला
[illegible] चाहिये । उस गोलेकी जो एक २ रत्ती प्रमा

गोलियाँ हैं उन्हें स्वक्षेत्र अर्थात् देशांशके स्थानमें समझना चाहिये । क्योंकि वह गोला रूप समस्त चूर्ण उन्हीं गोलियोंमें पर्याप्त है । उन *गोलियोंमें जो एक लक्ष औषधियां हैं उन्हें स्वभाव अर्थात् गुणके स्थानमें समझना चाहिये । और उन गोलियोंमें जो कालक्रमसे भिन्न २ स्वाद भेद है उसे स्वकाल अर्थात् गुणांशके स्थानमें समझना चाहिये । प्रत्येक द्रव्यका स्वचतुष्टय भिन्न २ है । इस स्वचतुष्टयमें ही प्रत्येक द्रव्य पर्याप्त है ।

शंकाकार–

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥ २७ ॥

अर्थ–ऊपर कही हुई व्यवस्थाका तो प्रत्यक्ष नहीं है; केवल एक द्रव्य ही भली भांति दीख रहा है, इस अवस्थामें कौनसा दोष आता है कि जिसके डरसे उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक मानी जावे।

भावार्थ–शंकाकारका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्यको ही मान लिया जावे जो कि स्थूलतासे दीख रहा है, उस द्रव्यमें देश, देशांश, गुण, गुणांश (स्वचतुष्टय) माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर–

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।
देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अर्थ–यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्यकी सत्ताका ही निश्चय नहीं हो सकेगा । और देशांशोंके न माननेपर सर्व द्रव्य एक देशमात्र हो जायगा ।

भावार्थ–अनन्त गुणोंका अखण्डपिण्ड स्वरूप देशके माननेसे ही द्रव्यकी सत्ता प्रतीत होती है । यदि पिण्डरूप देश न माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं ठहरती। इसी प्रकार देशांशके माननेसे द्रव्यकी इयत्ता (परिमाण)का ज्ञान होता है। जितने जिस द्रव्यके अंश होते हैं वह द्रव्य उतना ही बड़ा समझा जाता है । यदि देशके अंशों (विस्तार क्रमसे) की कल्पना न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे । अंशविभाग न होनेसे सबहीका एक ही अंश समझा जायगा ।

* जो क्षेत्र एक औषधिका है, वही क्षेत्र लक्ष औषधियोंका है । जितनी भी गोलियां बनाई गई हैं सभीमें लक्ष औषधियां हैं । उसी प्रकार एक गुण जितने देशमें है दूसरा भी उतने ही देशमें है । इसलिये सभी गुणोंका एक ही देश है । अर्थात् विष्कंभ क्रमसे होनेवाले वस्तुके प्रत्येक प्रदेशमें अनन्त गुण रहते हैं ।

वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष—

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयस्तस्य साधकाभावात् ।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥ २९ ॥

अर्थ–वस्तुको असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नहीं है । क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है कि वस्तुको अभाव रूप माननेसे वह किसी कार्यको सिद्ध न कर सकेगी । इस प्रकार वस्तुमें अंश भेद न माननेसे आकाशकी महानताका ज्ञान नहीं हो सकेगा ।

भावार्थ–पहले तो पदार्थको अभावात्मक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है । दूसरे जो अभाव रूप है वह कोई पदार्थ ही नहीं हो सक्ता । जो अपनी सत्ता ही नहीं रखता वह किसी कार्यमें किस प्रकार साधक हो सक्ता है । इसी प्रकार वस्तुमें जब अंशोंकी कल्पना की जाती है तब तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस वस्तुके जितने अधिक अंश हैं वह उतनी ही बड़ी है । जिसके जितने कम अंश हैं वह उतनी ही छोटी है । आकाशके सब वस्तुओंसे अधिक अंश हैं, इस लिये वह सबोंसे महान् ठहरता है । यदि देशांशोंकी कल्पना उठा दिया जाय तो छोटे बड़ेका भेद भी उठ जायगा ।

अंशकल्पनासे लाभ—

किंचांशकल्पनमपि फलवत्स्यादन्यतोनुमीयेत ।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्वममहत्वम् ॥ ३० ॥

अर्थ–अंश कल्पनासे एक तो छोटे बड़ेका भेद ज्ञान ऊपर बतलाया गया है । दूसरा अंश कल्पनासे यह भी फल होता है कि उससे द्रव्योंमें कायत्व और अकायत्वका अनुमान करलिया जाता है इसी प्रकार छोटे और बड़ेका भी अनुमान कर लिया जाता है ।

भावार्थ–जिन द्रव्योंमें बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय समझे जाते हैं, और जिनके केवल एक ही प्रदेश होता है वह अस्तिकाय नहीं समझा जाता । बहुप्रदेश और एक प्रदेश [illegible] हो सक्ता है जब कि उन द्रव्योंके प्रदेशों (अंशों)की जुदी जुदी कल्पना कि जाय । [illegible] कल्पना किये प्रदेशोंकी न्यूनाधिकताका बोध भी नहीं हो सक्ता है । और [illegible] [illegible] हुए, द्रव्योंमें कौन द्रव्य छोटा है, और कौन बड़ा है यह परिज्ञान भी [illegible] । [illegible] अंशों की कल्पना करना सार्थक है ।

[illegible]—

[illegible] सान्तो निरंशदेशांशाः
[illegible] सन्तु सावन्ति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[illegible] है कि वह [illegible], क्योंकि [illegible]

निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सके) अंशोंकी कल्पना करते हो, वह करो। परन्तु जितने भी निरंश-देशांश हैं उन्हींको एक एक द्रव्य समझो। जिस प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्यमें जितने निरंश-देशांशोंकी कल्पना की जाती है, उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो। द्रव्यका लक्षण उन प्रत्येक अंशोंमें जाता ही है।

भावार्थ—गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। वह द्रव्यका लक्षण द्रव्यके प्रत्येक देशांशमें मौजूद है, इसलिये जितने भी देशांश है उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः ।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एक देश वस्तु माननेसे और अखंडस्वरूप अनेक देश वस्तु माननेसे परिणमनमें बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—यदि शंकाकारके कहनेके अनुसार देशांशोंको ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देशमात्र खण्ड खण्ड रूप होगा, अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा, खण्डरूप एक प्रदेशी माननेमें क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है—

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अर्थ—पहला पक्ष स्वीकार करनेसे अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य माननेसे जो गुणोंका परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तुमें न होकर उसके एक ही देशांशमें होगा। क्योंकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तुको समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा।

एकदेश परिणमन माननेमें प्रत्यक्ष बाधा—

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ—गुणोंका परिणमन एक देशमें होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सका। इन्द्रियजन्य ज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं।

भावार्थ—शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसीलिये शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च होते हैं अथवा शरीरके एक देशमें चोट लगनेसे सम्पूर्ण शरीरमें वेदना होती है। यदि शंकाकारके कथनानुसार आत्माका एक २ अंश (प्रदेश) ही एक एक आत्म

द्रव्य समझा जाय तो एक देशमें चोट लगनेसे सब शरीरमें पीड़ा नहीं होनी चाहिये, जि देशमें कष्ट पहुंचा है उसी देशमें पीडा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें एक आत्मा होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें ही वेदना होती है इसलिये खण्ड एक देश स्वरूप वस्तु नहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

अखण्ड-अनेकप्रदेशी द्रव्यमें दृष्टान्त-

प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप द्रव्य मा[illegible] पर जो परिणमन होगा वह सर्व देशमें (सम्पूर्ण वस्तुमें) होगा। जिस प्रकार एक बेंतको [illegible] हिलानेसे सारा बेंत हिल जाता है।

भावार्थ—बेंतका दृष्टान्त मोटा है। इसलिये स्थूल अंश (एक देश) लेना चाहि[illegible] [illegible] परमाणुओंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे वह एक ही द्रव्य समझा[illegible] है। [illegible] उसका दृष्टान्त दिया गया है। बेंत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिये [illegible] हिलानेसे उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते हैं। यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी [illegible] उसके एक २ प्रदेशको जुदा जुदा द्रव्य समझा जाये तो जिस देशमें बेंतको हि[illegible] [illegible] उसी देशमें उसको हिलना चाहिये, सब देशमें नहीं परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित [illegible] वस्तु अनेक देशोंका अखण्ड पिण्ड है।

एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है—

एकप्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा ।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है अर्थात् अ[illegible] [illegible] कोई द्रव्य है, जैसे [illegible] शुद्ध परमाणु और कालाणु। ये भी स्वतः सि[illegible] [illegible] है।

[illegible]—

न स्याद्द्रव्यं क्वचिदपि बहुप्रदेशेषु खण्डितो देशः ।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—[illegible] द्रव्य कोई नहीं है कि बहु प्रदेशी होकर खण्ड-एक देश रूप हो [illegible] इसलिये बहु प्रदेशवाला द्रव्य अखण्डरूप है।

द्रव्य और गुण—

**अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिता
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः**

अर्थ—ऊपर जिन देशांशों (प्रदेशों) का वर्णन किया गया है । वे
सहित हैं । गुण सहित उन्हीं देशांशोंकी द्रव्य संज्ञा है । उन देशांशोंमें रहनेवाले
हैं उन्हींकी गुण संज्ञा है ।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है इसलिये जितने भी द्रव्यके प्रदे
नंत गुणोंका अंश है उन गुणों सहित जो प्रदेश हैं उन्हींकी मिलकर द्रव्य संज्ञा है,
गुण संज्ञा है ।

गुण, गुणीसे जुदा नहीं है—

**तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥**

अर्थ—उन गुणोंका समूह ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है । वे गुण देशसे भिन्न
नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देशमें गुण (विशेष) रहते हैं
उन विशेषों (गुणों) के मेलसे ही वह देश कहलाता है ।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले गुणोंकी सत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्यकी सत्ता
मानते हैं, द्रव्यको गुणोंका आधार बतलाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता कि
उन गुणोंके समूहको ही देश मानता है और उन गुणोंकी द्रव्यसे भिन्न सत्ता भी नहीं स्वी
करता है । ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूपसे द्रव्यमें रहते हैं
किन्तु उन गुणोंके समुदायमें ही वह पिण्ड द्रव्य संज्ञा पाता है ।

दृष्टान्त—

**अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः ।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥**

अर्थ—गुण और गुणीमें अभेद है, इसी विषय में तन्तु (डोरे) का दृष्टान्त है ।
गुण आदिका शरीर ही तन्तु है । शुक्लादि गुणोंको छोड़कर और कोई वस्तु तंतु नहीं
और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि तन्तुमें शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि
एकत्रित होनेसे ही तन्तु बना है ।

भावार्थ—शुक्ल आदि गुणोंका समूह ही डोरा कहलाता है । जिस प्रकार डोरा और
अभिन्न है उसी प्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं । जिस प्रकार डोरा, सफेदी
पृथक् वस्तु नहीं है उसी प्रकार द्रव्य भी गुणोंसे पृथक् चीज नहीं है ।

आशङ्का—

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि देशको भिन्न समझा जाय और देशके आश्रित रहनेवाले विशेषोंको भि[illegible] समझा जाय, तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने लगे। जिस प्रकार पुरुष भिन्न है, द[illegible] (डंडा) भिन्न है, दोनोंके संयोगसे दण्डी कहलाने लगता है तो

उत्तर—

नैवं हि सर्वसङ्कर दोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है। देशको भिन्न और गुणोंको देशाश्रित भिन्न स्वीकार करनेमें सर्व संकर दोष आवेगा। यह बात सुघटित दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणोंको भिन्न माननेमें क्या चेतना गुणके सम्बन्धसे अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नहीं हो जायगा!

भावार्थ—जब गुणोंको द्रव्यसे पृथक् स्वीकार किया जायगा, तो ऐसी अवस्थामें [illegible] स्वतन्त्र होकर कभी किसीसे और कभी किसीसे संबंधित हो सके हैं। चेतना गुणको [illegible] गुण न मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह जिस प्रकार जीवमें रहता है [illegible] प्रकार कभी अजीव जड़ पदार्थमें भी रह जायगा। उस अवस्थामें अजीव भी जीव [illegible] सकेगा। फिर पदार्थोंका नियम ही नहीं रह सकेगा, कोई पदार्थ किसी का हो [illegible], इसलिये द्रव्यसे गुणको भिन्न सत्तावाला मानना सर्वथा मिथ्या है।

अथवा—

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तरेण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते न कथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि विना गुणोंके द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता ही न[illegible] [illegible] विना प्रदेशोंके गुण भी नहीं जाने जा सके।

भावार्थ—[illegible] ही [illegible] हैं। विना [illegible] नहीं रह सकता, [illegible] [illegible] नहीं रह सकता—दोनोंके विना एक भी नहीं रह सकता, [illegible] [illegible] कि दोनों एक ही बात है।

[illegible], गुणोंको भिन्न माननेमें दोष—

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेऽपि ।
[illegible]गुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—[illegible] भिन्न [illegible] गुण और गुणी भिन्न भिन्न [illegible]

माने जावें, तो ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सत्ता समान होगी । सत्ताकी समान
है और यह गुणी है,' यह कैसे जाना जा सक्ता है ?

भावार्थ—जब गुण समुदायको द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदायको
समुदायीको गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणीको भिन्न माननेपर दोनों ही
उस समानतामें किसको गुण कहा जाय और किसको गुणी कहा जाय ? गुण गु
ही नहीं प्रतीत होगा ।

सारांश—

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥ ४

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश विशेष ही गुण कहलाते हैं
गुण नहीं रहते हैं । वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं परन्तु सर्वथा विनाशी नहीं है

प्रश्न—

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्विति चेत् ॥ ४६

अर्थ—गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोनों ही भिन्न सत्तावाले नहीं
होंपर अभिन्न सत्ता रूप हेतुसे गुण, गुणीमें एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी
रण कि अखण्ड पिण्ड होनेपर भी द्रव्यमें द्वैतभावसा प्रतीत होता है ।

उत्तर—

यत्किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण स्वरूप) में स्थित है और
वह स्वभाव भी नियमसे उस स्वभावी (वस्तु) से अविनाभावी अभिन्न है परन्तु विवक्षा
भिन्न समझा जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि स्वभाव, स्वभावी, दोनों ही अभिन्न हैं तथापि अपेक्षा वशसे स्वभाव
और स्वभावीमें भेद समझा जाता है, वास्तवमें भेद नहीं है ।

गुणके पर्यायवाची शब्द—

शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति ये सब
शब्द एक अर्थके वाचक हैं । सभी नाम गुणके हैं ।

है। गुण इस प्रकारका नहीं है और न उसके छेद ही ऐसे होते हैं किन्तु तरतम रूप होते हैं।

भावार्थ—देशके छेद तो भिन्न २ प्रदेश स्वरूप होते हैं परन्तु गुणके छेद सर्व प्रदेशों में व्यापक रहते हैं। वे हीनाधिक रूपसे होते हैं।

गुणोंका छेदक्रम—

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ॥ ५७ ॥
एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेत्तुमशक्यो यः कोपि निरंशको गुणांशः स्यात् ॥५[illegible]
तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः॥५[illegible]

अर्थ—गुणोंके अंशोंके छेद करनेमें क्रम कथनका उपदेश बतलाते हैं कि गुण स्वभाव से ही [illegible] है अर्थात् द्रव्य अनन्तगुणात्मक पिण्डके साथ बराबर चला जाता है [illegible] अनादि-अनन्त है, गुण भी अनादि-अनन्त हैं। द्रव्यके साथ गुणका प्रवाह [illegible] है। वह गुण उसके अर्धच्छेदोंसे छिन्न भिन्न करने योग्य है अर्थात् उस [illegible] छेद करना चाहिये, इसी प्रकार बार बार उसके अर्धच्छेद करना चाहिये, तब [illegible] कोई भी गुणका अंश फिर न छेदा जा सके, और वह निरंश [illegible]। उस [illegible] किये हुए गुणोंके अंशोंका जोड़ अनन्त होता है। उन्हीं अंशोंका [illegible] है। गुणोंके अंश, गुणसे भिन्न सत्ता नहीं रखते हैं किन्तु उन अंशोंका [illegible] ही वह [illegible] गुण कहलाता है।

पर्यायके पर्यायवाचक शब्द—

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥ ६० ॥

अर्थ—अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद, भंग, ये सब शब्द [illegible] हैं। [illegible]

गुणांश ही गुणपर्याय है—

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नामानि ।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥ ६१ ॥

अर्थ—[illegible] हैं वे ही गुणपर्याय कहलाते हैं। यह बात अविरुद्ध है [illegible] है।

गुण-पर्यायका नामान्तर—

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥ ६२ ॥

अर्थ—कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायोंका दूसरा नाम भी कहते हैं। गुण और अर्थ, ये दोनों ही एक अर्थवाले हैं इसलिये गुण पर्यायको अर्थपर्याय भी कह देते हैं।

द्रव्य-पर्यायका नामान्तर—

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि ।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—देशांशोंके द्वारा जिन द्रव्यपर्यायोंका ऊपर निरूपण किया जा चुका है, उन द्रव्यपर्यायोंको कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जनपर्याय, इस नामसे पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रदेशत्व गुणका परिणमन सम्पूर्ण द्रव्यमें होता है, इसलिये उस गुणके * परिणमनको द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।

शङ्काकार—

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात् ।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—ऊपर जितना भी कहा गया है, सभी पिष्ट पेषण है अर्थात् पीसे हुएको पीसा गया है। एकके कहनेसे ही काम चल जाता है, या तो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये। द्रव्य और पर्यायको जुदा २ कहना निष्फल है।

उत्तर—

तन्नैयं फलवत्त्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्वात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का की गई है वह ठीक नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनोंका ही निरूपण आवश्यक है। द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है। पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है। इस बातकी प्रतीति दोनोंके कथनसे ही होती है।

भावार्थ—यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंका निरूपण न किया जाय तो वस्तुमें कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यताकी सिद्धि न हो सकेगी इसलिये दोनोंका ही निरूपण निष्फल नहीं, किन्तु सफल है।

---

* प्रदेशवत्त्व गुणके परिणमनको यदि गुणकी दृष्टिसे कहा जाय तो उसे गुणपर्याय भी कह सकते हैं।

नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त—

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ९३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणोंका समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओंको प्रति क्षण बदलता रहता है। अवस्थाओंके बदलने पर भी शुक्लादिगुणोंका नाश कभी नहीं होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है। साथ ही शुक्लादिगुणोंके तरतम रूप अंशोंकी अपेक्षासे अनित्य भी है। क्योंकि एक अंश (पर्याय) दूसरे अंशसे भिन्न है।

भावार्थ—वस्त्र, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्य दृष्टिसे नित्य है।

दूसरा जीवका दृष्टान्त—

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥ ९७ ॥

अर्थ—आत्मामें ज्ञान गुण सदा रहता है। यदि ज्ञान गुणका आत्मामें अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय। इसलिये उस गुणकी अपेक्षासे तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुणके निमित्तसे आत्माका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुणके अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं, उस ज्ञानमें सदा हीनाधिकता (संसारावस्थामें) होती रहती है, इस हीनाधिकताके कारण आत्मा कथंचित् अनित्य भी है।*

आशंका—

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम्।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत् क्षणिकम्।
अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥९९॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई द्रव्य, गुण, पर्यायकी व्यवस्था न मानी जाय, और गुणांशकी तरह निरंश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरंश द्रव्यको परिणामी न मानकर कूटस्थ (लोहेका पीटनेका एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारोंके यहां गढ़ा रहता है) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्यको सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्यके अनन्त निरंश अंश मानकर उन अंशोंका समान रूपसे परिणमन माना जाय, तरतम रूपसे न माना जाय तब क्या दोष होगा?

* पदार्थोंकी अवस्थाभेदके निमित्तसे मुक्त जीवोंके ज्ञानमें भी परिणमन होता है इसलिये मुक्तात्माओंमें भी कथंचित् अनित्यता सिद्ध होती है।

उक्तं--

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोऽप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चारों ही विकल्प दोष सहित हैं, चारों ही विकल्पोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधा आती है। तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धिमें कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—यदि द्रव्यको गुणांशकी तरह माना जाय तो गुणोंका परिणमन एक देशमें ही होगा। अथवा किसी भी गुणका कार्य सम्पूर्ण वस्तुमें नहीं हो सकेगा। यदि उस द्रव्यको नित्य माना जाय तो उसमें कोई क्रिया नहीं हो सकती है। क्रियाके अभावमें पुण्यफल, पापफल, बन्ध मोक्षादि व्यवस्था कुछ भी नहीं ठहर सकती है। इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमें प्रत्यभिज्ञान (यह वही है जिसको पहिले देखा था आदि ज्ञान) नहीं हो सकता, कार्यकारण भाव भी नहीं हो सकता, हेतु-फल भाव भी नहीं हो सकता, और परस्पर व्यवहार भी नहीं हो सकता। *

यदि निरंश अंश मानकर उनका समान परिणमन माना जाय, तरतमरूपसे न माना जाय तो द्रव्य सदा एकसा रहेगा, उसमें अवस्था भेद नहीं हो सकेगा। इसलिये उपर्युक्त चारों ही विकल्प मिथ्या हैं, उनमें अनेक बाधायें आती हैं। अब प्रसंग पाकर यहां द्रव्यका स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य-लक्षण-उपक्रम—

द्रव्यत्वं किन्नाम पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ—किसीने आचार्यसे पूछा कि महाराज! द्रव्य क्या पदार्थ है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यका प्रमाण और सुनयोंद्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे।

---

* यदि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो निम्न लिखित कारिकाओंके प्रकरणमें अष्टसहस्रीको देखना चाहिये।

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ १ ॥
क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभः कुतः फलम् ॥ २ ॥

"द्रव्यके स्थानमें दद होना और 'पृष्टश्चेतीह'के स्थानमें पृष्टश्चेतीव होना चिंत्य

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम्।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसमें गुण पर्याय पाये जांय, वह द्रव्य है। यह द्रव्यका लक्षण अच्छी तर सिद्ध है। इस लक्षणमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है। "गुण पर्याय जिसमें पाये जा वह द्रव्य है" इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायोंका समुदाय ही द्रव्य है

भावार्थ—"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस वाक्यमें वतुप् प्रत्यय है। उसका ऐसा अ निकलता है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है। इस कथनसे कोई यह न समझ लेवें कि गु पर्याय कोई दूसरे पदार्थ हैं जो कि द्रव्यमें रहते हैं और उन दोनोंका आधार भूत द्र कोई दूसरा पदार्थ है। इस अनर्थ अर्थके समझनेकी आशंकासे आचार्य नीचेके चरणसे स्व उस वाक्यका स्पष्ट अर्थ करते हैं कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है अथवा गुणपर्याय जिसमें पा जायं वह द्रव्य है। इन दोनोंका यही अर्थ है कि गुण पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है। यह ब पहले ही कही जा चुकी है कि अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है, और वे गुण प्रति क्षण अपनी अवस्थाओंको बदलते रहते हैं इसलिये त्रिकालवर्ती पर्यायोंको लिये हुए जो गुणों अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है। गुण, पर्यायसे पृथक् कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है। इसी बात स्पष्ट करते हुए किन्हीं आचार्योंका कथन प्रगट करते है।

द्रव्यका लक्षण—

गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ ७३ ॥

अर्थ—कोई २ बुद्धिधारी "गुण समुदाय ही द्रव्य है" ऐसा भी द्रव्यका ल करते हैं। कोई विशेष अनुभवी वृद्ध पुरुष समान रीति (भाग १) से होनेवाली गुणों पर्यायोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाते हैं।

भावार्थ—पहले श्लोकमें गुण और पर्याय दोनोंको ही द्रव्यका लक्षण बतलाया गया था, परन्तु यहांपर पर्यायोंको गुणोंसे पृथक् पदार्थ न समझकर गुण समुदायको ही द्रव्य कहा गया है। वास्तवमें गुणोंकी अवस्थाविशेष ही पर्यायें हैं। गुणोंसे सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये गुण, पर्यायमें अभेद बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया है। जब गुणोंसे पर्याय भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु उन गुणोंकी ही अवस्था विशेष है तब यह बात भी सिद्ध हुई समझना चाहिये कि उन अवस्थाओंका समूह ही गुण है। त्रिकालवर्ती अवस्थाओंके समूहको छोड़कर गुण और कोई पदार्थ नहीं है। यह बात पहले भी स्पष्ट रीतिसे कही जा चुकी है कि गुणोंके अंशोंका नाम ही पर्याय है और उन अंशोंका समूह ही गुण है। अर्थात् पर्याय समूह ही गुण है तब गुणसमुदायको द्रव्य कहना अथवा पर्यायसमुदायको

द्रव्य कहना, दोनोंका एक ही अर्थ है। गुणोंमें पर्यायोंको अभिन्न समझकर ही अखण्ड अनन्त गुणोंकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको ही द्रव्य कहा गया है।

तथा फिर भी इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जो देश हैं, उन देशोंमें रहनेवाले जो गुण हैं तथा उन गुणोंके जो अंश हैं उन तीनोंकी ही एक आलाप (एक शब्द द्वारा) से द्रव्य संज्ञा है।

नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपातादा ॥ ७५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अंश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलापसे द्रव्य कहलाता हो।

तथा ऐसा भी नहीं है—

अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥७६॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्तिमें चित्र खिचा रहता है अर्थात् जैसे भीतिमें चित्र होता है वह भित्तिमें रहता है परन्तु भित्तिसे जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्यमें प्रदेश, गुण, अंश रहते हैं और समवाय* सम्बन्धसे उनका आश्रय द्रव्य है।

भावार्थ—ऐसा नहीं है कि देश, देशांश, गुण, गुणांश चारों ही जुदे २ पदार्थ हों, और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारों ही अखण्ड रूपसे द्रव्य कहलाते हैं। भेद विवक्षासे ही चार जुदी २ संज्ञायें कहलाती हैं, अभेद विवक्षासे चारों ही अभिन्न हैं औ उसी चारोंकी अभिन्नताको द्रव्य कहते हैं।

उदाहरण—

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापात्तदात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जड़, स्कन्ध (पीड़) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, सबको मिलाकर एक आलाप (एक शब्द) से वृक्ष कहते हैं। वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदिसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्षको छोड़कर

* भिन्न २ पदार्थोंके घनिष्ठ नित्य सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। गुण, गुणीको भिन्न मानकर उनका नित्य सम्बन्ध नैयायिक दर्शन मानता है।

शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांशका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यसे भिन्न न तो देशादिक ही हैं, और देशादिसे भिन्न न द्रव्य ही है।

कारक और आधाराधेयकी अभिन्नता—

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अर्थ—यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं। यहां गुण समुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमें अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये। खुलासा आगे किया जाता है।

दोनोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

भिन्नोऽप्यत्र दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

अर्थ—आधाराधेयकी भिन्नताका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे भित्तिमें चित्र होता है अथवा घड़ेमें दही रक्खा है। भित्ति भिन्न पदार्थ है और उसपर खिंचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है। इसी प्रकार घट दूसरा पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है, इसलिये ये दोनों ही दृष्टान्त आधाराधेयकी भिन्नतामें हैं। भिन्न कारकका दृष्टान्त इस प्रकार है-जैसे कोई आदमी धनके निमित्तसे धनवाला कहलाता है। यहांपर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है। धन और पुरुषका स्व-स्वामि सम्बन्ध कहलाता है। [illegible] सम्बन्ध दिखलाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार धनवान पुरुष, धन भिन्नतामें स्व स्वामि सम्बन्ध है [illegible] गुण गुणी रूप द्रव्य, वह सम्बन्ध नहीं है अथवा जैसा आधाराधेय भाव भित्ति [illegible] है वैसा गुण द्रव्यमें नहीं है किन्तु कारक और आधाराधेय दोनों ही अभिन्न हैं।

दोनोंकी अभिन्नतामें दृष्टान्त—

दृष्टान्तश्चाप्यभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः ।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ॥ ८० ॥

अर्थ—आधाराधेयकी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे वृक्षमें शाखा [illegible] घरमें खम्भा। कारककी अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है जैसे—यह वृक्ष शाखावाला है।

भावार्थ—[illegible] वृक्ष और शाखा तथा घर और खम्भा दोनों ही अभिन्नताके दृष्टान्त हैं। वृक्षसे शाखा [illegible] पदार्थ नहीं है। और घरसे खम्भा जुदा पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार वृक्ष शाखावाला है यह [illegible] सम्बन्ध भी अभिन्नताका है। इन्हीं अभिन्न आधार-आधेय और अभिन्न कारकके समान गुण [illegible], और द्रव्यको समझना चाहिये।

शङ्काकार ।

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं, ऐसी अवस्थामें गुण समुदाय ही कहना चाहिये । द्रव्यके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर—

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियमसे समुदायीका होता है। यह बात प्रसिद्ध प्रमाणसे सिद्ध की हुई है और प्रसिद्धदृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध होती है।

भावार्थ—यद्यपि * सीकोंका समूह ही सोहनी (झाडू) है। तथापि सीकोंके समुदायसे ही घरका कूड़ा दूर किया जाता है, सीकोंसे नहीं इसलिये समुदाय और समुदायी कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं।

खुलासा—

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥८३॥

अर्थ—यद्यपि आमके फलमें स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न २ हैं क्योंकि इनके लक्षण भिन्न २ हैं तथापि सभी अखण्डरूपसे एकरूप हैं किसी प्रकार जुदे २ नहीं किये जा सकते।

भावार्थ—स्पर्शका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसना-इन्द्रियसे होता है, गन्धका नासिकासे होता है और रूपका चक्षुसे होता है इसलिये ये चारों ही भिन्न २ लक्षणवाले हैं, परन्तु चारोंका ही तादात्म्य सम्बन्ध है, कभी भी जुदे २ नहीं हो सकते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे भिन्न हैं, समुदाय रूपसे अभिन्न हैं, अतएव गुण और गुणीमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद स्पष्टतासे सिद्ध होता है।

सारांश—

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥८४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथनकी अपेक्षासे देश, गुण, पर्याय सभी जुदे २ हैं। और सामान्य कथनकी अपेक्षासे वे ही सब द्रव्य कहलाते हैं।

* सीकोंका दृष्टान्त स्थूल दृष्टांत है। केवल समुदायांशमें ही इसे घटित करना चाहिये।

वस्तु सर्वथा अनित्य ठहर जायगी, तथा फिर नवीन वस्तुका उत्पाद होगा, और जो है उस नाश हो जायगा। परंतु यह व्यवस्था *प्रमाण बाधित है इसलिये वस्तुको परिणामी मान चाहिये। फिर किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होगी, किसीसे नष्ट भी होगी और किसी स्थिर भी रहेगी। इसी बातको आगे स्पष्ट करते हैं—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ॥९१॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इस लिये वह किसी अवस्था कथंचित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्थासे कथंचित् नष्ट भी होता है। वस्तु स्थितिसे उत्पत्ति और नाश, दोनों ही वस्तुमें नहीं होते।

भावार्थ—किसी परिणामसे वस्तुमें ध्रौव्य (कथंचित् नित्यता) भी रहता है।

उत्पादादि त्रयके उदाहरण—

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥९२॥

अर्थ—वस्तु घटरूपसे उत्पन्न होती है, पिण्ड रूपसे नष्ट होती है, मृत्तिका स्थिर है। ये तीनों ही अवस्थायें एक ही कालमें होती हैं परन्तु एक रूप नहीं हैं।

शङ्काकार।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥९

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह त्र उत्पादादि त्रयके माननेसे न तो कोई गुण ही है और इसके न माननेसे कोई हानि नहीं दीखती!

उत्तर—

नच यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निन्हवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥९४॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप माननेमें ही लाभ है उसके न माननेमें कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत द्रव्य, परलोक कार्य आदि पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आनेसे हानि है।

* इसके माननेमें जो दोष आते हैं, उनका कथन पहले किया जा चुका है।

परिणाम नहीं माननेमें दोष-

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥९५॥

अर्थ—परिणामके न माननेसे द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा । उस अवस्थामें परलोक र्य, कारण आदि कोई भी नहीं ठहर सक्ता ।

भावार्थ—दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये । यदि जीव द्रव्यमें परिणमन माना जाय, उसको सदा एक सरीखा ही माना जाय, तो पुण्य पापका कुछ भी फल नहीं सकता है, अथवा मोक्षके लिये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं । इसी प्रकार अवस्थाभेदके न माननेमें र्य, कारणभाव आदि व्यवस्था भी नहीं बन सकती है ।

परिणामीके न माननेमें दोष-

परिणामिनोप्यभावत् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥९६॥

अर्थ—यदि परिणामीको न माना जाय तो वस्तु क्षणिक—केवल परिणाम मात्र ठहर यगी और यह बात बनती नहीं, क्योंकि ×प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्माकी कथंचित् नित्य में भी प्रतीति होती है ।

भावार्थ—विना कथंचित् नित्यता स्वीकार किये आत्मामें यह वही जीव है, ऐसा यभिज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये दोनों श्लोकोंका फलितार्थ यह निकला कि वस्तु अपनी तुताको कभी नहीं छोड़ती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई २ अवस्थाओंको रती रहती है इसलिये अनित्य भी है । वह न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा नित्य ही है जैसा कि सांख्य बौद्ध मानते हैं ।

शङ्काकार-

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तत्साध्यते त्विति चेत् ॥९७॥

अर्थ—पहले द्रव्यका लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह कहा गया है और अब वाक्या-

× "दर्शनस्मरणकारणकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्" अर्थात् जिस पदार्थको पहिले । देखा जाय, फिर भी कभी उसीको अथवा उसके सम या विषमको देखा जाय तो वहां नमें प्रत्यक्ष और पहिलेका स्मरण, दोनों एक साथ होनेसे यह वही है अथवा उसके न है, आदि ज्ञान होता है । इसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । बिना कथंचित् नित्यता स्वीकार ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ।

[illegible] द्वारा " [illegible] लक्षणं " यह कहा जाता है । तथा सत्को उत्पाद, व्यय, और [illegible] कहा जाता है । इसलिये उस लक्षणमें इस लक्षणसे बाधा आती है ?

उत्तर—

तन्न यतः सुविचारादेकोऽर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादिति चेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥९८॥

अर्थ—दोनों लक्षणोंमें विरोध बतलाना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह विचार करनेसे दोनों वाक्योंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है । फिर भी शंकाकार कहता है कि यदि दोनों वाक्योंका एक ही अर्थ है तो फिर दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यकता है, दोनोंमेंसे कोई एक कह दिया जाय ? आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा भी नहीं है कि दोनोंमेंसे एक ही कहा जाय, किन्तु दोनोंही परस्पर अभिव्यञ्जक (वस्तुप्रदर्शक) हैं ।

[illegible]—

[illegible] यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।
[illegible] च स्यादिति गुणः [illegible]गुनः सिद्धम् ॥९९॥

अर्थ—दोनों [illegible] इस प्रकार है कि नित्यता और गुणकी व्याप्ति है [illegible] होता है इसलिये " गुणवान् द्रव्य है " ऐसा [illegible] सिद्ध हुआ है ।

[illegible] गुणोंमें कथंचित् नित्यता सिद्ध [illegible] है ।

[illegible]—

[illegible] च गुणाः [illegible] ध्रौव्यम् ।
[illegible] ॥१००॥

अर्थ—[illegible] कि गुण [illegible] है, और [illegible] है और [illegible] बनाया जाता है ।

[illegible] गुणोंमें कथंचित् [illegible] नहीं और [illegible] है

[illegible]

[illegible] व्याप्तिः ।
[illegible] वा स्यात् ॥१०१॥

[illegible] है [illegible] है । [illegible] है [illegible] है

नहीं है जैसा कि चौकीपर रक्खी हुई पुस्तकोंका चौकीके साथ होता है किन्तु ऐसा है जैसे कि + तन्तु और कपड़ेका अथवा पुस्तक और अक्षरोंका होता है। यद्यपि कपड़ा तन्तुओं भिन्न नहीं है तथापि वह तन्तुओंका आधेय समझा जाता है। इसी प्रकार पुस्तक अक्षरों भिन्न नहीं है तथापि वह अक्षरोंका आधार समझी जाती है, इसी प्रकार गुण और द्रव्य आधार-आधेयभाव है। गुण और विशेष ये दोनों ही एकार्थ वाचक हैं, गुणोंमें गुण रहते हैं। यदि गुणोंमें भी गुण रह जांय तो वे भी द्रव्य ठहरेंगे और अनवस्था दोष भी आ इसलिये जो + द्रव्यके आश्रय रहनेवाले हों और निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं।

खुलासा—

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—गुण, द्रव्यके आश्रय रहते हैं, इसका खुलासा यह है कि एक गुणका जो प्रदेश है वही प्रदेश सभी गुणोंका है इसलिये सभी गुणोंके समान प्रदेश हैं उन प्रदेशोंमें रहनेवाले गुणोंका जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रमसे अनन्त गुण प्रतीत होते हैं अर्थात् बुद्धिसे विभाग करनेपर द्रव्यके सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते हैं। गुणोंके अतिरिक्त स्वतन्त्र आधाररूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नहीं प्रतीत होता है।

उदाहरण—

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।
बुध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण समान है उन शुक्लादिक गुणोंका बुद्धि विभाग किया जाय तो क्रमसे श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होंगे।

गुणोंका नित्याऽनित्य विचार—

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विधते ततः प्रायः ।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

+ तन्तु और कपड़ेका दृष्टान्त भी स्थूल है आत्मांशमें ही घटित करना चाहिये।

+ द्रव्यके आश्रय पर्याय भी रहती है और वह निर्गुण भी है इसलिये गुणोंका लक्षण पर्यायमें घटित होनेसे अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। लक्षण अपने लक्ष्यमें रहता हुआ यदि दूसरे पदार्थमें भी रह जाय, उसीको अतिव्याप्ति कहते हैं, इस दोषको हटानेके लिये गुणोंके लक्षणमें 'द्रव्याश्रय' का अर्थ यह करना चाहिये कि जो नित्यतासे द्रव्यके आश्रय रहें वे गुण हैं ऐसा कहनेसे पर्यायमें लक्षण नहीं जा सकता, क्योंकि पर्याय अनित्य है इसीलिये गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी बतलाया गया है।

अर्थ—गुणोंके विषयमें बहुतसे वादियोंका विवाद होता है—कोई गुणोंको सर्वथा नित्य बतलाते हैं, और कोई सर्वथा अनित्य बतलाते हैं। इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणोंके विषयमें नित्यता और अनित्यताका विचार किया जाय।

जैन सिद्धान्त—

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥ १०८॥

अर्थ—जैनियोंका तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार द्रव्य कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, उसी प्रकार गुण भी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न गुण नहीं हैं।

गुणोंकी नित्यताका विचार—

तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥१०९॥

अर्थ—नित्यका यह लक्षण है कि जिसके *स्व-भावका नाश न हो। यह लक्षण गुणोंमें पाया जाता है इसलिये गुण नित्य हैं, गुणोंके स्व-भावका नाश नहीं होता है। यह गुणोंका लक्षण "यह वही है" ऐसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध होता है अर्थात् गुणोंमें यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और यही प्रतीति उनमें नित्यताको सिद्ध करती है।

गुणोंकी नित्यतामें उदाहरण—

ज्ञानं परणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या ।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥११०॥

अर्थ—आत्माका ज्ञान गुण परिणमनशील है। कभी वह घटके +आकार होता है तो कभी पटके आकार हो जाता है। घटाकारसे पटाकार होते समय उसमें क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नहीं, ज्ञान नष्ट नहीं होता, केवल अवस्थाभेद हो जाता है, वह पहले घटको जानता था अब पटको जानने लगा है इतना ही भेद हुआ है। जानना दोनों अवस्थाओंमें

* तत्त्वार्थसूत्रके "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इस सूत्रका आशय है।

+ घटाकार और पटाकारका घटज्ञान और पटज्ञानसे प्रयोजन है। ज्ञानगुणका यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थको जानता है उसके आकार हो जाता है इसी लिये ज्ञानको दर्पणकी तुलना दी गई है, दर्पणमें भी जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पण उस पदार्थके आकार होजाता है।

[illegible] होता है कि [illegible]
[illegible] यदि [illegible] नहीं होता है तो [illegible]
[illegible] है।

[illegible]

[illegible] विशेषात् ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] है। [illegible] गुणोंसे [illegible] है [illegible] उस प्रकार गुणों [illegible]
[illegible] है और [illegible] ही होते हैं।
[illegible] है कि [illegible] है [illegible] है।

[illegible]

[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] है। [illegible] गुणों [illegible] है।
[illegible] होती है।

[illegible]

[illegible] गुणाः ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]
[illegible] है।

तात प्रमाण और दृष्टान्त दोनोंसे बाधित है। आमके फलमें एक साथ ही रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदिक अनेक गुणोंकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है।

पक्षान्तर—

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥ १२९ ॥

अर्थ—यदि उपर्युक्त दोषोंके भयसे गुणोंको नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणोंमें एक साथ उत्पादादि त्रय क्यों नहीं होंगे ! अवश्य होंगे।

भावार्थ—द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी उत्पादित्रय होते हैं यह फलितार्थ निकला। यही बात पहले कही जा चुकी है।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोपि सोपि गुणः ॥ १३० ॥

अर्थ—पहले यह भी शंका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो प्रदेश भी, प्रदेशत्व नामक शक्ति विशेष है। वह भी एक गुण है।

भावार्थ—द्रव्यमें जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। वह व्यञ्जन पर्याय प्रदेशत्व गुणका विकार है, अर्थात् प्रदेशवत्व गुणकी विशेष अवस्थाका नाम ही व्यञ्जन पर्याय है।

सारांश—

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम्।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इस लिये जो पूर्वाचार्यों (अथवा पहले इसी ग्रन्थमें) ने गुणोंके समुदायको द्रव्य कहा है वह ठीक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश (द्रव्य) को भिन्न २ विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे।

भावार्थ—गुणोंको छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। द्रव्यमेंसे यदि एक एक गुणको भिन्न २ कल्पित करें तो द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहता। और जो सम्पूर्ण द्रव्यमें एक समयमें पर्याय (व्यञ्जन पर्याय) होती है वह भी प्रदेशत्व गुणकी अवस्था विशेष है इसलिये गुण समुदाय ही द्रव्य है। यह आचार्यका पूर्व कथन सर्वथा ठीक है।

शङ्काकार—

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः केचित् ॥ १३२ ॥

अर्थ—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो जितनी भी द्रव्यमें पर्यायें होती

उन सबोंको नियमसे गुणोंकी पर्याय ही कहना चाहिये, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिये ?

उत्तर—

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥१३३॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि गुणोंमें भी विशेषता है। यद्यपि गुणत्व धर्मकी अपेक्षासे सभी गुण, गुण कहलाते हैं तथापि उनमें कोई चेतन गुण है कोई अचेतन गुण है । जिस प्रकार गुणोंमें यह विशेषता है। उसी प्रकार उनमें कोई क्रियावती शक्ति (गुण) है और कोई भाववती शक्ति है.

क्रियावती और भाववती शक्तियोंका स्वरूप—

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः ॥ १३४ ॥

अर्थ—उन दोनों शक्तियोंमें प्रदेश अथवा देशका परिस्पंद (हलन चलन) क्रिया कहलाती है और शक्ति विशेष भाव कहलाता है उसका परिणमन निरंश-अंशों द्वारा होता है

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते हैं, और बाकीके अनन्त गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं । परिणमन भी दो प्रकारका होता है एक तो ज्ञानादि गुणोंका परिणमन दूसरा सम्पूर्ण द्रव्यका परिणमन । ज्ञानादि गुणोंका परिणमन क्रिया रहित है । केवल गुणोंके अंशोंमें तरतम रूपसे न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसमें उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें परिवर्तन होता है । यह परिवर्तन सक्रिय है । द्रव्यका परिवर्तन प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तमें होता है । इसीलिये प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहा गया है और बाकीके सम्पूर्ण गुण निष्क्रिय है, इसलिये उन्हें भाववती शक्ति कहा गया है ।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्याय नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अर्थ—जितने भी प्रदेशांश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते हैं और जितने गुणांश है वे गुणपर्याय कहे जाते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे जो द्रव्यके समस्त प्रदेशोंमें आकारान्तर होता रहता है उसे द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और बाकीके गुणोंमें जो तरतम रूपसे परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहते हैं ।

तत एव यदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥ १३६ ॥

अर्थ—इस लिये पहले जो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेसे निर्दोष है ।

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चैकार्थः ॥ १३७ ॥

अर्थ—अब गुणोंका लक्षण वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा कहते हैं । जिस प्रकार आत्मा, चिदात्मा, अथवा ज्ञानात्मा, ये सब एक अर्थको प्रगट करते हैं उसी प्रकार यह वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है ।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोपि चान्वयिनः ।
अर्थाश्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अर्थ—वह वाक्यान्तर इस प्रकार है—गुण, सहभावी, अन्वयी इन सबका एक ही अर्थ है । अर्थात् उपर्युक्त तीनों ही शब्द गुण रूप अर्थके वाचक हैं ।

सहभावी शब्दका अर्थ—

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सह, सार्ध और सम इन तीनोंका एक ही साथ रूप अर्थ है । गुण सभी साथ २ रहते हैं इस लिये वे सहभावी कहे गये हैं । इसका यह अर्थ है कि सभी गुण एक साथ रहते हैं, पर्यायके समान क्रम क्रमसे नहीं होते हैं ।

शङ्का और समाधान—

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥ १४० ॥

अर्थ—शंकाकार सहभावी शब्दका अर्थ करता है कि गुण द्रव्यके साथ मिलकर रहते हैं इसी लिये वे सहभावी कहलाते हैं । परन्तु शंकाकारकी यह शंका निर्मूल है क्योंकि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ है इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है ।

भावार्थ—सहभावी शब्दका यह अर्थ नहीं है कि गुण द्रव्यके साथ २ रहते हैं इस लिये सहभावी कहलाते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे द्रव्य जुदा पदार्थ ठहरता है और उस द्रव्यके साथ २ रहनेवाले गुण जुदे ठहरते हैं । परन्तु इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है कि गुणोंसे भिन्न द्रव्य कोई जुदा पदार्थ है । इस लिये सहभावी शब्दका यह अर्थ करना चाहिये कि सभी गुण साथ २ रहते हैं । द्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड है । उन गुणोंके निमित्त परिणमन (पर्याय) होता रहता है । अनादिकालसे केवल क्रमानुसार तक उन गुणोंके मिलने भी परिणमन होते हैं, उन गुणोंमें गुण सदा साथ २ रहते हैं । गुणोंका स्वरूप विशेष

नहीं होता है । परन्तु पर्यायोंमें यह बात नहीं है । वे क्रमभावी हैं । उनका सदा साथ नहीं रहता है जो पर्यायें पूर्व समयमें हैं वे उत्तर समयमें नहीं रहतीं । इसीलिये पर्यायें क्रमभावी हैं । जो गुण पहले समयमें हैं वे ही दूसरे समयमें हैं इसलिये गुण सहभावी हैं ।

फिर भी शंका-समाधान—

ननुचैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुषंगत्वात् ।
पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥

अर्थ—यदि गुणोंको साथ रहनेसे सहभावी कहा गया है तो यह लक्षण पर्यायोंमें भी जाता है वे भी तो साथ ही साथ रहती हैं । इस लिये वे भी गुण कहलावेंगी । यह अतिव्याप्ति दोष है; इस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि पर्यायोंमें गुणोंका लक्षण नहीं आता है, क्योंकि पर्यायें साथ २ नहीं रहती हैं किन्तु भिन्न २ रहती हैं । फिर भी यदि लक्षणको दूषित ठहराया जायगा तो हरएक दूषण हरएकमें दुर्निवार हो जायगा अथवा पर्यायोंको भी अभिन्न माननेसे अवस्थाओंमें भेद न रहनेसे सभी सब रूप हो जायंगे अर्थात् फिर अवस्थभेद न हो सकेगा ।

अन्वय शब्दका अर्थ—

अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा ।
अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—अन्वय शब्दमें दो पद पड़े हुए हैं । एक अनु, दूसरा अय, अनु पदका यह अर्थ है कि बिना किसी रुकावट (अनर्गल) के प्रवाहरूप और अय पद गत्यर्थक अय धातुसे बना है, इसका अर्थ होता है कि गमन करे, चला जाय । अनु और अय-अन्वयका मिलकर अर्थ होता है कि जो अनर्गल रीतिसे बराबर प्रवाह रूपसे चला जाय ऐसा अनुगत अर्थ पड़नेसे द्रव्य अन्वय कहलाता है ।

द्रव्यके पर्याय वाचक शब्द—

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ १४३ ॥

अर्थ—सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ विधि ये सभी शब्द सामान्य रीतिसे एक द्रव्य रूप अर्थके वाचक हैं ।

अयमन्वयोस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥ १४४ ॥

अर्थ—यह अन्वय जिनके है वे अन्वयी कहलाते हैं ऐसे अन्वयी गुण कहलाते हैं । इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें गुण अपने ही पक्ष (अन्वयपूर्वक) में रहते हैं, पर्यायोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समुदाय है। उन सम्पूर्ण गुणोंमें प्रति समय नयी नयी पर्यायें होती रहती हैं। उन समस्त पर्यायोंमें गुण बराबर साथ रहते हैं। इसलिये गुणका अपनी समस्त अवस्थाओंमें अन्वय (सन्तति अथवा अनुवृत्ति) पाया जाता है। इस प्रकार अनन्त गुण समुदाय रूप द्रव्यमें अनन्त गुण ही अपनी समस्त अवस्थाओंमें पाये जाते हैं, इसलिये गुण अन्वयी कहलाते हैं। और इसीसे वे सदा स्वपक्ष अर्थात् स्वस्वरूपमें बने रहते हैं। पर्यायोंकी अपेक्षासे भिन्न २ नहीं हो जाते हैं।

इस श्लोकमें ×'सप्रतः' पाठ है। सप्रतः कहते हैं अन्वयीको अर्थात् गुण व्यतिरेकी नहीं हैं जिसमें 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो वह अन्वयी कहलाता है और जिसमें ऐसी बुद्धि न हो वह व्यतिरेकी कहलाता है। गुण अनेक हैं इसलिये नाना गुणोंकी अपेक्षासे यद्यपि गुण भी व्यतिरेकी हैं। परन्तु एक गुण अपनी समस्त अवस्थाओंमें रहता हुआ 'यह वही है' इस बुद्धिको पैदा करता है इसलिये वह अन्वयी ही है, परन्तु पर्यायोंमें 'यह वह नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है इसलिये वे व्यतिरेकी हैं।

शङ्काकार—

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४८ ॥

अर्थ—गुणोंका सत्के साथ अन्वय होनेपर भी उनमें व्यतिरेकीपना भी होना चाहिये क्योंकि वे अनेक हैं। भाव व्यतिरेक भी पदार्थोंमें होता है।

भावार्थ—अनेकोंमें ही व्यतिरेक घटता है, गुण भी अनेक हैं इसलिये उनमें भी व्यतिरेक घटना चाहिये। फिर गुणोंको अन्वयी ही क्यों कहा जाता है?

उत्तर—

तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥ १४९ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकमें विशेषता है व्यतिरेकी अनेक होते हैं। और एक गुण नियमसे अन्वयी होता है।

भावार्थ—व्यतिरेक अनेकोंमें पाया जाता है, और अन्वय प्रवाह रूपसे चले आनेसे एकमें पाया जाता है। पर्यायें अनेक हैं, उनमें तो व्यतिरेक ही पाया जाता है। गुणोंमें गुणोंकी अपेक्षासे यद्यपि व्यतिरेक है तथापि प्रत्येक गुण अन्वयी ही है। 'यह वह नहीं है' ऐसा

× पुस्तकमें यद्यपि 'सप्रतः' ही पाठ है। परन्तु हमने 'तद्यथा' [illegible] इसका भी अर्थ ऊपर लिख दिया है। 'सप्रतः' का अर्थ तो स्पष्ट है ही। [illegible] भी अर्थ उसी प्रकार ठीक बैठता है। विज्ञ पाठक विचारें।

व्यतिरेक है, वह चार प्रकार है । देश व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक, काल व्यतिरेक और भाव व्यतिरेक ।

देश व्यतिरेक इस प्रकार है—

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥१४७॥

अर्थ—अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं । जो एक देश है वह दूसरा नहीं है । तथा जो दूसरा है, वह दूसरा ही है । वह पहला नहीं है । इसको देश व्यतिरेक कहते हैं ।

क्षेत्र व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि यथैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जितने क्षेत्रको व्यापकर (घेरकर) एक देश रहता है । वह क्षेत्र वही है, दूसरा नहीं है । और जो दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है, पहला नहीं है । इसको क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं ।

काल व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः ॥१४९॥

अर्थ—एक समयमें जो अवस्था होती है, वह वही है । दूसरी नहीं हो जाती और जो दूसरे समयमें अवस्था है वह दूसरी ही है, पहली नहीं हो जाती, इसको काल व्यतिरेक कहते हैं ।

भाव व्यतिरेक इस प्रकार है—

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः ॥१५०॥

अर्थ—जो एक गुणांश है वह वही है, दूसरा नहीं है । और जो दूसरा गुणांश है, वह दूसराही है, पहला नहीं है । इसको भाव व्यतिरेक कहते हैं ।

इस प्रकारके व्यतिरेकके न माननेमें दोष—

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः ।
एकांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वात्माक् ॥ १५१ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यतिरेककी व्यवस्था न मानी जावे और जो पहले देशादिक हैं वे ही दूसरे समयमें माने जावें, भिन्न २ न माने जावें तो सम्पूर्ण वस्तु एक

मात्र देशवाली ठहरेगी । और ऐसा मानना ठीक नहीं है एक अंश मात्र देशकी स्वीकारतामें पहले ही बाधा दी जा चुकी है।

स्पष्टार्थ—

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोपि सन्ति गुणाः ॥१५२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ इस प्रकार है कि एक २ समयमें क्रमसे भिन्न २ होनेवाली जो पर्यायें हैं वे ही व्यतिरेकी हैं, परन्तु गुण अनेक होनेपर भी उस प्रकार व्यतिरेकी नहीं हैं।

भावार्थ—जो द्रव्यकी एक समयकी पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, किन्तु दूसरे समयमें दूसरी ही पर्याय होती है । इसलिये द्रव्यका एक समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है, और दूसरे समयका भिन्न है । जो पहले समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वही दूसरे समयका नहीं है इसलिये पर्यायें व्यतिरेकी हैं क्योंकि व्यतिरेकका लक्षण ही यही है कि यह वह नहीं है, पर्यायें अनेक हैं और वे भिन्न २ हैं इसलिये यह वह नहीं है ऐसा व्यतिरेक उनमें अच्छी तरह घटता है, परन्तु गुणोंमें यह बात नहीं है। यद्यपि गुण भी अनेक हैं तथापि उनमें (प्रत्येक गुणमें) यह वह नहीं है, ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता । किन्तु प्रत्येक गुण अपनी अनादि-अनन्त अवस्थाओंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक गुणमें यह वही है, ऐसा अन्वय ही घटता है ।

गुणोंमें अन्वयीपना दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

किन्त्वेकशः स्वबुद्धौ ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।
अथ चैकशः स्वबुद्धौ दृग्वा जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अर्थ—किसीने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे ज्ञानको ही जीव समझा, और दूसरेने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतासे दर्शनको ही जीव समझा ।

भावार्थ—एकने ज्ञान गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है और दूसरेने दर्शन गुणकी मुख्यतासे जीवको ग्रहण किया है, परन्तु दोनोंने उसी जीवको उतना ही ग्रहण किया है । यद्यपि ज्ञान गुण भिन्न है और दर्शन गुण भिन्न है, इसी प्रकार और भी जितने गुण हैं सभी भिन्न २ हैं, तथापि वे परस्पर अभिन्न हैं, इसी लिये जो यह कहा है कि "ज्ञान है सो जीव है" वह यद्यपि जीवको ज्ञानकी प्रधानतासे ही ग्रहण करता है; परन्तु जीव तो ज्ञान रूपी ही केवल नहीं है किन्तु दर्शनादि स्वरूप भी है । इस लिये गुणोंमें अनेकता होनेपर भी पर्यायोंकी तरह "यह वह नहीं है" ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता इसी बातको आगेके श्लोकोंसे स्पष्ट करते हैं—

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः सैष नेति लक्षणतः ।
व्यतिरेकिणश्च न गुणास्तथेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥१५५॥

अर्थ—इस लिये जिस प्रकार अनेक पर्यायें " यह वह नहीं है " इस लक्षणसे व्यतिरेकी हैं, उस प्रकार अनेक भी गुण " यह वह नहीं है " इस लक्षणके न घटनेसे व्यतिरेकी नहीं हैं।

किन्तु—

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।
जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥१५६॥

अर्थ—गुणोंमें अन्वय लक्षण ही घटता है। जिस समय जीवको ज्ञान स्वरूप कहा जाता है, उस समय वह उतना ही है और जिस समय जीवको दर्शन स्वरूप कहा जाता है उस समय वह उतना ही है। ज्ञान अथवा दर्शन रूप जीवको कहनेसे उसमें ' यह वही है ' ऐसा ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥१५६॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके कथनानुसार यही क्रम सुखादिक गुणोंमें भी लगा लेना चाहिये। जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुखका अनुभवन करता है। इन सब कार्योंमें " यह वही है " ऐसी ही प्रतीति होती है।

अर्थ शब्दका अन्वर्थ—

अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ नाम गुणका है, वह भी केवल रूढिवशसे नहीं है किन्तु वह यौगिक रीतिसे है।

अर्थका यौगिक अर्थ—

स्यादृगताविति धातुस्तद्रूपोयं निरूच्यते तज्ज्ञैः ।
अरत्यर्थाननुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोपि गुणः ॥ १५८ ॥

अर्थ—' ऋ ' एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है। उसी धातुका यह ' अर्थ ' शब्द बना है ऐसा व्याकरणके जानकार कहते हैं। जो गमन करे उसे अर्थ कहते हैं। गुण अनादि सन्तति रूपसे साथ २ चले जाते हैं। इसलिये गुणका अर्थ नाम अन्वर्थक (यथार्थ) ही है।

सारांश—

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि गुण भी नियमसे स्वतः सिद्ध परिणामी हैं इसलिये वे कथंचित् नित्य भी हैं और कथंचित् अनित्य भी हैं, और इसीसे उनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं।

गुणोंमें भेद—

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेपि।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥

अर्थ—यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोंमें समानता है, तथापि उनमें विशेषता भी है। कितने ही उनमें साधारण गुण हैं, और कितने ही असाधारण गुण हैं।

साधारण और असाधारणका अर्थ—

साधारणास्तु यतरे ततरे नाम्ना गुणा हि सामान्याः।
ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अर्थ—जितने साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं, और जितने असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो गुण सामान्य रीतिसे हरएक द्रव्यमें पाये जांय, उन्हें तो सामान्य अथवा साधारण गुण कहते हैं। और जो गुण खास २ द्रव्यमें ही पाये जांय उन्हें विशेष अथवा असाधारण गुण कहते हैं। अर्थात् जो सब द्रव्योंमें रहें वे सामान्य और जो किसी विशेष द्रव्यमें रहें वे विशेष कहलाते हैं।

ऐसा क्यों कहा जाता है?

तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात्।
द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ॥ १६२ ॥

अर्थ—ऐसा क्यों कहा जाता है? इसका कारण यह है कि साधारण गुणोंसे तो द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है, और विशेष गुणोंसे द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

उदाहरण—

संदृष्टिः सदिति गुणः स यथा द्रव्यत्वसाधको भवति।
अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥१६३॥

अर्थ—उदाहरण इस प्रकार है कि सत् (अस्तित्व) यह गुण सामान्य द्रव्यका साधक है, और ज्ञान गुण द्रव्य विशेष (जीव) का साधक है।

भावार्थ—सत् गुण सभी द्रव्योंमें समान रीतिसे पाया जाता है इसलिये सभी द्रव्य सत् कहलाते हैं, परन्तु ज्ञान गुण सभी द्रव्योंमें नहीं पाया जाता किन्तु जीवमें ही पाया जाता है इसलिये ज्ञान विशेष गुण है और सत् सामान्य गुण है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें सामान्य गुण समान हैं, और विशेष गुण जुदे जुदे हैं।

पर्यायका लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽऽगमतः।
सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥ १६४ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थमें आगमके अनुसार गुणोंका लक्ष्य और लक्षण तो कहा गया, अ पर्यायोंका लक्ष्य और लक्षण कहते हैं।

पर्यायका लक्षण—

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः।
उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिच्च ॥ १६५ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पादव्ययस्वरूप और कथंचित् ध्रौ स्वरूप होती हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्यक्।
अवशिष्टविशेषमितः क्रमतः संलक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

अर्थ—पर्यायोंका व्यतिरेकीपना तो गुणोंके कथनमें सिद्ध किया जा चुका है। अ बाकीके लक्षण क्रमसे यथाशक्ति यहांपर कहे जाते हैं।

क्रमवर्तित्वका लक्षण—

अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः ॥ १६७ ॥
वर्तन्ते ते नयतो भवितुं शीलास्तथा स्वरूपेण।
यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अर्थ—पादविक्षेप अर्थमें होना है क्रमसे गमन करना अथवा क्रमसे होना, इस अर्थमें क्रम धातु प्रसिद्ध है। उसीका क्रम शब्द बना है। यह शब्द अपने अर्थका उल्लंघन नहीं करता है। क्रमसे जो वर्तन करे अर्थात् क्रमसे जो होवें उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं अ क्रमक्रमसे होनेका जिनका स्वभाव है उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अथवा क्रम ही जिनमें ह रहे उन्हें ही अनुगत-अर्थ होनेसे क्रमवर्ती कहते हैं ऐसी क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं।

इसीका खुलासा अर्थ—

अयमर्थः प्रागेकं जातं समुच्छिद्य जायते चैकः ।
अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथा देशः ॥ १६९ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार पहले एक पर्याय हुई, फिर उसका नाश होनेपर दूसरी हुई, उस दूसरीका भी नाश होनेपर तीसरी हुई इसी प्रकार पूर्व पूर्व पर्यायोंके नाश होनेपर जो उत्तरोत्तर पर्यायें क्रमसे होती जाती हैं इसीका नाम क्रमवर्ती है। अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं। एक समयका देश दूसरे समयसे भिन्न है। यहां पर देशसे पर्यायका ग्रहण होता है।

शङ्काकार—

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥१७०॥

अर्थ—यदि व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तीपनमें शब्द भेद ही माना जाय तब तो ठीक है। क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। यदि इन दोनोंमें अर्थ भेद भी माना जाता है तब बतलाना चाहिये कि वास्तवमें इन दोनोंमें क्या भेद है?

उत्तर—

तन्न यतोस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥

अर्थ—शंकाकारका यह कहना " कि व्यतिरेकी और क्रमवर्ती दोनोंका एक ही अर्थ है " ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यके पूर्व समय वर्ती और उत्तर समय वर्ती अंशोंमें समानता होने पर भी विशेषता है। जिस प्रकार स्थूल पर्यायोंमें सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन (गर्भित) हो जाती हैं परन्तु लक्षण भेदसे भिन्न हैं, उसी प्रकार व्यतिरेकी और क्रमवर्ती भी भिन्न हैं।

भावार्थ—द्रव्यका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद हैं। एक समयवर्ती परिणमनकी अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमनमें कुछ समानता भी रहती है और कुछ असमानता भी रहती है। दृष्टान्तके लिये बालकको ही ले लीजिये। बालककी हरएक समयमें अवस्थायें बदलती रहती हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो एक वर्ष बाद बालकमें पुष्टता और लम्बाई नहीं आना चाहिये। और वह एक दिनमें नहीं आजाती है प्रति समय बढ़ती रहती है परन्तु हमारी दृष्टिमें बालककी जो पहले समयकी अवस्था है वही दूसरे समयमें दीखती है, इसका कारण वही सदृश परिणमन है। जो असदृश-अंश है वह सूक्ष्म है इन्द्रियोंद्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है सदृश-परिणमन अनेक समयोंमें एकसा है इसीलिये कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिरस्थायी है और इसी अपेक्षासे पर्यायको कथंचित् ध्रौव्य स्वरूप कहा है।

क्षेत्रान्तर रूप हो गया है। क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर ग्रहण करनेकी अपेक्षासे ही आत्माके प्रदेशोंकी हानि वृद्धि समझी जाती है। वास्तवमें उसमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती है।

दूसरा दृष्टान्त—

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाद्‌ ॥ १८८ ॥

अर्थ—अथवा दूसरा दृष्टान्त दीपकका है। दीपककी किरणें उतनी ही हैं जितनी कि वे हैं, परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है, वह केवल घर आदि आवरक विशेषतासे आती है और अवगाहनकी विशेषतासे भी आती है।

भावार्थ—दीपकको जैसा भी छोटा बड़ा आवरक (जिसमें दीपक रक्खा हो वह [illegible]) मिलेगा दीपकका प्रकाश उसी क्षेत्रमें पर्याप्त रहेगा।

गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त—

अंशानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम्।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥१८९॥

अर्थ—अंशोंके अवगाहनमें यह दृष्टान्त है कि ज्ञान-गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) में स्थित है। वह जो कभी घटती कभी बढ़ती होता है, वह केवल [illegible] ज्ञेयका आकार धारण करनेसे होता है। जितना बड़ा ज्ञेय है, उतना ही [illegible] [illegible] आकार हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान गुणके अंशोंमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

दृष्टान्त—

[illegible] यथा हि संविदः परिच्छिन्दादिहैव घटमात्रम्।
यदि वा सर्व लोकं [illegible] लोकमात्रं स्यात् ॥१९०॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान घटको जान रहा है, उस समय वह घट मात्र है, और जिस समय वह सम्पूर्ण लोकको स्वयं जान रहा है, उस समय [illegible] लोक मात्र है।

भावार्थ—घटको जानते हुए स्वयं ज्ञान घटाकारमें ही परिणत होता हुआ घट मात्र है, और स्वयं लोकको जानते हुए वह लोक प्रमाण हो जाता है।

वास्तवमें वह घटता बढ़ता नहीं है—

न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः।
लोकाकारेऽपि चितः नियतांशानां न चासदुत्पत्तिः ॥ १९१ ॥

अर्थ—[illegible] [illegible]

किन्त्वस्ति च कोपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः ।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२॥

अर्थ-किन्तु उन गुणोंमें एक अगुरुलघु नामक गुण है, वह वचनोंके अगम्य है, स्वत सिद्ध है, उसका ज्ञान गुरु (सर्वज्ञ अथवा आचार्य) के उपदेशसे होता है अथवा स्वानुभूति-प्रत्यक्षसे होता है ।

भावार्थ-अगुरुलघु गुण हरएक पदार्थमें जुदा२ रहता है, इसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी नाश नहीं होता है । जो शक्ति जिस स्वरूपको लिये हुए है, वह सदा उसी स्वरूपमें रहती है, इसलिये ज्ञान गुणमें तरतमता होनेपर भी उसके अंशोंका विनाश नहीं होता है ।

शङ्काकार—

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादित्रयं न संभवति ।
अपि नोपादानं किल कारणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥
अपिच गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ-" किसी शक्तिका कभी नाश भी नहीं होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है । यदि ऐसा माना जावे तो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं घट सकते हैं , और न कोई किसीका कारण ही बन सकता है, न फल ही कुछ हो सक्ता है, क्योंकि उपर्युक्त कथनसे तुम गुणोंको सदा नित्य ही मान चुके हो ।

दूसरी बात यह है कि हरएक गुणके अंशोंकी कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्थामें गुण दुर्बल (सूक्ष्म-पतला) क्यों नहीं हो जाता ? और कभी गुणमें अधिकता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्थामें वह बलवान (सशक्त-मोटा) क्यों नहीं हो जाता ? यह एक महान् दोष है । इसका निराकरण कुछ कठिन है ’

उत्तर—

तन्न यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येर्थे ॥ १९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शंका की गई है वह निर्मूल (ठीक नहीं) है क्योंकि यह पहले अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शील है, इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं, अनित्य पदार्थमें नहीं घटते ।

दृष्टान्त—

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥ १९६ ॥

अर्थ—सोनेकी सत्ता माननेपर ही उसमें कुण्डलादिक भाव होते हैं और उन कुण्डला-दिक भावोंके होनेपर उसमें उत्पादादिक घटते ही हैं।

भावार्थ—जिस समय सोनेको ठोंक पीटकर कुण्डलाकार कर दिया जाता है उस समय सोनेमें पहली पाँसे रूप पर्यायका विनाश होकर कुण्डल रूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, तथा दोनों ही अवस्थायें हैं इसलिये सोनेमें उत्पादादित्रय तो घट जाते हैं परन्तु सोनेके प्रदेशोंमें वास्तवमें किसी प्रकारकी नवीन उत्पत्ति अथवा नाश नहीं होता है, केवल क्षेत्रमें क्षेत्रान्तर होता है। यदि सोनेको अनित्य ही मान लिया जाय तो पाँसेके नाश होनेपर कुण्डल किसका बने? इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पादादिक तीनों घटते हैं, अनित्यमें नहीं।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव।
यस्मादेवास्य सतस्तद्द्वयमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई प्रक्रिया (रीति) के अनुसार कारण और फल भी उसी कथंचित् नित्य पदार्थके घटते हैं। क्योंकि ये दोनों ही सत् पदार्थके ही हो सकते हैं।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात्।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—अविच्छिन्न सन्तति देखनेसे गुणोंमें असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश तो दूर रहो। परन्तु उनमें अपने प्रमाणसे स्थूलता और कृशता (दुर्बलता) भी नहीं होती।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंकायें की गई थीं। उन दोनोंका ही उत्तर दिया जा चुका। समान अविभाग प्रतिच्छेद होनेपर भी ज्ञान कभी घटाकार होता है, कभी लोकाकार होता है वहां तो केवल परिणमनमें आकार भेद है, परन्तु जहा पर ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें न्यूनता अथवा वृद्धि होती है, वहां भी ज्ञानके अंशोंका नाश अथवा नवीन उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अंशोंमें उद्भूति और अनुद्भूति (व्यक्तता और अव्यक्तता) होती रहती है। अधिक अंशोंके दब जानेसे वही ज्ञान दुर्बल कहा जाता है और अधिक अंशोंके प्रगट हो जानेसे वही ज्ञान सबल कहा जाता है। इसके सिवा ज्ञानमें और किसी प्रकारकी सबलता या निर्बलता नहीं आती है।

उत्पादादिके कहनेकी प्रतिज्ञा—

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अर्थ—इस प्रकार पर्यायोंका लक्षण, जैसा कुछ था कहा गया। अब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भिन्न २ स्वरूप यथाशक्ति कहा जाता है।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि *तत्त्रितयम् ॥ २०० ॥

अर्थ—उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, ये तीनों ही पर्यायोंके होते हैं, पदार्थके नहीं होते, और उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है । इस लिये वे तीनों मिल कर द्रव्य कहलाते हैं ।

भावार्थ—यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पदार्थके माने जावें तो पदार्थका ही नाश और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है, कि न तो किसी पदार्थका नाश होता है, और न किसी पदार्थकी नवीन उत्पत्ति ही होती है इसलिये यह तीनों पदार्थकी अवस्थाओंके भेद हैं, और वे अवस्थाएं मिलकर ही द्रव्य कहलाती हैं, इस लिये तीनोंका समुदाय ही द्रव्यका पूर्ण स्वरूप है ।

उत्पादका स्वरूप—

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥ २०१ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें परिणमन शील द्रव्यकी नवीन अवस्थाको उत्पाद कहते हैं । वह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत् और असत् भावसे विशिष्ट है ।

व्ययका स्वरूप—

अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ—तथा व्यय भी पदार्थका नहीं होता है, किन्तु उसी परिणमन शील द्रव्यकी अवस्थाका व्यय होता है । इसीको +प्रध्वंसाभाव कहते हैं । वह प्रध्वंसाभाव परिणमनशील द्रव्यके अवश्य होता है ।

---

* पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ १ ॥
अष्टसहस्री

जिसके दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका व्रत है वह दूध नहीं पीता है, जिसके अगोरस व्रत है वह दूध दही, दोनोंको नहीं ग्रहण करता है । इसलिये तत्त्व त्रयात्मक है ।

+ नैयायिकोंने जिस प्रकार तुच्छाभावको स्वतन्त्र पदार्थ माना है उस प्रकार जैन सिद्धान्त अभावको स्वतन्त्र तुच्छरूप नहीं मानता । जैन मतमें वर्तमान समय [illegible] पर्यायको [illegible] कहते हैं [illegible] अभावको [illegible] कहते हैं । तथा उसीके वर्तमान समयसे पहले [illegible] प्रध्वंसाभाव कहते हैं । इसकी एक पर्यायके [illegible] अन्य पर्यायके अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं । और उसीके त्रिकालवर्ती पर्यायके अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं । यह चारों प्रकारका अभाव पर्यायरूप है ।

ध्रौव्यका स्वरूप—

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ—ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पदार्थके होता है। पर्यायदृष्टिको छोड़कर केवल पदार्थका ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह वह भी एक अंश स्वरूप है। सर्वांश रूप नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टिसे नहीं होते हैं उस प्रकार ध्रौव्य भी द्रव्य दृष्टिसे नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टिसे होता है, इसीलिये उसको भी वस्तुका एक अंशरूप कहा गया है। यदि तीनोंको द्रव्यदृष्टिसे ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

ध्रौव्यका ही स्वरूपान्तर—

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥२०४॥

अर्थ—ध्रौव्यका लक्षण "तद्भावाव्ययम्" यह भी कहा गया है, उसका भी यही उत्तम अर्थ है कि वस्तुके भावका नाश नहीं होता, अर्थात् जो वस्तुका पहले परिणाम है, वही परिणाम पीछे भी होता है।

दृष्टान्त—

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमँश्च गन्धगुणः ।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पका गन्ध परिणाम है, और गन्ध गुण भी परिणामी है, वह भी प्रतिक्षण परिणमन करता है, वह अपरिणामी नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थ—गन्ध गुण परिणमन शील होनेपर भी वह पुष्पमें सदा पाया जाता है, उसका कभी पुष्पमें अभाव नहीं है, बस इसीका नाम ध्रौव्य है, जो गन्धपरिणाम पहले था वही पीछे रहता है।

नित्य और अनित्यका विचार—

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य ।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥२०६॥

अर्थ—इन तीनोंमें उत्पाद और व्यय ये दो तो उस परिणामी द्रव्यमें अनित्यताके कारण हैं और ध्रुव (ध्रौव्य) नित्यताका कारण है, ये तीनों ही एक २ अंशरूपसे भिन्न हैं।

आशङ्का—

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका न करे कि द्रव्यमें सत्त्व तो सर्वथा नित्य है बाकी का कोई गुण नित्य नहीं है, और उससे सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनों हैं। क्योंकि—

उत्तर—

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥ २०८ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई आशंकाके अनुसार माननेपर सभी विप्रतिपत्तियें आजायगी। प्रदेश भेद माननेमें न गुणकी सिद्धि होगी न पर्यायकी सिद्धि होगी। न द्रव्यकी, और न सत् की ही सिद्धि होगी। क्योंकि भिन्न २ स्वीकार करनेमें एक भी (कुछ भी) सिद्ध नहीं होगा।

दूसरा दोष—

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—उत्पाद, व्ययको सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र माननेसे और द्रव्यको उससे भिन्न सर्वथा नित्य माननेसे यह भी दूषण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा, और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि एकके अनेक धर्म नहीं हो सकते।

भावार्थ—द्रव्यको अनेक धर्मात्मक माननेपर तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्यकी व्यवस्था बन जाती है और सर्वथा भिन्नतामें वस्तुको एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विघटित हो जाती है।

तीसरा दोष—

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोऽयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरस्वपक्षिपमात् ॥ २१० ॥

अर्थ—भिन्नतामें यह द्रव्य है, यह गुण है यह पर्याय है, ऐसा काल्पनिक भेद भी होता है वह भी उठ जायगा, क्योंकि भिन्नतामें द्रव्यान्तरकी तरह सर्वथा भिन्न २ द्रव्य बन जायेंगे।

शंकाकार—

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥ २११ ॥

अर्थ—द्रव्य और गुण समुद्रकी तरह नित्य हैं और पर्यायें तरंगोंकी
होती हैं और नष्ट होती हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—

नैवं यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥

अर्थ—शङ्काकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जो दृष्टान्त समुद्र
उसने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थका बाधक हो जाता है और उसके अभि
(विपक्ष) अर्थका साधक हो जाता है। किस प्रकार ? सो नीचे कहा जाता है—

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार तरंग मालाओंसे लक्षित समुद्र एक ही है ऐसा ही नहीं
समुद्रसे भिन्न हों और समुद्र उनसे भिन्न हो, किन्तु तरंगोंसे डोलायमान हो
अभिन्न है, उसी प्रकार सत् (द्रव्य) से भिन्न गुण और पर्यायें पदार्थान्तर नहीं

स्पष्ट अर्थ—

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४

अर्थ—किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरङ्गमालायें हैं क्योंकि स्व
ही तरंगरूप परिणाम धारण करता है।

दार्ष्टान्त

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम्

अर्थ—इसलिये (अथवा इसी प्रकार) स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्व
व्यय है, और वही स्वयं ध्रौव्य है। सत्से भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय
न ध्रौव्य है।

अथवा—

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१६ ॥

अर्थ—अथवा भेद विकल्प निरपेक्ष-शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पाद है
है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है। केवल सत् ही सत् है।

सारांश—

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम्।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥ २१७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि यदि भेदबुद्धि रक्खी जाती है तब तो द, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत् के अंशरूपसे प्रगट हो जाते हैं, और यदि मूलसे भेद को ही दूर कर दिया जाय, तब तीनोंही सन्मात्र वस्तुमें लीन हो जाते हैं।

भावार्थ—भेद विकल्पसापेक्ष-अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वही सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य प परिणमन करता है और भेद विकल्प निरपेक्ष-शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वही सत् वस्तु त्र ही प्रतीत होता है।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि उत्पाद और व्यय (नाश) ये दोनों ही अंश-स्वरूप रहो, परन्तु ध्रौव्य तो सदा रहता है वह किस प्रकार अंश रूप हो सकता है?

उत्तर—

नैवं यतस्त्रयोंऽशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥ २१९ ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ये तीनों ही अंश स्वयं सत् स्वरूप वास्तवमें सत् के नहीं है और न पदार्थान्तरकी तरह ही अंश रूप हैं। किन्तु स्वयं ही प्रत्येक अंश रूप है।

भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही सत्के उसप्रकार अंश नहीं हैं, जिस प्रकार वृक्षके फल, फूल पत्ते आदि होते हैं, किन्तु स्वयं सत् ही उत्पादादि स्वरूप है।

उदाहरण—

तत्रेदमुदाहरणं यदुत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिति वस्तु ॥ २२० ॥

अर्थ—इस विषयमें यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादरूपसे लक्ष्य किया जाता है, यह उत्पाद रूप परिणाम धारण करता है तो वह केवल उत्पाद रूप है।

अथवा

दि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि न स्यात् ॥ २२१ ॥

अर्थ—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह सत् व्यय परिणामको धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मात्र ही है।

अथवा—

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—यदि सत् ध्रौव्य परिणामको धारण करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्यय के समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें इस बातका निश्चय किया गया है कि उत्पाद व्यय, ध्रौव्य सत्से भिन्न हैं अथवा सत्के एक २ भागमें होनेवाले अंश हैं। साथ ही बतलाया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप हैं और तीनोंही एक साथ होते हैं। पर जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है। सत् स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥ २२३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के लिये मिट्टी द्रव्य है। जिस × समय वह मिट्टी सत् स्वरूप घटका लक्ष्य होती है। उस समय वह केवल घट मात्र है और जिस समय वह असत् स्वरूप पिंडका लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच मृत्तिकात्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अर्थ—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनेका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है। इस प्रकार एक ही सत् (द्रव्य) के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते हैं।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥ २२५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सत् (द्रव्य) का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका किसी एक भागसे व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो। जिस प्रकार कि वृक्षके एक भागमें फल हैं तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमें पत्ते हैं। किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है।

× यहांपर 'जिस समय' से आशय केवल विवक्षासे है। जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी रूपसे समझीजाती है। वास्तवमें तीनोंका समयभेद नहीं है।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥२९६॥

अर्थ—क्या उत्पादादिक तीनों ही अंशोंके होते हैं? अथवा अंशीके होते हैं? अथवा सत्के अंश मात्र हैं? अथवा असत्-अंश रूप भिन्न २ हैं?

उत्तर—

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥ २९७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि यहां पर जैन दर्शनमें नियमसे अनेकान्त ही बलवान् है । सर्वथा एकान्त नहीं । यदि ऊपर किये हुए प्रश्न अनेकान्त दृष्टिसे किये गये हैं तो सभी कथन अविरुद्ध है । किसी दृष्टिसे कुछभी कहा जाय उसमें विरोध नहीं आसकता । और अनेकान्तको छोड़कर केवल एकान्त रूपसे ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये हैं तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी हैं । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध है । और वही कथन उसके बिना विरुद्ध है ।

भावार्थ—जैन दर्शन प्रमाणनयात्मक है । जिस किसी पदार्थका किसी रूप विवेचन क्यों न किया जाय, नयदृष्टिसे सभी संगत हो जाता है । वही कथन अपेक्षादृष्टिको छोड़कर किया जाय तो असंगत हो जाता है । यहा पर कोई यह शंका न कर बैठे कि कभी किसी रूप कभी किसी रूप कहनेसे और कभी किसी रूप कहनेसे जैन दर्शन किसी बातका निर्णायक नहीं है किन्तु संशयात्मक है । ऐसा कहनेवालोंको थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करना चाहिये । जैन दर्शन संशयात्मक नहीं किन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूपका कहनेवाला है । वस्तु एक धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है । इसलिये वह अनेक रूपसे ही कही जाती है । एक रूपसे कहना उसके स्वरूपको बिगाड़ना है । संशय उभयकोटिमें समान ज्ञान होनेसे होता है, यहां पर उभय कोटिमें समान ज्ञान नहीं है । यद्यपि एक ही पदार्थको अनेक धर्मों द्वारा कहा जाता है परन्तु जिस दृष्टिसे जो धर्म कहा जाता है उस दृष्टिसे वह सदा वैसा ही है । उस दृष्टिसे वह सदा एक धर्मात्मक ही है । दृष्टान्तके लिये पुस्तकको ही ले लीजिये । पुस्तक भाव रूप भी है और अभावरूप भी है । अपने स्वरूपकी अपेक्षासे तो वह भाव रूप है और घट पट पदार्थोंकी अपेक्षासे वह अभावरूप है । ऐसा नहीं है कि कभी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे भी वह अभावरूप कही जाय । अथवा घट-पटादिकोंकी अपेक्षासे भी कभी भावरूप कही जाय । [illegible] का समुदाय-प्रमाणसे तो वस्तु भावरूप भी है, अभावरूप भी है । परन्तु नय दृष्टिसे जिस रूपसे भावरूप है उस रूपसे सदा भावरूप ही है और जिस दृष्टिसे अभावरूप है उसका [illegible]

अभावरूप ही है। इसलिये स्याद्वादको वे ही तर्कशास्त्री संशयात्मक कह सकते हैं जिन्होंने न तो संशयका ही स्वरूप समझा है और न स्याद्वादका ही स्वरूप समझा है। इसी प्रकार जो *लोग "नैकस्मिन्नसंभवात्" अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं ऐसा कहकर स्याद्वाद स्वरूप जैन दर्शनको असत्यात्मक ठहराते हैं वे भी पदार्थके यथार्थ बोधसे कोसों दूर हैं अस्तु। क्या हमें वे यह समझा देंगे कि पुस्तकको पुस्तक ही क्यों कहते हैं! पुस्तकको दावात क्यों नहीं कहते? कलम क्यों नहीं कहते? चौकी क्यों नहीं कहते? दीपक क्यों नहीं कहते? यदि वे इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहें कि पुस्तकमें पुस्तकत्व ही धर्म रहता है इसलिये वह पुस्तक ही कही जाती है। उसमें दावातत्व धर्म नहीं है, कलमत्व धर्म नहीं है, चौकीत्व धर्म नहीं है दीपकत्व धर्म नहीं है इसलिये वह पुस्तक दावात, कलम, चौकी, दीपक नहीं कही जाती है, अर्थात् पुस्तकमें पुस्तकत्व धर्मके सिवा इतर जितने भी उससे भिन्न पदार्थ हैं, सबोंका पुस्तकमें अभाव है। इसीप्रकार हरएक पदार्थमें अपने स्वरूपको छोड़कर बाकी सब पदार्थोंके स्वरूपका अभाव रहता है। यदि अन्य पदार्थोंके स्वरूपका भी सद्भाव हो तो एक पदार्थमें सभी पदार्थोंकी सङ्करताका दोष आता है और यदि पदार्थमें स्व-स्वरूपका भी अभाव हो तो पदार्थके अभावका ही प्रसंग आता है। इसलिये स्व-स्वरूपकी अपेक्षासे भाव और पर-स्वरूपकी अपेक्षासे अभाव ऐसे हरएक पदार्थमें दो धर्म रहते हैं। बस इसी उत्तरसे दो विरोधी धर्मोंका एक पदार्थमें अभाव बतलानेवाले तर्कशास्त्री स्वयं समझ गये होंगे कि एक पदार्थमें भाव-धर्म और अभाव धर्म दोनों ही रहते हैं। इनके स्वीकार किये विना तो पदार्थका स्वरूप ही नहीं बनता। इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध और उसके बिना विरुद्ध है। यहांपर यह शंका करना भी व्यर्थ है कि भाव और अभाव दोनों विरोधी हैं फिर एक पदार्थमें दोनों कैसे रह सके हैं? इसका उत्तर ऊपर कहा भी जा चुका है। दूसरे-जिसको विरोध× बतलाया जाता है वह वास्तवमें विरोध ही नहीं है। पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है। "स्वभावोऽतर्कगोचरः" अर्थात् किसीके स्वभावमें तर्क काम नहीं करता है। अग्निका स्वभाव उष्ण है। यहां अग्नि उष्ण क्यों है? " यह प्रश्न व्यर्थ है, प्रत्यक्ष बाधित है।

* शङ्कराचार्य मतके अनुयायी।

× विरोध तीन प्रकार होता है। १ सहानवस्थान २ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक ३ वध्यघातक। इन तीनोंमेंसे भाव-अभावमें एक भी नहीं है। विशेष बोधके लिये इस कारिकाको देखो—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १ ॥

[illegible] वस्तुनो [illegible] । तथा कथंचिदसदेव [illegible] । [illegible] प्रतिनियतस्वरूपाभावप्रसङ्गात् [illegible] । [illegible] । अष्टसहस्री

ऊपर की हुई शङ्काका खुलासा उत्तर—

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम्।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम्॥ २२८॥

अर्थ—केवल अंशोंके ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं होते हैं और न केवल अंशीके ही तीनों होते हैं। किन्तु अंशी के अंश रूपसे उत्पादादिक तीनों होते हैं।

शङ्काकार—

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात्।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चैकस्य कथमिति चेत्॥ २२९॥

अर्थ—एक पदार्थ के उत्पाद और ध्वंस भले ही हों; परन्तु उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी होता है, यह बात वचन मात्र है, और प्रत्यक्ष बाधित है। एक ही पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों किस प्रकार हो सके हैं?

उत्तर—

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति॥ २३०॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना तभी ठीक हो सकता है अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीनोंका एक पदार्थमें तभी विरोध आसकता है जब कि इन तीनोंका क्षण भेद हो। अथवा यदि स्वयं सत् ही नष्ट होता हो, और सत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनोंमें विरोध आ सकता है।

नापि कुतश्चित् किंचित् कस्यापि कथंचनापि तत्स्यात्।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात्॥ २३१॥

अर्थ—परन्तु ऐसा कहीं किसी कारणसे किसीके किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है। उत्पाद भिन्न समयमें होता हो, व्यय भिन्न समयमें होता हो, और ध्रौव्य भिन्न समयमें होता हो इस प्रकार तीनोंके क्षण भेदको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है, और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है।

शङ्काकार—

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात्।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा॥ २३२॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य।
एवं लक्षणभेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्ववदिति चेत्॥ २३३॥

अर्थ—उत्पाद अपने समयमें होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है। व्यय अपने समयमें होता है, क्योंकि संहार होना ही उसका लक्षण है। इसी प्रकार ध्रौव्य भी अपने समयमें होता है, क्योंकि उसका ध्रुव रहना ही स्वरूप है। जिस प्रकार बीज अङ्कुर और वृक्ष, इनका भिन्न २ लक्षण है उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भी भिन्न २ लक्षण है।

भावार्थ—भिन्न २ लक्षण होनेसे तीनोंका भिन्न २ समय है ?

उत्तर—

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अर्थ—लक्षणभेद होनेसे तीनोंको भिन्न २ समयमें मानना ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनोंका समयभेद नहीं है। तीनों एक ही समयमें होते हैं। यह बात हेतु और दृष्टान्तसे भली भाँति सिद्ध है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदैव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्त्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥ २३५ ॥

अर्थ—बीज अपनी पर्यायके समयमें है। बीज पर्यायके समय बीजका अभाव नहीं कहा जा सकता। बीज पर्यायके समय बीज पर्यायका व्यय भी नहीं कहा जा सकता [illegible] अङ्कुरपर्यायके उत्पाद-समयमें बीज पर्यायका व्यय कहा जा सकता है।

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समय बीज पर्यायका है, वह अङ्कुरकी उत्पत्तिका नहीं [illegible] समझना। बीज पर्यायके समय अङ्कुरके उत्पादका अभाव ही है। इस लिये अङ्कुरका उत्पाद भी अपने ही समयमें होगा, अन्य समयमें नहीं।

यदि वा बीजाङ्कुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥ २३७ ॥

अर्थ—अथवा बीज और अङ्कुर इन दोनोंकी सामान्य रीतिसे यदि वृक्ष कहा [illegible] तो वृक्ष न तो उत्पन्न हुआ, और न वह नष्ट हुआ, किन्तु बीज पर्यायसे नष्ट हुआ है, और [illegible] पर्यायसे उत्पन्न हुआ है।

सारांश—

आयातं न्यायबलादेतद्यत्त्रितयमेककालं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥ २३८ ॥

फिर भी खुलासा—

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य ।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो अंकुरकी उत्पत्तिका समय है । वही समय बीजके नाशका है, और अंकुर उत्पाद तथा बीजका नाश दोनों ही वृक्ष स्वरूप हैं । इस लिये जो समय बीजके नाश व अंकुरके उत्पादका है वही समय वृक्षके ध्रौव्यका है ।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात् ।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

अर्थ—इसलिये यह बात भले प्रकार निर्दोष सिद्ध हो गई कि सत् (पदार्थ)के एक समयमें [illegible] होते हैं वे भी पदार्थके पर्यायदृष्टिसे होते हैं, पर्यायदृष्टि [illegible] पदार्थके नहीं होते।

विशेष [illegible]—

[illegible] हि [illegible] केवलस्य तत्त्रितयम् ।
[illegible] क्षणभेदोपि न तदैव [illegible] ॥ २४१ ॥

अर्थ—[illegible] उत्पाद आदि तीनों, पर्यायविशेष केवल पदार्थके ही मानें और [illegible] होगा, और उसी समय [illegible]

[illegible]

[illegible] पुनः ।
[illegible] ॥ २४२ ॥

अर्थ—[illegible] उत्पाद है, और [illegible]

[illegible]

[illegible] पर्यायेण पुनः ।
[illegible] ॥ २४३ ॥

अर्थ—[illegible] होता है, [illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २४४ ॥

उसीका खुलासा —

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अर्थ—तीनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है कि विनाश (व्यय) विना उत्पादके नहीं हो सक्ता । क्योंकि किसी पर्यायका अभाव नियमसे भाव पूर्वक ही होता है ।

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥२५२॥

अर्थ—उत्पाद भी विना व्ययके नहीं हो सक्ता, क्योंकि ऐसी प्रतीति है कि नवीन जन्म लेनेवाला भाव अभावसे ही कृतार्थ होता है ।

भावार्थ—किसी पर्यायका नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है। पदार्थ तो किसी न किसी अवस्थामें सदा रहता ही है । इस लिये यह आवश्यक है कि पहले अवस्थाका नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो ।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्ध्रौव्यम् ।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अर्थ—अथवा विना ध्रौव्यके उत्पाद, व्यय भी नहीं होसक्ते, क्योंकि वस्तुकी सत्ता होने पर ही उसके आश्रयसे भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सक्ते हैं ।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोप्यभावत्वात् ॥२५४॥

अर्थ—अथवा विना उत्पाद और व्यय दोनोंके ध्रौव्य भी नियमसे नहीं रह सक्ता है, क्योंकि विशेषके अभावमें सामान्य सत्का भी अभाव ही है ।

भावार्थ—वस्तु *सामान्य विशेषात्मक है । विना †सामान्यके विशेष नहीं हो सक्ता, और विना विशेषके सामान्य भी नहीं हो सक्ता । उत्पाद, व्यय विशेष हैं, ध्रौव्य सामान्य है। इस लिये विना उत्पाद, व्यय विशेषके ध्रौव्य सामान्य नहीं बन सक्ता है और इसी प्रकार विना ध्रौव्य सामान्यके उत्पाद व्यय विशेष भी नहीं बन सक्ते हैं ।

सारांश—

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिह्नववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

* सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः ।

† निर्विशेषं हि सामान्यं भवे[illegible] । निस्सामान्य विशेषश्च भवेच्छशविषाणवत् ॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी व्यवस्था घटित करना चाहिये। अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नहीं घटित की जा सकती है। क्योंकि दूसरेका विघात करनेमें अपना ही विघात हो जाता है।

भावार्थ—ऊपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनोंको एक साथ माननेसे ही यह व्यवस्था बन सकती है तीनोंमेंसे किसी एकका अथवा दोका अभाव माननेसे बाकीके दो अथवा एक भी नहीं ठहर सकता है।

केवल उत्पादके माननेमें दोष—

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५६ ॥

अर्थ—जो केवल एक उत्पादको ही मानता है उसके मतमें असत्का उत्पाद होने लगेगा, अथवा कारणका अभाव होनेसे उत्पाद ही न होगा।

केवल व्ययके माननेमें दोष—

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम्।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥२५७॥

अर्थ—उत्पादपक्षनिरपेक्ष केवल व्ययको ही जो मानता है, उसके यहां सत्का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायगा। अथवा विना कारण उसका नाश भी नहीं हो सकता।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच नापि तद्ध्रौव्यम् ॥२५८॥

अर्थ—इसी प्रकार जो उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्षको ही स्वीकार करते हैं, उनके मतमें द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्यके अपरिणामी होनेसे उसके ध्रौव्य भी नहीं बन सकता है।

ध्रौव्य निरपेक्ष उत्पाद व्ययके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५९ ॥

अर्थ—ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दोको ही जो प्रमाणभूत मानता है, उसके यहां सभी क्षणिककी तरह हो जायगा। अथवा सत् पदार्थके अभावमें न तो व्यय ही बन सकता है और न उत्पाद ही बन सकता है।

सारांश—

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥ २६० ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए दोषोंके भयसे आदिवाक्यके माननेवाले पुरुषको प्रकृतमें उत्पाद आदिक तीनोंका ही अविनाभाव मानना चाहिये।

भावार्थ—तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है।

नयी प्रतिज्ञा—

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यदुत्पादव्ययादियुक्तं सत्।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥२६१॥

अर्थ—द्रव्य गुणपर्यायका समूह है और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाला है, यह बात तो कही जा चुकी। अब अनेकान्त (स्याद्वाद)का बोध होनेके लिये वस्तुका विचार करते हैं-

अनेकान्त चतुष्टय—

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २६२ ॥

अर्थ—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इस प्रकार इन चार युगलोंकी तरह वस्तु अनेक धर्मोंसे गुंथी हुई है।

चतुष्टय होनेमें कारण—

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वाऽपि भावेन ॥ २६३ ॥

अर्थ—उसीका खुलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूपसे) है वही कथंचित् नहीं भी है। इसी प्रकार जो कथंचित् नित्य है वही कथंचित् अनित्य भी है। जो कथंचित् एक है वही कथंचित् अनेक भी है। जो कथंचित् वही है, वह कथंचित् वह नहीं भी है इस प्रकार ये चारों ही कथंचित् वाद (स्याद्वाद) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा होते हैं।

द्रव्यकी अपेक्षासे कथन।

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ॥ २६४ ॥

अर्थ—एक तो महासत्ता है। दूसरी अवान्तर सत्ता है। इन* दोनों सत्ताओंका वस्तुमें भिन्न प्रदेश नहीं है अर्थात् सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तथा दोनोंमें स्वरूप भेद भी नहीं है। दोनोंका एक ही स्वरूप है केवल अपेक्षा-कथन भेद है।

* इन दोनों सत्ताओंका स्वरूप विशद रीतिसे पहले भी कहा जा चुका है। इसग्रंथके प्रारंभमें भी कहा गया है।

महासत्ताका स्वरूप—

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥

अर्थ—किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थोंके समूहको स्पर्श करनेवाला है उसे ही महासत्ताके नामसे कहते हैं । वह सामान्यका ग्रहण करनेवाला है और उसहीकी अपेक्षासे वस्तु सन्मात्र है ।

भावार्थ—हरएक पदार्थका अस्तित्व गुण जुदा जुदा है, उसी अस्तित्व गुणको 'सत्' इस नामसे भी कहते हैं, क्योंकि उसीसे वस्तुकी सत्ता कायम रहती है । वह सत्गुण समान रीतिसे सब वस्तुओंमें एक सरीखा है । एक सरीखा होनेसे ही उसे एक भी कह देते हैं और उसीका नाम महासत्ता रखते हैं । वास्तवमें ' महासत्ता ' नामक कोई एक पदार्थ नहीं है । केवल समानताकी अपेक्षासे इसको एकत्व संज्ञा मिली है ।

अवान्तर सत्ताका स्वरूप—

अपिऽचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन्गुणश्च पर्यायः ।
सच्चोत्पादध्वंसः सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥

अर्थ—अवान्तर सत्ता हरएककी जुदी जुदी है । वह भिन्न २ रीतिसे ही कही जाती है । जैसे–सत्द्रव्य, सत्गुण, सत्पर्याय, सत्उत्पाद, सत्ध्वंस, सत्ध्रौव्य इस प्रकार और भी लगा लेना चाहिये ।

भावार्थ—सब जगह व्याप कर रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं और उस महासत्ताकी अपेक्षा जो थोड़ी जगहमें रहती है उसे अवान्तर सत्ता कहते हैं महासत्ता सामान्य रीतिसे सब पदार्थोंमें रहती है इसलिये उसकी अपेक्षासे पदार्थोंमें भेद नहीं है, किन्तु सभी एक कहलाते हैं । परन्तु अवान्तर सत्ता सब पदार्थोंमें भेद करती है । जैसे–महासत्ताकी अपेक्षा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सभी सत्रूप कहलाते हैं, वैसे ही अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ कहलाते हैं । अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे द्रव्यका सत् जुदा है, गुणका जुदा है और पर्यायका जुदा है । द्रव्यमें भी घड़ेका सत् जुदा है, टेबिलका जुदा है तथा कुर्सीका जुदा है । गुणोंमें भी ज्ञानका जुदा है दर्शनका जुदा है और सुखका जुदा है । पर्यायोंमें भी वर्तमान पर्यायका जुदा है भूत पर्यायका जुदा है और भविष्यत्का जुदा है । इस प्रकार अवान्तर सत्ताके अनेक भेद होते हैं ।

अस्ति नास्ति कथन

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत ।
स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव न तु मूलात् ॥ २६७ ॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिका अर्थ यह है कि वस्तु जिस समय महासत्ताकी अपेक्षासे कथंचित् है, उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे कथंचित् नहीं भी है। वस्तुमें अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे ही अभाव आता है। वस्तुतः वह अभावात्मक नहीं है।

अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदाद्यधार्येत वस्तु।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा॥ २६८॥

अर्थ—इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है, उस समय उसकी अपेक्षासे तो वह कथंचित् है। परन्तु प्रतिपक्षी महासत्ता की अपेक्षासे कथंचित नहीं भी है।

भावार्थ—वास्तवमें वस्तु तो जैसी है, वह वैसी ही है। उसमेंसे न तो कुछ कम जाता है और न उसमें कुछ कभी आता है। केवल कथन शैलीसे उसमें भेद हो जाता है। जिस समय वस्तुको महासत्ताकी दृष्टिसे देखते हैं, उस समय वह सत्रूप ही दीखती है। उस समय वह द्रव्य नहीं कही जा सकी, गुण भी नहीं कही जा सकी, और पर्यायभी नहीं कही जासकी। इस लिये उस समय यह कहा जा सक्ता है कि वस्तु सत् रूपसे तो है, परन्तु द्रव्य, गुण, पर्याय आदि रूपसे नहीं है। इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे वस्तु देखी जाती है उस समय वह द्रव्य अथवा पर्याय आदि विशेष सत् रूपसे तो है, परन्तु सामान्य सत् रूपसे नहीं हैं। इस प्रकार वस्तुमें कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व सुघटित होता है। वस्तुमें नास्तित्व केवल अपेक्षा दृष्टिसे ही आता है। वास्तवमें वस्तु अभाव स्वरूप नहीं हैं।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च॥ २६९॥

अर्थ—कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्वका दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य पटकी अपेक्षासे तो है परन्तु वही पट द्रव्य पटके शुक्लादि गुणोंकी अविवक्षाकी अपेक्षासे नहीं है।

भावार्थ—शुक्लादि गुणोंका समूह ही पट कहलाता है। जिस समय पटको मुख्य रीतिसे कहते हैं उस समय उसके गुण नहींके बराबर समझे जाते हैं और जिस समय गुणोंको मुख्य रीतिसे कहते हैं, उस समय पट भी नहीं के बराबर समझा जाता है। अपेक्षासे ही वस्तुमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, तथा उसी व्यवस्थासे वस्तुमें कथंचित् अस्तिवाद और कथंचित् नास्तिवाद आता है इसीका नाम स्याद्वाद है।

क्षेत्रकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अर्थ—वस्तुका क्षेत्र भी दो प्रकारसे कहा जाता है । एक सामान्य, दूसरा विशेष । स्तुके जितने प्रदेश हैं उन प्रदेशोंके समुदायात्मक देशको तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और सके अंशोंको विशेष क्षेत्र कहते हैं ।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽविवक्षितत्वान्न ॥ २७१ ॥

अर्थ—जिस समय केवल प्रदेशोंके समुदायकी अपेक्षासे देश रूप वस्तु कही जाती उस समय वह देश रूप स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे तो है परन्तु उस देशके अंशोंकी अविवक्षा नेसे अंशोंकी अपेक्षासे नहीं है ।

अथ केवलं तदंशात्तावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥ २७२ ॥

अर्थ—अथवा जिस समय केवल देशके अंशोंकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है उस मय वह अंशोंकी अपेक्षासे तो है, परन्तु देशकी विवक्षा न होनेसे देशकी अपेक्षासे नहीं है ।

दृष्टान्त—

संदृष्टिःपटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्वाद्वा ॥ २७३ ॥

अर्थ—क्षेत्रके लिये दृष्टान्त पट रूप देश है । वह शुक्लादिभाव-तन्तु समुदायकी पेक्षासे तथा भिन्न भिन्न अंशोंकी अपेक्षासे कथंचित् अस्ति नास्ति रूप है । जिस समय समकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) की जाती है वह तो उस समय मुख्य होनेसे अस्ति रूप और इतर अविवक्षित होनेसे उस समय गौण है इसलिये वह नास्ति रूप है । इस प्रकार त्रकी अपेक्षासे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व समझना चाहिये ।

कालकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

कालो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन ।
सोपि पूर्ववदद्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥ २७४ ॥

अर्थ—काल नाम वर्तनाका है । अथवा वस्तुका स्वभावसे * परिणमन होना है । ह काल भी पहलेकी तरह सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकार है ।

---

* भाव्यन्ते वर्तनाशीलं द्रव्याणि निजपर्ययैः
वर्तनापरिणामाद्यैः यतो हेतुत्वेन ॥ १ ॥

कालका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥ २६५ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है । उन दोनोंमें किसी एकके [illegible] और [illegible] होनेसे अस्तित्व और नास्तित्व आता है ।

विधि और प्रतिषेधका लक्षण—

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥ २६६ ॥

अर्थ— [illegible] कल्पना रहित निरंश परिणमनको विधि कहते हैं । जैसे-[illegible] [illegible] [illegible] कल्पना नहीं है किन्तु उसका सामान्य परिणमन है । [illegible] [illegible] अंश कल्पनाको प्रतिषेध कहते हैं ।

[illegible] सामान्य परिणमनकी अपेक्षासे वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता [illegible] [illegible] अपेक्षासे वही एक निरंशरूप वस्तु अनेक भेदवाली हो जाती है और [illegible] भेद ही प्रतिषेध कहा है ।

[illegible]—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

दृष्टान्त—

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्त्वकालतया ।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है । सामान्य परिणमनको धारण करनेवाला पट, सामान्य-स्वकालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप विशेष परिणमन (परकाल) की अपेक्षासे नहीं है ।

भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन—

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—भाव नाम परिणामका है और वही तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति है, अथवा शक्तियोंके समूहका नाम भी भाव है, अथवा वस्तुके सारका नाम ही भाव है ।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोऽपि परभावः ॥ २८० ॥

अर्थ—वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है । इन दोनोंमें जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य होजाता है और जो अविवक्षित भाव है वह गौण होजाता है

भावका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप ही है । वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है । विशेष प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है अंश सहित है और सापेक्ष है ।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

अर्थ—उपरके श्लोकका खुलासा अर्थ यह है कि सत् (पदार्थ) जब तक अखण्ड वस्तुतासे सामान्यरीतिसे स्थित है, और जब तक उसमें भेद कल्पना नहीं की जाती है तब तक तो वह सत् शुद्ध अखण्ड है, और जब वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदोंसे विभक्त किया जाता है, तब वही सत् विशेष-स्वरूप कहलाता है ।

भावार्थ—वस्तुमें जब तक भेद बुद्धि नहीं होती है तब तक वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे शुद्ध है, और इसी अवस्थामें वह निरपेक्ष है । जब उसमें अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे भेद कल्पना की जाती है, तब वह [illegible] [illegible] है [illegible]

है और उसी आत्मामें वह प्रतिपक्ष भी है । जो सत्ता अन्वय रूपसे रहे उसे [illegible] हैं उसे सिद्ध करते हैं और जो व्यतिरेक रूपसे रहे उसे प्रतिपक्ष [illegible] है । वस्तु [illegible] आत्मामें ही सत्ता अन्वय रूपसे रह सकती है, परन्तु भेद [illegible] व्यतिरेक रूप [illegible] करती है । इसी लिये सत् सामान्यको विधि रूप और [illegible] भेद [illegible] कहा गया है । वस्तुकी विशेष आत्मामें ही प्रतिषेध कल्पना की जाती है ।

भावार्थ—

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदप्यस्ति।
पर्यायविशेषविवक्षाभावादिह सदेव सत्तास्ति ॥ २८३ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थ [illegible] सामान्यतासे [illegible] किये जाते हैं उस समय वे सामान्यतासे तो हैं, परन्तु [illegible] विशेषताकी [illegible] वे नहीं भी हैं ।

अथवा—

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा।
अविवक्षितसामान्यात्तदेव सत्तास्ति नयप्रयोगात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्पूर्ण पदार्थ जिस समय विशेषतासे विवक्षित किये जाते हैं, [illegible] हैं परन्तु उस समय सामान्य विवक्षा उनमें अभाव होनेसे [illegible] हैं ।

[illegible] कथन—

[illegible] विशेषो भावः [illegible] [illegible] ।
[illegible] नास्ति [illegible] ॥ २८५ ॥

अर्थ—[illegible] सामान्य और विशेष अंशोंका भाव [illegible] होता है, और [illegible] और उसी स्वभावकी अपेक्षा वस्तुमें अस्तित्व [illegible] है । जिस समय [illegible] वस्तुमें अभाव [illegible] है । अस्तित्व और नास्तित्व [illegible] है ।

[illegible] —

[illegible] ।
[illegible] विवक्षितो मुख्यः ॥ २८६ ॥

अर्थ—यहां पर भी (ऊपर कहा हुआ) क्रम लगा लेना चाहिये अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, चारों ही जगह अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार विवक्षित भाव है वही मुख्य समझा जाता है । यहां पर "च" से भावका ग्रहण किया गया है ।

दृष्टान्त—

मंदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥२८७॥

अर्थ—पटका भाव, पटका सार, पटके स्वरूपकी प्राप्ति, ये तीनों ही बातें एक अर्थवाची हैं । पटका भाव अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है परन्तु उसके इतर घट आदि भावोंकी अविवक्षा होनेसे वह नहीं है । क्योंकि विवक्षित भावको छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित हैं ।

बाकीके पांच भंगोंके लानेका संकेत—

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—इसी प्रक्रियाके अनुसार बाकीके पांच भङ्ग भी वस्तुमें घटित कर लेना चाहिये । 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' ये दो भंग वर्णकी तरह कह दिये गये हैं । बाकीके भंग पटकी तरह उन्हीं दो भंगोंके योगसे घटित करना चाहिये ।

भावार्थ—जिस प्रकार पकार और टकार इन दो अक्षरोंके योगसे पट शब्द बन जाता है, इसी प्रकार और भी अक्षरोंके योगसे वाक्य तथा पद बन जाते हैं । उसी प्रकार 'स्यात् अस्ति' और स्यान्नास्ति इन दो भंगोंके योगसे बाकीके पांच भंग भी बन जाते हैं । वस्तुमें, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षासे नास्तित्व अथवा विवक्षित भावकी अपेक्षासे अस्तित्व और अविवक्षित भावकी अपेक्षासे नास्तित्व, ऐसे दो भंग तो ऊपर स्पष्टतासे कहे ही गये हैं । ये दोनों तो स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे स्वतन्त्र कहे गये हैं । यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे एकवार ही क्रमसे कहा जाय तो तीसरा भंग 'स्यात् अस्ति नास्ति' होजाता है । परन्तु यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप, पररूप की विवक्षा रखते हुए क्रमको छोड़कर एक साथ ही कहा जाय तो 'स्यात् अस्ति नास्ति' का मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग होजाता है । तीसरे भंगमें तो एकवार कहते हुए भी क्रम रक्खा गया था । इसलिये वचन द्वारा क्रमसे 'स्यात् अस्ति नास्ति' कहा जाता है परन्तु यदि एकवार कहते हुए क्रम न रखकर दोनोंका एक साथ ही कथन किया जाय तो वह कथन वचनमें नहीं आसकता है, क्योंकि वचन द्वारा एकवार एक ही बात कही जासकती है, दो नहीं, इसलिये दोनोंका मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग रहजाता है । और यदि स्वरूप, पररूप दोनोंको

एक साथ विवक्षित किये हुए उस अवक्तव्य भङ्गमें फिर स्वभाव की मुख्य विवक्षा की जाय तो पांचवां " स्यात् अस्ति अवक्तव्य " भङ्ग हो जाता है। और उसी अवक्तव्यमें स्वभावको गौण और परभावको मुख्य रीतिसे विवक्षित किया जाय तो छठा ' स्यात् नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग हो जाता है। इसी प्रकार उस अवक्तव्यमें स्वभाव और परभाव दोनोंकी क्रमसे ही मुख्य विवक्षा रक्खी जाय तो सातवाँ ' स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ' भङ्ग हो जाता है।

ये सातों ही भङ्ग स्वभाव, परभावकी मुख्यता और गौणतासे होने वाले अस्ति, और नास्ति इन्हीं दोनोंके विशेष हैं, इस लिये ग्रन्थकारने इन्हीं दोनोंका निरूपण कर बाकीके भङ्गोंको निकालनेके लिये सङ्केत कर दिया है।

शङ्काकार—

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलासितत्वात् ॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै ।
नोभयमिति मिथ इति चेत् ... ॥ २९० ॥

ही ठीक है । दोनोंका अलग २ ग्रहण करना युक्ति संगत नहीं है, दोनोंका ग्रहण व्यर्थ ही पड़ता है !

उत्तर—

नन्न यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥ २९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ ' अस्ति नास्ति ' स्वरूप उभय (दोनों) भावोंको लिये हुए हैं । यदि इन दोनों भावोंमेंसे किसी एकका भी लोप कर दिया जाय, तो बाकीका दूसरा भाव भी लुप्त हो जायगा ।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि ।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—यदि केवल ' अस्ति ' रूप वस्तुको माना जावे तो वह सदा अन्वयमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेक रूप नहीं होगी और बिना व्यतिरेकभावके स्वीकार किये वह अन्वयकी साधक भी नहीं रहेगी ।

भावार्थ—वस्तुमें एक अनुगत प्रतीति होती है, और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है । जो वस्तुमें सदा एकसा ही भाव जनाती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वयभाव कहते हैं और जो वस्तुमें अवस्था भेदको प्रगट करे उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक कहते हैं । वस्तुका पूर्ण स्वरूप दोनों *भावोंको मिलकर ही होता है । इसी लिये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । यदि इन दोनोंमेंसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नहीं ठहर सका है । फिर

* सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः, न केवलमतो यो अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् स तदात्मा, अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षण-परिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च । सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् रूपरसोदस्तुल्यकालस्य-भिन्नाश्रयवर्तिनोप्यतएव भेदप्रसिद्धेः । एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्त्योरभेदे वातातपादावप्यभे-दप्रसङ्गः । सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारो विशेषप्रतिभासश्च व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

अर्थात् पदार्थ पूर्वाकारको छोड़ता है उत्तराकारको ग्रहण करता है और स्व-स्वरूपकी स्थिति रखता है, इसी त्रितयात्मक परिणामसे पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक अर्थक्रिया होती है । सामान्य, विशेषकी प्रतीति भी पदार्थमें होती है—रूप रसादिक यद्यपि अभिन्न काल तथा अभिन्न क्षेत्रवर्ती हैं तथापि उनकी भिन्न २ प्रतीति होती ही है । एकेन्द्रियादिक जीवोंमें जाति और व्यक्तिमें सर्वथा अभेद ही मान लिया जाय तो वात आतप आदिमें भी अभेदका प्रसंग होगा । सामान्यका प्रतिभास अनुगतरूपसे होता है जैसे कि जातिका । विशेषका प्रतिभास व्यावृत्तरूपसे होता है जैसे कि व्यक्तिका ।

ऐसी अवस्थामें वस्तु भी अपनी सत्ता नहीं रख सकी है। इसलिये अस्ति नास्तिरूप, अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही वस्तुमें एक साथ मानना ठीक है।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥२९३॥

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥२९४॥

तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥ २९५ ॥

दृष्टान्तोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥२९६॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥२९७॥

तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥२९८॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यदि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं बनता, तो व्यतिरेक भी उसी तरह मानो, इसमें हमारी कौनसी हानि है? किन्तु इतना अवश्य मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है, और व्यतिरेक स्वतंत्र है। वे दोनों ऐसे ही स्वतन्त्र हैं जैसे कि जीव और अजीव। यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त हो कि व्यतिरेकमें अन्वय कभी नहीं रहता है तो भी हमारे पक्षका खण्डन नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेकमें अन्वय नहीं रहता है, उसी प्रकार अन्वयमें व्यतिरेक भी नहीं रहता है। इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है, उसी प्रकार व्यतिरेक भी है। सामान्य दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। जैसे अन्वय कहा जाता है, वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है। दृष्टान्त भी इस विषयमें घट पटका ले लीजिये। जिस प्रकार घट अपने स्वरूपको लिये हुए जुदा है, उसी प्रकार अपने स्वरूपको लिये हुए पट भी जुदा है। पटमें घट नहीं रहता है और न घटमें पट ही रहता है, किन्तु घट और पट दोनों जुदे२ हैं। जिसप्रकार पटका अभाव घट नहीं है, और न पटके अभावमें घटकी उत्पत्ति ही होती है। उसी प्रकार घटका अभाव पट नहीं है, और न घटके अभावमें पटकी उत्पत्ति ही होती है। ऐसी अवस्थामें अन्वय

(शंकाकारका यह कहना कि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि घट पटकी तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूपसे जुदा है और व्यतिरेक अपने स्वरूपसे जुदा है, ऐसी अवस्थामें विना व्यतिरेकके भी अन्वय हो सकता है ! भावार्थ—ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार शङ्काकार अन्वयको स्वतन्त्र मानता है और व्यतिरेकको स्वतन्त्र मानता है। वस्तुको वह सापेक्ष उभय धर्मात्मक नहीं मानता है।

उत्तर—

तन्न यतः सदिति स्याद‌द्वैतं द्वैतभावभागपि च ।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥२९९॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि सत् (द्रव्य) कथंचित् अद्वैत भी है, और कथंचित् द्वैत भी है। उन दोनोंमें विधिके विवक्षित होनेपर वह सत् विधि मात्र है, और वही सत् निषेधके विवक्षित होनेपर निषेध मात्र है। भावार्थ-पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा विधि निषेधात्मक है, जिस समय जो भाव विवक्षित किया जाता है, उस समय वह पदार्थ उसी भाव स्वरूप है।

वस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक स्वतन्त्र नहीं हैं—

नहि किंचिद्विधिरूपं किंचित्तच्छेषतो निषेधांशम् ।
आस्तां साधनमस्मिन्नाम द्वैतं न निर्विशेषत्वात् ॥३००॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्यका कुछ भाग तो विधिरूप है, और कुछ भाग निषेध रूप है। इसमें द्वैत-हेतु भी नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य केवल विशेष मात्र ही नहीं है। भावार्थ-शङ्काकारने अन्वय और व्यतिरेक अथवा विधि और निषेधको स्वतन्त्र बतलाया था, इस श्लोक द्वारा उसीका खण्डन किया गया है। यदि विधि और निषेधको स्वतन्त्र ही वस्तुमें माना जाय तो अवश्य ही उन दोनोंमें विरोध आवेगा। "नैकस्मिन्नसंभवात्" अर्थात् एक पदार्थमें दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं, यह दोष वस्तुमें तभी आता है जब कि उसमें दोनों धर्मोंको स्वतन्त्र माना जाता है, परन्तु सापेक्षतामें दोनों ही धर्म अविरुद्ध हैं। इस लिये जो विधि निषेधको स्वतन्त्र कहते हैं वे उपर्युक्त दोषसे अपनेको अलग नहीं कर सके हैं और वे स्याद्वादके परिज्ञानसे सर्वथा अपरिचित हैं।

विधि, निषेधमें सर्वथा अन्तर भी नहीं है—

न पुनर्द्रव्यान्तरवदंशा भेदोऽस्त्यवयविनो भवति ।
तत्र विधौ विधिमात्राच्छेषविशेषादिलक्षणाभावात् ॥३०१॥

अर्थ—तथा जिस समय पदार्थपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती केवल उसके परिणामपर ही दृष्टि रक्खी जाती है उस समय वस्तुमें नवीन भाव और पुराने भावकी प्राप्ति अप्राप्ति दोनेंसे वस्तु अनित्यरूप प्रतीत होती है। यहांपर केवल वस्तुके परिणाम अंशको ग्रहण किया गया है, ऊपर उसके द्रव्य अंशको ग्रहण किया गया है। वस्तुके एक देशको ग्रहण करने वाला ही नय है। यहां पर शङ्काकार १८ श्लोकों द्वारा सत् और परिणामके विषयमें अपनी नाना कल्पनाओं द्वारा शङ्का करता है।

ननु चैकं सदिति यथा तथा च परिणाम एव तद् द्वैतम्।
वक्तुं क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न तदिति कुतः ॥ १४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक सत् है उसी प्रकार एक परिणाम भी है, इन दोनोंमें स्वतन्त्र रीतिसे द्वैत भाव है। फिर क्या कारण है कि उन दोनोंमेंसे एकका क्रमसे ही कथन किया जाय, दोनोंका कथन समानतासे एक साथ क्यों नहीं किया जाता। भावार्थ—जब सत् और परिणाम दोनों ही समान हैं तो फिर वे क्रमसे क्यों कहे जाते हैं, स्वतन्त्र रीतिसे एक साथ क्यों नहीं?

क्या सत् और परिणाम वर्णोंकी ध्वनिके समान है—

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगपदेव तुल्यतया।
वक्तव्याः क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरिति न्यायात् ॥ १४२ ॥

अर्थ—सत् और परिणाम क्या क, ख आदि वर्णोंके समान दोनों बराबर हैं। जिस प्रकार क, ख आदि सभी वर्ण एक समान हैं परन्तु वे क्रमसे बोले जाते हैं, क्योंकि ध्वनि उच्चारण क्रमसे ही होता है अर्थात् एक साथ दो वर्णोंका उच्चारण हो नहीं सकता। क्या इसी प्रकार सत् और परिणाम भी समानता रखते हैं और वे क्रमसे बोले जाते हैं?

क्या विन्ध्य हिमाचलके समान है—

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणोऽन्यतरः ॥ १४३ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत और हिमालय पर्वत दोनों ही स्वतन्त्र हैं परन्तु दोनोंमें वक्ता की इच्छासे जो तीक्ष्णदृष्टिसे विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है और दूसरा अविवक्षित गौण समझा जाता है। क्या सत् और परिणाम भी इसी प्रकार स्वतन्त्र हैं, और उन दोनोंमें जो विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है तथा दूसरा गौण समझा जाता है?

क्या सिंह साधु विशेषणोंके समान है—

अथ चैकः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा।
सत्परिणामोपि तथा भवतिति विशेषणविशेष्यवत् किमिति ॥ १४४

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कोई पुरुष शूरता, पराक्रम आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी सिंह कहलाता है और सज्जनता, नम्रता आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी साधु कहलाता है। एक ही पुरुष विवक्षाके अनुसार दो विशेषणोंवाला हो जाता है, अथवा उन दोनोंमें विवक्षित विशेषण कोटिमें आजाता है और अविवक्षित विशेष्य कोटिमें चला जाता है। क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी विवक्षाके अनुसार कहे हुए किसी पदार्थके विशेषण हैं? अर्थात् क्या इनका भी कोई विशेष्य और है?

क्या दो नाम और सव्येतर गोविषाणके समान है—

अथ किमनेकार्थत्वादेकं नामद्वयाङ्कितं किंचित्।
अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणवत् किमथ॥ ३४५॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक ही पदार्थ अनेक नामोंकी अपेक्षा रखनेसे अग्निवैश्वानरके समान दो नामोंसे कहा जाता है अर्थात् अग्निवैश्वानर आदि भेदोंसे एक ही अग्निके दो नाम (अनेक) हो जाते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम एक ही पदार्थके दो नाम हैं? अथवा जिस प्रकार गौके दाँये बाँये (एक साथ) दो सींग होते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी किसी वस्तुके समान कालमें होनेवाले दो धर्म हैं?

क्या कच्ची और पकी हुई पृथ्वीके समान हैं—

अथ किं कालविशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात्।
आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति॥३४६॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कच्ची पृथ्वी (कचा घड़ा) पहले होती है, पीछे अग्निमें देनेसे वह पकी हुई हो जाती है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी काल विशेषसे आगे पीछे होनेवाले हैं? अर्थात् क्या इन दोनोंमेंसे कोई एक पहले होता है और दूसरा पीछे?

क्या दो सपत्नियोंके समान है—

अथ किं कालक्रमतोऽप्युत्पन्नं वर्तमानमिव चास्ति।
भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया॥ ३४७॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार किसी पुरुषकी आगे पीछे परणी हुई दो स्त्रियां (सौतें) एक कालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहती हैं। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम काल क्रमसे आगे पीछे उत्पन्न होते हुए भी एक कालमें—वर्तमानकालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहते हैं! अर्थात् भिन्न कालमें उत्पन्न होकर भी दोनों एक कालमें समान अधिकारी बनकर परस्पर विरुद्धता धारण करते हैं?

क्या छोटे बड़े भाइयों तथा मल्लोंके समान है—

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वयमिव मिथः सपक्षतया।
किमथोपसुन्दसुन्दमल्लन्यायात्किलेतरेतरस्मात् ॥ १४८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बड़े छोटे दो भाई परस्पर प्रेमसे रहते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम आगे पीछे उत्पन्न होकर वर्तमानकालमें परस्पर अविरुद्ध रीतिसे रहते हैं ? अथवा जिस प्रकार * उपसुन्द और सुन्द नामके दो मल्ल परस्पर एक दूसरेसे जय अपजय प्राप्त करते हुए अन्तमें मर गये उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते हैं ?

क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओंके समान है—

केवलमुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववदिति चेदथ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥ १४९ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार दो छोटे बड़े पुरुषोंमें परापर व्यवहार केवल उपचारसे होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी उपचारसे कहे जाते हैं। अथवा जिस प्रकार पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी केवल अपेक्षा मात्रसे कहे जाते हैं। भावार्थ—बड़े की अपेक्षा छोटा, छोटेकी अपेक्षा बड़ा, यह केवल आपेक्षिक व्यवहार है। यदि छोटाबड़ापन वास्तविक हो तो छोटा छोटा रहना चाहिये और बड़ा बड़ा ही रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, जो छोटा कहलाता है वह भी अपनेसे छोटेकी अपेक्षासे बड़ा कहलाता है, अथवा जो बड़ा कहलाता है वह भी अपनेसे बड़ेकी अपेक्षासे छोटा कहलाता है। इसलिये वास्तवमें छोटापन अथवा बड़ापन कोई वस्तु नहीं है केवल व्यवहार कल्पित अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार है। इसी प्रकार क्षेत्रकृत परत्वापरत्व व्यवहार होता है। जैसे—यह निकट है, यह दूर है इत्यादि। यह निकट और दूरका व्यवहार भी केवल परस्परकी अपेक्षासे होता है। वास्तवमें निकटता और दूरता कोई वस्तुभूत नहीं है। परत्वापरत्वके समान दिशायें भी काल्पनिक हैं। सूर्योदयकी अपेक्षासे पूर्व दिशा और सूर्यके छिपनेकी अपेक्षासे पश्चिम दिशाका व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्यको दाहिनी [illegible]

---

* हितोपदेशमें ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि सुन्द उपसुन्द नामके दो [illegible] आराधना की, महादेव उनपर प्रसन्न हो गये, दोनोंने महादेवसे उनकी स्त्री पार्वतीको मांगा। महादेवने कौतुकपूर्वक उसे उनको दे दिया। फिर दोनों ही पार्वतीके लिये [illegible] महादेवने वृद्ध ब्राह्मणका रूप रखकर उनसे कहा कि जो तुममें बलमें अधिक हो उसकी पार्वती होगी। दोनों ही ने इस बातको स्वीकार किया और [illegible] लड़ने लगे। दोनों परस्पर [illegible] दोनों ही मर गये।

और रखकर खड़े होनेसे सामने उत्तर और पीठ पीछे दक्षिणका व्यवहार होता है, तथा ऊ
ऊर्ध्व और नीचे अधोदिशाका व्यवहार होता है । यह व्यवहार केवल आकाशमें किया ज
है । क्योंकि सूर्योदयकी ओरके आकाशको ही पूर्व दिशा कहा जाता है, उस ओरके आ
शको छोड़कर पूर्व दिशा और कोई पदार्थ नहीं है । इसलिये दिशा कोई पदार्थ नहीं है
केवल काल्पनिक व्यवहार है* उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या काल्पनिक हैं ।

क्या कारक द्वैतके समान हैं—

किमथाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव ।
स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ १५० ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि घड़ेमें जल है, तो यह कथन दो कारकोंको प्र
करता है । घड़ेमें, यह वाक्य अधिकरण कारक रूप है, और जल है, यह वाक्य कर्ता कार
रूप है । क्योंकि घड़ा जलका आधार है, और जल स्वतन्त्र है इसलिये कर्ता कारक है । दू
वाक्योंमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि सप्तमी विभक्त्यन्त पद अधिकरण का
होता है, और प्रथमा विभक्त्यन्त पद कर्ता कारक होता है । अधिकरण आधाररूप होता
और उसमें रहनेवाला आधेय होता है ऐसा विपरीत नहीं होता है कि आधेय तो आध
होजाय और आधार आधेय होजाय, क्योंकि घटमें जल रहता है परन्तु जलमें घट नहीं रह
जिस प्रकार घट और जलमें आधार आधेय भावरूप दो कारक हैं, क्या उसी प्रकार स
और परिणाम भी हैं ? अर्थात् उनमें भी जलके समान एक आधेय रूप और दूसरा घ
समान आधार रूप है ?

क्या बीजाङ्कुरके समान हैं—

अथ किं बीजाङ्कुरवत्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा ।
स यथा योनीभूतं तत्रैकं योनिजं तदन्यतरम् ॥ १५१ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बीज और अङ्कुरमें कार्यकारण भाव है । बीज अङ्कु
उत्पत्तिका कारण-योनि है, और अङ्कुर उससे उत्पन्न-योनिज है । उसी प्रकार सत् औ
परिणाममें भी क्या कार्य कारण भाव है ?

क्या कनकोपलके समान हैं—

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः ।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥ १५२ ॥

* [illegible] आकाशादेवाशाप्रदेशपङ्क्तिषु इतः इदमिति आ[illegible]
[illegible] । कहीं है कि—

* [illegible] भेद करते हैं और उन्हीं को भेदसे दिशा भी [illegible]
[illegible] है । [illegible] होता है ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक कनक पाषाण नामका पत्थर होता है उसमें कुछ तो सोनेका अंश रहता है, और कुछ पाषाणका अंश रहता है। उन दोनोंमें स्वर्णांश सारभूत होनेसे ग्रहण करने योग्य होता है ? और दूसरा पाषाणांश असारभूत होनेसे छोड़ने योग्य होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें भी एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा छोड़ने योग्य है ?

क्या वाच्य वाचकके समान है—

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवत्तन्नियमादर्थाभिव्यञ्जकं द्वैतात् ॥ १६१ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार वचन और अर्थ दोनों मिले हुए ही [illegible] पदार्थके साधक हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी मिले हुए [illegible] हैं ? भावार्थ—घड़ी शब्दके कहनेसे उस गोल पदार्थका बोध होता है [illegible] कहलाता है, इसलिये घड़ी शब्द उस गोल घड़ीरूप अर्थका वाचक है [illegible] उस शब्दका वाच्य है। इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं वे पदार्थोंके [illegible] वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते हैं। वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे ही [illegible] पदार्थका बोध होता है। लवंग, इलायची, सोंठ, कालीमिरच इन मिली हुई [illegible] विशेष तैयार होता है उसीको पानक कहते हैं। जिस प्रकार पानकमें [illegible] सम्बन्ध होनेसे वाचक अपने सन्निहित वाच्यका बोध कराता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थके बोधक हैं ? अर्थात् जिस प्रकार वाच्यसे वाचक भिन्न है [illegible] क्या सत् और परिणाम भी पदार्थसे भिन्न हैं ?

क्या भेरी दण्डके समान है

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरीदण्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्यै । १६४

अर्थ—अथवा जिस प्रकार भेरी और दण्डके संयोगसे ही शब्द होता है [illegible] भेरी (नगाड़ा) से भी शब्द नहीं हो सकता और न केवल दण्डसे ही [illegible] दोनोंके संयोगसे ही होता है इसलिये दोनोंका होना ही आवश्यक है। [illegible] सत् और परिणामके संयोगसे पदार्थसिद्धि होती है ? क्या दोनोंका [illegible] आवश्यक है ? अर्थात् जिस प्रकार भेरी और दण्ड दोनों ही मिलकर [illegible] दोनोंके मेलसे शब्द होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम [illegible] मेलसे पदार्थकी सिद्धि होती है ?

क्या अपूर्ण न्यायके समान हैं-

अथ किमुदासीनतया वक्तव्यं वा यथाकथंचित्याम।
यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः। ३६५।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायमें एकका मुख्यतासे ग्रहण होता है और दूसरेका गौणरीतिसे ग्रहण होता है। गौणरीतिसे ग्रहण होनेवालेका विवेचन रुचिपूर्वक नहीं होता है किन्तु उदासीनतासे होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं? अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे पुकारे हुए दो नामोंमेंसे किसी एकसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममेंसे किसी एकसे ही साध्यकी (पदार्थकी) सिद्धि होती है?

क्या मित्रोंके समान हैं—

अथ किमुपादानतया स्वार्थं सृजति कश्चिदन्यतमः।
अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्णाति मित्रवत्तदिति॥ ३६६॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक पुरुष किसी कार्यको स्वयं करता है, उसका मित्र उसे उसके कार्यमें सहायता पहुंचाता है, मित्रकी सहायतासे वह पुरुष अपने कार्यमें सफलता कर लेता है* उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें एक उपादान होकर कार्य करता है, दूसरा उसका सहायक बनकर पदार्थ सिद्धि कराता है?

क्यों आदेशके समान हैं—

शत्रुवदादेशः स्यात्तद्वत्तद्द्वैतमेव किमिति यथा।
एकं विनाश्य मूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः॥ ३६७॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार शत्रुके समान आदेश होता है जो कि पहलेको सर्वथा हटाकर उसके स्थानमें स्वयं ठहरता है * उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी हैं? सत्को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं सत् उदित होता है?

क्या दो रज्जुओंके समान हैं—

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते।
वामेतरकरवर्तितरज्जूयुग्मं यथास्वमिदमिति चेत्॥ ३६८॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार छाछ विलोते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवाली दो रस्सियां परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते हैं?

* जैसे व्याकरणमें बतलाया जाता है कि छ को तुक् हो तो यदि तुक् आदेशरूपसे होगा तब तो छ के स्थानमें होगा। यदि आगमरूपसे होगा तो छ के स्वागत (पासमें) होगा। इसलिये आदेश शत्रुके समान और आगम मित्रके समान होता है।

अब आचार्य उपरके शंकाका उत्तर देते हैं—

नैवमदृष्टान्तत्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोऽपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदेव यतः ॥१५९॥

अर्थ—शंकाकारने उपरके श्लोकों द्वारा जो जो शंकाएँ की हैं, तथा जो जो दृष्टान्त दिये हैं वे ठीक नहीं हैं। जो दृष्टान्त दिये हैं वे दृष्टान्त नहीं किन्तु दृष्टान्ताभास हैं। क्योंकि उन दृष्टान्तोंसे एक पक्षकी भी सिद्धि नहीं होती है। न तो उन दृष्टान्तोंसे शंकाकारका ही अभिप्राय सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनों पक्षोंके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमें ही नहीं आ सके हैं। कोई मन्दबुद्धिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नहीं करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

सत् परिणामके विषयमें वर्ण पंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है—

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशिनप्रमाणस्य ।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरिहवत्र ॥१६०॥

अर्थ—सत् और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोंको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमें वर्णपंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है। भावार्थ—वर्णपंक्ति स्वतन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए सिद्ध नहीं हैं किन्तु पृथक् २ सिद्ध हैं। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये वर्णपंक्तिका दृष्टान्त इस विषयमें विषम पड़ता है, इन्हीं परस्पर सापेक्ष दोनों धर्मोंको प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नहीं सकता, कारण वस्तुका स्वरूप ही उभय धर्मात्मक है। उसीको विषय करनेवाला प्रमाण है इसलिये प्रमाण व्यवस्था अनिवार्य है।

प्रमाणाभावमें नय भी नहीं ठहरता—

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायै ।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोऽपि नार्थकृत् ॥१६१॥

अर्थ—पहले तो प्रमाणका अभाव किसी दृष्टान्तसे सिद्ध ही नहीं होता, दूसरे प्रमाणके अभावमें नय पक्ष भी अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं रह सकता है जैसा वाक्य विवक्षाके बिना पदपक्ष और कारकसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—यदि 'पीता घड़ा लाओ' इस वाक्यकी विवक्षा न रक्खी जाय, और केवल पीता, घड़ा, इन भिन्न२ पदोंका बिना सम्बन्धके स्वतन्त्र प्रयोग किया जाय तो इन पदोंसे तथा पदों और पदोंके वाच्योंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वे निरर्थक ही हैं। इसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष [illegible] को न माना जाय तो [illegible] और सम्पूर्ण धर्मोंको विषय [illegible] ठीक होसकता है, अन्यथा नहीं।

आशङ्का—

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरि
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया श्रुतस्य दुर्निवा
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूपणद्वयं भ
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतु

अर्थ—ऊपर यह कहा गया है कि विना प्रमाणके स्वीकार कि
ठहर सक्ता है जैसे—विना वाक्य विवक्षाके पदपद्म अर्थकारी नहीं ठहर
यदि यह आशंका उठाई जाय कि संस्कारके वशसे पदोंमें ही वाक्यकी
तो अर्थात् नयोंमें ही प्रमाणकी कल्पना करली जाय तो ? उत्तरमें कहा
नयोंमें ही वाक्य प्रतीति स्वीकार की जायगी तो प्रमाण मात्र ही कहना
सिद्ध नहीं होते हैं। वही दूषण—नय पक्षका अभाव होना बना रहता है
वाक्य विवक्षाके समान नयोंमें ही प्रमाण पक्ष स्वीकार करनेसे दो दूषण आते
पक्षका अभाव होजायगा। क्योंकि नयोंके स्थानमें तो उन्हें प्रमाणरूप माना गय
होने वाली जो ध्वनि है उसे शाब्दबोधमें कारणता नहीं रहेगी। (२) क्योंकि ज
वाक्यकी प्रतीति हो जायगी तो एक पदसे ही अथवा एक अक्षरसे ही समस्त वा
होजायगा, ऐसी अवस्थामें ध्वनिको अर्थ प्रतीतिमें हेतुता नहीं आसकेगी।

विन्ध्य हिमाचल भी दृष्टान्तमात्र है—

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यतोऽविवक्षश्च ॥ ३३४ ॥

अर्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं इसलिये एकमें मु
विवक्षा दूसरेमें गौण—अविवक्षा हो नहीं सक्ती है। दूसरी बात यह है कि जब दोनों
स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एकमें मुख्य और दूसरेमें गौण विवक्षाकी इच्छाका होना ही निरर्थक है
इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोंका दृष्टान्त भी इष्ट पदार्थको सिद्ध करनेके लिये
समर्थ नहीं है। भावार्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही जब स्वतन्त्र हैं तो एकमें
प्रधानता दूसरेमें अप्रधानता कैसे आसक्ती है ? क्योंकि मुख्य गौण विवक्षाका कारण अभिन्न
पदार्थमें दृष्टिभेद है, तथा जहांपर एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा रखता हो, अथवा विना
अपेक्षाके वह भी सिद्ध न हो सक्ता हो, वहां पर विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म
गौण होता है। विन्ध्य हिमाचलमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है, और ...
किसीकी सिद्धि होती है। यदि विन्ध्याचल ...
विना विन्ध्याचलके न हो सके ...

विवक्षित दूसरेको अविवक्षित बनाया जाय, परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों ही सर्वथा स्वतन्त्र हैं इसलिये बिना एक दूसरेकी अपेक्षाके सिद्ध नहीं होनेवाले सत् और परिणामके विषयमें उक्त दोनों पर्वतोंका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है—

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३६५ ॥
नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिह रूढिवशादनुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥ ३६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पुरुषके सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाते हैं, उसी प्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थके विशेषण हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहांपर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्यकी सिद्धि इस दृष्टान्तसे नहीं होती है, इसलिये सिंह साधुका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्त में स्वरूपासिद्ध दोष आता है यहांपर स्वरूपासिद्ध दोष असिद्ध नहीं है किन्तु साध्यशून्य होनेसे सुघटित ही है। अर्थात्—किसी पुरुषके रूढिमात्रसे इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाते हैं, उनमें सिंहत्व साधुत्व धर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती है। केवल दो नामोंकी कल्पना कर दी जाती है, परन्तु सत्परिणाम काल्पनिक नहीं है किन्तु वास्तविक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्यसे शून्य है। जिस प्रकार नैयायिकोंके यहां जलमें सुगन्धि सिद्ध करना असिद्ध है क्योंकि *जलमें सुगन्धि स्वरूपसे ही असिद्ध है इसी प्रकार इस दृष्टान्तमें साध्य स्वरूपसे ही असिद्ध है। भावार्थ—स्वरूपासिद्ध दोषमें कहींपर हेतुका स्वरूप असिद्ध होता है कहीं पर साध्यका स्वरूप असिद्ध होता है। उपर्युक्त दृष्टान्तमें आश्रयासिद्ध दोष भी आता है, क्योंकि सत्परिणामका कोई आश्रय नहीं है।

अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है—

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेश्च साध्यशून्यत्वात् ॥ ३६७ ॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेऽप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३६८ ॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति
भिन्ने नेदविशेषापूर्वकरस्मान्नो हि किं विषा[illegible] ॥

* नैयायिक जलमें [illegible] नहीं मानता है। इसलिये उस[illegible]
[illegible] है।

अथ चेदनभिज्ञत्वात्तत्प्रतिपत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेऽपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ३७० ॥
चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवदेति ॥ ३७१ ॥
क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥
रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—अग्नि और वैश्वानरके समान सत् और परिणाम ये दो नाम ही माने जाय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि ये साध्यसे विरुद्ध पड़ते हैं। दृष्टान्त भी साध्य शून्य है, अर्थात् हमारा साध्य—परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है उस उभय धर्मात्मक पदार्थरूप साध्यकी सिद्धि दो नामोंसे नहीं होती है। तथा अग्नि और वैश्वानर ये दो नाम भिन्न रहकर एक अग्निके वाचक हैं, इसलिये यह दृष्टांत भी साध्य रहित है। यदि [illegible] दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नहीं है तो हम पूछते हैं कि नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा रखते हैं अथवा अपेक्षा रखते हैं? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखते केवल एक पदार्थके दो नाम हैं तो धर्मोंका अभाव ही हुआ माना है, [illegible] धर्मी भी नहीं ठहर सकता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा नहीं करते किन्तु अपेक्षा रखते हैं तो वे दोनों धर्म द्रव्यसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं? यदि द्रव्यसे भिन्न हैं तो [illegible] हैं, फिर भी कुछ विशेषता नहीं हुई, जो धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे [illegible] नहीं [illegible] सकते हैं, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है। यदि यह कहा जाय कि [illegible] धर्म द्रव्यसे यद्यपि जुदे हैं क्योंकि वे युतसिद्ध हैं। [illegible] उन धर्मोंका द्रव्यके साथ सम्बन्ध [illegible] कोई दोष नहीं आता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, [illegible] [illegible]

[illegible]

न हो सकेगा। इसलिये द्रव्यसे धर्मोंको जुदा मानना ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यमें अभिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्रमें रहनेवाले रूप (रंग) की तरह अभिन्न हैं अथवा आटेमें मिले हुए खारेपनकी तरह अभिन्न हैं ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्यके समान वे धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लवणकी रोटीमें जो खारापन है वह लवणका है, रोटीका नहीं है। रोटीसे खारापन जुदा ही है। इसीके समान धर्म द्रव्य भी द्रव्यसे जुदे पड़ेंगे। जुदे होनेसे उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा भी + नहीं रहेगी। परंतु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्यके समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नहीं है। क्षार द्रव्यके समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णोंकी पंक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है। * इस प्रकारकी स्वतन्त्रता माननेसे न तो नय ही सिद्ध होते हैं और न प्रमाण ही सिद्ध होता है। बिना परस्परकी अपेक्षाके एक भी सिद्ध नहीं हो सका है। इसलिये क्षार द्रव्यके समान न मानकर रूप और पटके समान उन धर्मोंकी अभिन्नता यदि मानी जाय तो वह प्रकृतके अनुकूल ही है। अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र और उसका रंग अभिन्न है, बिना वस्त्रकी अपेक्षा लिये उसके रंगकी सिद्धि नहीं, और बिना उसके रंगकी अपेक्षा लिये वस्त्रकी सिद्धि नहीं, उसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणामकी अभिन्नता भी मानी जाय तब तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर शङ्काकारका एक पदार्थके ही सत् और परिणाम, दो नाम कहना तथा अग्नि और वैश्वानरका दृष्टान्त देना निरर्थक ही नहीं किन्तु उसके पक्षका स्वयं विघातक है।

सव्येतर गोविषाण भी दृष्टान्ताभास है।

अपि चाकिंचित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गौके दांये बांये दो सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम भी एक साथ होनेवाले वस्तुके धर्म हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, सत् और परिणामके विषयमें गौके सींगोंका दृष्टान्त अकिंचित्कर है अर्थात् इस दृष्टान्तसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि इस दृष्टान्तमें आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे पर

+ आटे और लवणमें खारे स्वादकी अपेक्षासे परस्पर अपेक्षा है परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि बिना आटेके लवणकी सिद्धि न हो, अथवा बिना लवणके आटेकी सिद्धि न हो। परन्तु सत् और परिणाममें ऐसी ही अपेक्षा अभीष्ट है कि बिना सत्के परिणाम नहीं ठहरता और बिना परिणामके सत् नहीं ठहरता। दोनोंकी एक दूसरेकी अपेक्षासे ही सिद्धि है।

* भिन्न २ रक्खे हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्थामें उनसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

हेतुका आश्रय ही असिद्ध होता है वहां आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे—"गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्" अर्थात् यदि कोई पुरुष ऐसा अनुमान बनावे कि आकाशका कमल सुगंधित है, क्योंकि वह कमल है, जो जो कमल होता है वह वह सुगंधित होता है जैसे तालावका कमल, तालावमें कमल होता है वह सुगंधित ही होता है। इसी प्रकार जो आकाशमें कमल है वह भी कमल है इसलिये वह भी सुगंधित है। यहां पर आकाशका कमल यह पक्ष* है, सुगंधिवाला है, यह साध्य है× क्योंकि वह कमल है यह हेतु+ है। यह अनुमान नहीं है किन्तु अनुमानाभास है। क्योंकि हेतुका आश्रय ही असिद्ध है। आकाशमें कमलकी यदि संभावना हो तब तो वहां सुगंधि भी रह सकती है। परन्तु आकाशमें तो कमलका होना ही असंभव है फिर उसकी सुगन्धिका होना तो नितान्त ही असंभव है। जब कमलरूप हेतु ही आकाशमें नहीं रहता है तब सुगन्धिरूप साध्य भी वहां कैसे रह सकता है! इसलिये जिस प्रकार यहांपर आश्रय न होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार गौके दोनों सींगोंके दृष्टान्तमें भी आश्रयासिद्ध दोष आता है। क्योंकि सींगोंका दृष्टान्त दिया गया है, सींग बिना आश्रयके रह नहीं सकते हैं अथवा जिस प्रकार दोनों सींगोंका आश्रय गौ है उसी प्रकार यदि सत् और परिणामका आश्रयभूत कोई पदार्थ हो, तब तो दोनोंकी एक कालमें सत्ता मानी जा सकती है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका आश्रय ही असिद्ध है, क्योंकि सत् परिणामके सिवाय पदार्थका स्वरूप ही कुछ नहीं है। सत् परिणाम उभय धर्मात्मक ही तो पदार्थ है। इसलिये गौके सींगोंका दृष्टांत ठीक नहीं है।•

भावार्थ—दूसरी बात इस दृष्टान्तकी विरुद्धतामें यह भी है कि जिस प्रकार गौके सींग किसी काल विशेषमें उत्पन्न होते हैं उस प्रकार सत् परिणाम किसी काल विशेषमें उत्पन्न नहीं होते हैं। न तो सत् परिणामसे भिन्न इनका कोई आधार ही है, और न इनकी किसी कालविशेषमें उत्पत्ति ही है।

● जिस आधार पर साध्य सिद्ध किया जाय उस आधारको पक्ष कहते हैं। उसका दूसरा नाम धर्मी भी है।

× जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं।

+ जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं।

● इसका अनुमान वाक्य यह है—[illegible] अनुत्पिन्नौ, [illegible] [illegible]। जिस प्रकार गौके [illegible] [illegible] दोनों सींगोंका एक काल [illegible] है, उसी [illegible] [illegible] [illegible]। यह अनुमान ठीक नहीं है। [illegible] आश्रयासिद्ध [illegible] है।

स्पष्टीकरण—

न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥ १७५ ॥

अर्थ—गौके सींगोंका दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं है कि उसमें सींगोंका आश्रय गौ पदार्थ जुदा पड़ता है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त वस्तु पड़ती ही नहीं है। क्योंकि सत् परिणाम स्वरूप ही पदार्थ है, उस उभयात्मक भावसे अतिरिक्त वस्तु कोई जुदा पदार्थ नहीं है। उन दोनोंका ऐक्यभाव ही वस्तु है, वह दीप और प्रकाशके समान है। दीपसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे दीप भिन्न नहीं है।

कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है—

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्तित्वादुभयोः स्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ १७६ ॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वात्स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ १७७ ॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं त्वपक्वपक्वतया ॥ १७८ ॥

अर्थ—कच्ची पक्की पृथ्वी भी सत् परिणामके विषयमें दृष्टान्त नहीं हो सकती है, क्योंकि कच्ची पृथ्वी (कच्चा घड़ा) पहले होती है पक्की पृथ्वी (पक्का घड़ा) पीछे होती है, दोनों क्रमसे होते हैं, इसलिये यह दृष्टान्त उभयपक्ष (जैन सिद्धान्त और शंकाकार) का घातक है। अर्थात् इस दृष्टान्तसे दोनों ओरकी सिद्धि नहीं होती। जैन सिद्धान्तकी तो यों नहीं होती कि वह कच्चे पक्के घड़ेके समान सत् परिणामको आगे पीछे नहीं मानता है और इस दृष्टान्तसे तुम क्रमवर्तित्व, सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा ही कर चुके हो। परन्तु तुम्हारा यह हेतु कि क्रमसे सत् परिणाम होते हैं, असमर्थ है, क्योंकि सत् परिणामको छोड़कर नहीं रह सकता है और परिणाम सत्को छोड़कर नहीं रह सकता है। तथा इस दृष्टान्तसे शंकाकार पक्षभी सिद्ध नहीं होता। शंकाकार एक समयमें वस्तुको स्वभावसे नित्य ही सिद्ध करता है अथवा अनित्य ही सिद्ध करता है, परन्तु एक समयमें एक सिद्ध करना कठिन है क्योंकि दोनों धर्म एक समयमें वस्तुमें सिद्ध होते हैं, जिस समय पृथिवीत्व धर्मकी अपेक्षासे पृथिवीमें नित्यता सिद्ध है उसी समय पक्व अपक्वरूपकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी सिद्ध है। दोनों ही धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये दोनों एक साथ ही रह सकते हैं अतएव पक्षकी भी सिद्धि नहीं हो सकती।

सपत्नीयुग्म भी दृष्टान्ताभास है—

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषदुष्टत्वात् ॥ १७९ ॥

माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि वि
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं

अर्थ—दो सपत्नियों (सौतों) का दृष्टान्त तो हास्य
तो सभी दोषोंसे दूषित है, इस दृष्टान्तसे असिद्ध, विरुद्ध, अनै
आते हैं। जिस प्रकार किसीका यह कहना कि मेरी माता बाँझ है,
प्रकार सत् परिणामको दो सपत्नियोंके समान क्रमसे उत्पन्न मानक
विरुद्ध रीतिसे उनकी सत्ताका कथन करना भी विरुद्ध है। क्योंकि स
काल विशेषमें क्रमसे उत्पन्न ही होते हैं, और न वे एक स्थानमें विरु
किन्तु अनादि अनन्त उनका परस्पर सापेक्ष प्रवाह युगपत चला जाता है। इ
दृष्टान्त विरुद्ध ही है। तथा जिस प्रकार कृतकत्वहेतुसे घट शरावेके सम
सिद्ध करना अनैकांतिक है क्योंकि पट और तन्तुओंमें कृतक होनेपर भी अ
है। इसलिये कृतकत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास दोषसे दूषित है।
परिणामके विषयमें दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी अनैकान्तिक दोषसे दूषित
सपत्नियां कहीं पर परस्पर विरुद्ध होकर रहती हैं और कहीं पर परस्पर एकदूसरेकी
हुई प्रेमपूर्वक अविरुद्ध भी रहती हैं यह नियम नहीं है कि दो सौतें परस्पर विरुद्ध री
इसलिये यह दृष्टान्त अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। अथवा सपत्नी युग्ममें विरोधिता
कहीं नहीं भी पाई जाती है इसलिये अनैकान्तिक है तथा जिस प्रकार बौद्धका यह सिद्ध
पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक हैं, सर्वथा असिद्ध है* असिद्धताका हे
है कि जो क्षणिकैकान्त हेतु दिया जाता है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पदार्थों
भी प्रतीत होती है, यदि नित्यता पदार्थोंमें न हो तो यह वही पुरुष है जिसे दो
ऐसा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा यथार्थ प्रत्यभिज्ञान होता है,
यदि नित्यता पदार्थोंमें न मानी जाय तो स्मरण पूर्वक जो लोकमें लेन देनका व्यवहार
है वह भी न हो सके, परन्तु वह भी यथार्थ होता है इत्यादि अनेक हेतुओंसे सर्वथा
क्षण पदार्थोंमें सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी सर्वथा असिद्ध
क्योंकि जो सपत्नियां दो पदार्थ हैं। यहां पर सत् परिणाम उभयात्मक एक ही वस्तु
दूसरे सापेक्षयुग्म विरोधी बनकर आगे पीछे क्रमसे होता है। सत् परिणाम दूसरे
अविरुद्ध रहते हैं। इसलिये यह दृष्टान्त हास्यकारक है, इस पर अविरुद्ध [illegible]
व्यर्थ है।

* यह [illegible]
[illegible]

बड़े छोटे भाईका दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है—

तज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।
×सति चाऽधर्मिणि नररे तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥
अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात् ।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

अर्थः—छोटे बड़े भाईका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह साध्यसे विरुद्ध ा है। हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थकी सत्ता सिद्ध ा है। छोटे बड़े भाई विना मातापिताके नहीं हो सके हैं, मातापिताके होते हुए ही वे ीकाल विशेषसे क्रमसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यह बात सत् परिणाममें नहीं है, न तो परिणामका उन दोनोंसे अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेषसे से उत्पत्ति ही है,- इसलिये धर्मीका अभाव होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है * दूसरी यह भी है कि इस दृष्टान्तसे अनवस्था दोष भी आता है क्योंकि भाई उनके माता ाके पराधीन होते हैं। ऐसा पराधीनताका सिद्धान्त माननेमें जो कोई भी पर होगा उसे धीन ही मानना पड़ेगा, जिस प्रकार पुत्र पिताके आधीन है, पिता अपने पिताके अधीन वह अपने पिताके अधीन है, इसी प्रकार सत् और परिणामको पराधीन माननेपर अन- ा दोष आता है ÷ क्योंकि पराधीनतारूपी शृंखलाका कहीं अन्त नहीं आवेगा।

कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है—

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः कारकादिरिह यतः ।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिश्च ॥ ३८३ ॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्यादेकात्मनि तथैव नानात्वे
स्थाल्यां दधीतिहेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥३८४॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत् ।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८५ ॥
साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम् ।
तस्याप्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रएवांशः ॥ ३८६ ॥

× 'धर्मिणि चासति नररे,' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है।

* आश्रयासिद्ध दोषका विवेचन किया जा चुका है।

÷ 'अप्रमाणिकानन्तपदार्थपरम्पराऽविश्रान्तिरनवस्था', अर्थात् विना किसी प्रमाणके अनन्त पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना इसीका नाम अनवस्था है। जहां पर प्रमाणभूत है वहां पर दोष नहीं समझा जाता जैसे—पिता पुत्र, बीज वृक्ष आदि कार्यकारण मानने।

अर्थ—आधार आधेय न्यायसे जो दो कारकोंका दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, वह व्यभिचारी है क्योंकि वह सपक्ष विपक्ष दोनोंमें ही रहता है। साध्यके अनुकूल दृष्टान्तको सपक्ष कहते हैं और उसके प्रतिकूल दृष्टान्तको विपक्ष कहते हैं। जो दृष्टान्त साध्यका सपक्ष भी हो तथा विपक्ष भी हो वह व्यभिचार दोष विशिष्ट दृष्टान्त कहलाता है। सत् परिणामके विषयमें दो कारकोंका दृष्टान्त भी ऐसा ही है। क्योंकि जैसे आधार आधेय दो कारक 'वृक्षे शाखा' (वृक्षमें शाखा) यहां पर अभिन्न–एकात्मक पदार्थमें होते हैं वैसे 'स्थाल्यां दधि' (बटलोईमें दही) यहां पर भिन्न–अनेक पदार्थोंमें भी होते हैं। यहां 'वृक्षे शाखा' यहां पर जो आधार आधेय है वह अभिन्न पदार्थमें है इसलिये सपक्ष है। परन्तु 'स्थाल्यां दधि' यहां पर जो आधार आधेय है वह भिन्न दो पदार्थोंमें है इस लिये वह विपक्ष है। इसलिये दो कारकोंका दृष्टान्त व्यभिचारी है। यदि कोई यह कहे कि यह दृष्टान्त व्यभिचारी भले ही हो, परन्तु इससे अपने पक्षकी सिद्धि भी किसी तो प्रकार हो ही जाती है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे दूसरे पक्षका शत्रु है वैसे अपने पक्षका भी तो शत्रु है अर्थात् व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे सपक्षमें रह कर साध्यकी सिद्धि करता है वैसे विपक्षमें रहकर वह साध्य विरुद्ध भी तो हो जाता है। इसलिये यह दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। अथवा सत् और परिणाममें देशके अंश होनेसे अंशपना सिद्ध किया जाता है और उनमें आधार आधेय भाव सिद्ध किया जाता है (यह शंकाकारका मत है) यदि उन दोनोंका कोई स्वतन्त्र–अखण्ड पदार्थ हो तब तो आधार आधेयभाव उनमें बन जाय, परन्तु सत् परिणामके अतिरिक्त उनका कोई स्वामी ही नहीं है तो फिर ये दोनों किसके अंश कहलावेंगे, वे दोनों तो स्वतन्त्र ही माने जा चुके हैं ? इसलिये कारकद्वयका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

बीजाङ्कुर भी दृष्टान्ताभास है—

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः ।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥ १८७ ॥
बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा ।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥ १८८ ॥

अर्थ—बीज और अङ्कुरका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें उपयोगी नहीं है [illegible] बीज अपने समयमें होता है, अङ्कुर अपने समयमें होता है। [illegible] होते हैं [illegible] जिस प्रकार [illegible] होता है, उस प्रकार सत् और परिणाम [illegible] है—

सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति माननेमें जो दोष आते हैं उनका पहले (१०१ श्लोकमें) विवेचन किया जा चुका है।

कनकोपल भी दृष्टान्ताभास है—

कनकोपलवदिहेपः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम्।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९२ ॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत् परिणामके विषयमें कनकोपलका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। यह दृष्टान्त परीक्षा करनेपर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सक्ता है। सोना और पत्थर इन मिली हुई दो द्रव्योंका नाम ही कनकोपल है। इसलिये कनकोपल दो द्रव्योंके समुदायका नाम है। कनकोपलमें गुणगुणीभाव नहीं है अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है। क्योंकि जिस प्रकार सत् परिणाममें कथञ्चित् गुणगुणीभाव है इस प्रकार इस दृष्टान्तमें नहीं है। दो द्रव्योंके समुदाय होनेसे ही कनकोपलमें कुछ अंशके ग्रहण करनेका और कुछ अंशके छोडनेका विचार हो सक्ता है। परन्तु सत् परिणाममें इस प्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सक्ता है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं। जहांपर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्यका ग्रहण और एकका त्याग हो सक्ता है परन्तु जहां पर केवल एक ही द्रव्य है वहां पर ऐसा होना असंभव ही है। इसलिये कनकोपलका दृष्टान्त सर्वथा विषम है।

वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है—

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम्।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥३९४॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिध्यै।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ३९५ ॥

अर्थ—वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक द्वैतका दृष्टान्त भी अपनी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि घट—घकार और टकार इन दो वर्णोंसे कम्बुग्रीवादि वाला घट पदार्थ दूसरा ही है। जिस कम्बु (शंख) ग्रीवावाले घटमें जल रक्खा जाता है वह घट पदार्थ उन घ—ट वर्णोंसे सर्वथा जुदा ही है। केवल घट शब्दके उच्चारण करनेसे उस घट पदार्थका बोध हो जाता है इतना ही मात्र घट शब्दका घट पदार्थके साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध है। परन्तु सत् परिणाम इस प्रकार भिन्न नहीं है। यदि वागर्थ, शब्दका वचन और पदार्थ, यह अर्थ न किया जाय और दूसरा कि वचन रूप ही अर्थ किया जाय तो ऐसा अर्थ करना पहले तो निस्सार ही है परन्तु सिद्धिके लिये यदि वह माना भी जाय तो भी उस

अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दूसरे अर्थका यही आशय निकला कि शब्दके समान सत् परिणाम हैं, परन्तु ऐसा माननेसे शब्दके समान सत् परिणामात्मक पदार्थ भी अनित्य सिद्ध होगा, और ऐसी अनित्यता पदार्थमें अभीष्ट नहीं है इसलिये उक्त दृष्टान्त भी ठीक नहीं है।

भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है—

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥ ३९६ ॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः।
एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ ३९७ ॥

अर्थ—भेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत् परिणामके विषयमें अविचारित रम्य है अर्थात् जबतक उसके विषयमें विचार नहीं किया जाता है तभी तक वह अच्छा प्रतीत होता है। विचारनेपर निःसार प्रतीत होता है। उसीका अनुमान इस प्रकार है—'सत्परिणामौ कार्यकारिणौ संयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्, अर्थात् शंकाकारका पक्ष है कि सत् परिणाम मिलकर कार्य करते हैं क्योंकि वे संयुक्त हैं। जिस प्रकार भेरी दण्ड संयुक्त होकर कार्यकारी होते हैं। यह शङ्काकारका अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि यहांपर जो 'संयुक्तत्व' हेतु दिया गया है वह सत् परिणामरूप पक्षमें नहीं रहता है। इसलिये हेतु व्याप्यासिद्ध* दोषसे दूषित है। अर्थात् सत् परिणाम भेरीदण्डके समान मिलकर कार्यकारी नहीं है, किन्तु कथंचित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूपमें कार्यकारी है। यदि सत् परिणामको युतसिद्ध–भिन्न २ स्वतन्त्र माना जाय तो दोनोंमेंसे एक भी सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि दोनों ही परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षामें आत्मलाभ–स्वरूप सम्पादन करते हैं। यदि इन्हें स्वतन्त्र २ मानकर एकका दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्थामें सभी सबके धर्म हो जायेंगे। कारण जब स्वतन्त्र रहनेपर भी एक दूसरेका धर्म माना जायगा तो धर्म धर्मीका कुछ नियम नहीं रहेगा। हरकोई हरएकका धर्म बन जाय इसमें कौन बाधक होगा? भावार्थ—सत् परिणाम न तो भेरीदण्डके समान स्वतन्त्र ही हैं, और न संयोगी ही हैं। किन्तु परस्पर सापेक्ष तादात्म्य सम्बन्धी हैं इसलिये भेरीदण्डका दृष्टान्त सर्वथा असिद्ध है।

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है—

इह यदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ३९८ ॥

---

* पक्षमें हेतुकी असिद्धताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं अथवा साध्यके साथ हेतु बराबर व्याप्त न रहता हो वहांपर व्याप्यासिद्ध दोष आता है। यहांपर—सत् परिणाममें न तो संयुक्तत्व हेतु रहता है और न कार्यकारित्वके साथ संयुक्तकी व्याप्ति है।

अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण ।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥३९९॥

अर्थ—यहांपर अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे दूसरेका उदासीनतासे ग्रहण करने रूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है । क्योंकि अपूर्ण न्यायमें जिसका मुख्यतासे ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनतामें कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा, ऐसी अवस्थामें द्वैतका अभाव दुर्निवार ही होगा, अर्थात् जब दूसरा उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समझना चाहिये, इसलिये एककी ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं । अतः अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त उनके विषयमें ठीक नहीं है यदि यह कहा जाय कि दोनों ही यद्यपि समान हैं तथापि एकको मुख्यतासे कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पड़ता है, जब दोनोंकी समानतामें भी एकके विना दूसरेकी सिद्धि हो जाती है तो दूसरेकी भी सिद्धि पहलेके विना हो जायगी, अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगा, ऐसी अवस्थामें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकेगा । क्योंकि कार्यकारण भाव तो एक दूसरेकी आधीनतामें ही बनता है । इसलिये अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त सब तरह विरुद्ध ही पड़ता है ।

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है—

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्धेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥ ४०० ॥

तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥४०१॥

कार्यम्प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०२ ॥

अर्थ—एक अपने कार्यको सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्यमें सहायक होता है, यह मित्रद्वयका दृष्टान्त भी स्वप्नके समान ही है । जिस प्रकार स्वप्नमें पाये हुए पदार्थोंसे कार्यसिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे भी कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे हेतुका हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतुका भी हेतु मानना पड़ेगा ऐसा माननेसे अनवस्था दोष आवेगा और गौरवका प्रसंग भी आवेगा । उसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे कोई पुरुष मुख्यतासे अपने कार्यको सिद्ध करता है और दूसरा उसका मित्र उसके उस कार्यमें सहायक होजाता है । जिस प्रकार दूसरा पहलेकी सहायता करता है उसी प्रकार दूसरेकी सहायताके लिये तीसरे सहायककी आवश्यकता है, उसके लिये चौथेकी, उसके

लेये पांचवेकी, इस प्रकार उत्तरोत्तर सहायकोंकी योजना अवश्य ही अनिवार्य (प्राप्त) होगी* यदि यह कहा जाय कि एक कार्यके लिये दो कारणोंकी ही आवश्यकता होती है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्यमें दो ही सहायकमित्र आवश्यक होते हैं। उनसे अतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता ही नहीं होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही कारण होते हैं उनसे अधिक होते ही नहीं, इस नियमका विधायक कोई प्रमाण नहीं है+ इसलिये सत् परिणामके विषयमें मित्रद्वयका दृष्टान्त भी कुछ कार्यकारी नहीं है।

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है—

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥४०३॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैते न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥४०४॥

अर्थ—जिस प्रकार मित्र द्वैतका दृष्टान्त ठीक नहीं है, उसी प्रकार शत्रु द्वैतका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मित्र द्वैतके दृष्टान्तमें अनवस्था दोष आता है, उसी प्रकार शत्रुद्वैतके दृष्टान्तमें भी अनवस्था दोष आता है। जैसे एक पुरुषका दूसरा शत्रु है, वैसे दूसरेका तीसरा और तीसरेका चौथा शत्रु भी होगा। इस शत्रुमालाका भी कहीं अन्त नहीं दीखता है। यदि कहा जाय कि एक कार्यके प्रति दो शत्रु ही नियत हैं, दोसे अधिक नहीं होते हैं तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमें दो ही शत्रु होते हैं, उन शत्रुओंके शत्रु नहीं होते ऐसा नियम करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये दो शत्रुओंका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें विरुद्ध ही है। भावार्थ—सत् परिणाम दो शत्रुओंके समान परस्पर विरुद्धरूपसे नहीं रहते हैं किन्तु परस्पर सापेक्ष रूपसे ही रहते हैं। परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी दो मित्रोंके समान एक मुख्य साधक दूसरा सहायक साधक भी उनमें नहीं है किन्तु दोनों मिलकर ही समानरूपसे स्वकार्य साधक एक पदार्थ सिद्धिसाधक हैं। इसलिये इनके विषयमें शत्रुमित्र दोनोंके दृष्टान्त ही विरुद्ध हैं।

* अप्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी कल्पनाके अन्त न होनेका नाम ही अनवस्था है। यह दोष है।

+ उपादान-प्रेरक-उदासीन आदि कारण एक कार्यमें आवश्यक होते हैं। संभव है एक कार्यमें अनेक मित्रोंकी सहायता आवश्यक हो।

रज्जु युग्म भी दृष्टान्ताभास है—

वामेतरकरवर्तिरज्जुयुग्मं न चेह दृष्टान्तः।
बाधितविषयत्वाद्वा दोषात्कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥४०२॥
तदसत्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात्।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥४०३॥

अर्थ—[illegible] मथते समय दाँये बाँये हाथमें रहनेवाली रस्सियोंका दृष्टान्त भी [illegible] है। क्योंकि इस दृष्टान्त द्वारा दोनोंको मिलाकर कार्यकारी बतलाया गया है। [illegible] कार्यकी सिद्धि नहीं होती, उल्टी हानि होती है, [illegible] बाधा आती है। अतः यह दृष्टान्त कालात्ययापदिष्ट दोष [illegible] है। क्यों [illegible] है? इसका [illegible] इस प्रकार है—[illegible] ही कार्य होता है। ऐसा [illegible] भी [illegible] है। [illegible] है वैसे उसके [illegible] भी गोरसपना [illegible] है। [illegible] एक [illegible] मिलाकर एक कार्य [illegible] है, ऐसा दृष्टान्त ही [illegible] बाधित है, क्योंकि [illegible] एक ही [illegible] है। [illegible] ऐसा [illegible] है। [illegible] सिद्ध भी नहीं है, [illegible] नहीं होता किन्तु उसकी [illegible]

[illegible]

सुन्दोपसुन्द भी दृष्टान्तमात्र है।

सुन्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम्।
तदसदसत्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥ ४०७ ॥

सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोपि।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्मसुखदोषात् ॥४०८॥

अर्थ—सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लोंका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्तसे अन्योन्याश्रय दोषके साथ ही पदार्थके अभावका प्रसंग आता है। जैसे—जब उपसुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी सुन्द सिद्ध होता है, और जब सुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी उपसुन्द सिद्ध होता है। ये दोनों ही एक दूसरेके आश्रित सिद्ध होते हैं इसीका नाम अन्योन्याश्रय दोष है। * अन्तमें दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहींहो पाती अर्थात् दोनों ही मरजाते हैं। इसलिये उनसे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। यह दोष शङ्काकारके अपने मुखसे ही कह डाला है। भावार्थ—सुन्द, उपसुन्द मल्लोंके समान सत् परिणामको यदि माना जाय तो उनकी असिद्धि और उनका अभाव सिद्ध होगा।

यदि उन्हें अनादि सिद्ध माना जाय तो—

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापन्हवात्तदेवेह।
तदपि न तद्द्वैतं किल स्यसदोषास्पदं यदद्वैतत् ॥ ४०९ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि सत् परिणाम दोनों अनादि सिद्ध हैं। वे किसीके किये हुए नहीं हैं। उनमें सदा ये वे ही हैं ऐसी नित्यताकी प्रतीति भी होती रहती है तो ऐसा कहना भी निर्दोष सिद्ध नहीं होता है कारण कि इस प्रकारकी नित्यतामें परिणाम नहीं बन सकता है। परिणामकी सिद्धि वहीं पर होसकती है जहां पर कि कथंचित् अनित्यता है। सर्वथा नित्यमें परिणाम नहीं बन सकता है। इसलिये उपर्युक्त रीतिके अनुसार माननेपर भी सत् परिणामके द्वैतमें निर्दोषता नहीं सिद्ध होती है। भावार्थ—अनादि सिद्ध माननेसे शंकाकारने सत् परिणामसे अन्योन्याश्रय दोषको हटाना चाहा था, परन्तु उसकी ऐसी अनादि सिद्धतामें द्वैतभाव ही हट जाता है। इसलिये कथंचित् (पर्यायकी अपेक्षासे) अनित्यताको लिये हुए ही पदार्थ अनादि सिद्ध है।

---

* जहां पर दो पदार्थोंमें एककी सिद्धि दूसरे पर अवलम्बित रहती है वहां पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसे वैदिक ईश्वरके पास उपकरण—सामग्री हो तो वह सृष्टि रचे, और जब वह सृष्टि रचे तब उसके पास उपकरण—सामग्री हो। इन दोनोंमें एक दूसरेके आधीन होनेसे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त दृष्टान्त प्रशंसनीय नहीं है—

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥४१०॥

अर्थ—ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब दृष्टान्ताभास + हैं उनसे उनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। जो दृष्टान्त लक्ष्यके सन्मुखवाणोंके समान स्व साध्यकी सिद्धि कराते हैं वे ही दृष्टान्त प्रशंसनीय कहे जाते हैं।

सत् परिणाम कथंचित् भिन्न अभिन्न हैं—

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वात्‌ ।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥ ४११ ॥

अर्थ—सत् परिणामके भिन्न प्रदेश नहीं हैं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये उन दोनोंमें द्वैत भाव नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही अद्वैत हैं। तथा कथंचित् सत् और परिणाममें द्वैत भी है, अर्थात् कथंचित् सत् भिन्न है और परिणाम भिन्न है। सत् परिणाममें कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाशमें होती है। दीपसे प्रकाश कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है।

और भी—

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम्।
उन्मज्जच्च निमज्जच्चाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें जल और उसकी तरंगोंके समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है। जलमें एक तरंग उछलती है दूसरी शान्त होती है, फिर तीसरी उछलती है चौथी शान्त होती है। इस तरंगोंके प्रवाहसे तो प्रतीत होता है कि जलसे तरंगें भिन्न हैं। परन्तु वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो न कोई तरंग उछलती है और न कोई शान्त होती है केवल जल ही जल प्रतीत होता है। विचार करने पर तरंगें भी जलरूप ही प्रतीत होने लगती हैं, इसी प्रकार सत्से परिणाम कथंचित् भिन्न भी प्रतीत होता है, क्योंकि जो एक समयमें परिणाम है, वह दूसरे समयमें नहीं है। जो दूसरे समयमें है वह तीसरेमें नहीं है। यदि द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन प्रतिसमयमें होनेवाले [illegible] ही द्रव्य है। अनादि-अनन्तरूपसे परिणामसमूहको [illegible], इसलिये सत्से परिणाम भिन्न भी नहीं है। भावार्थ- [illegible] है।

+ [illegible] दृष्टान्त बताते हैं, परन्तु जो साध्यकी सिद्धि तो नहीं [illegible] दृष्टान्ताभास कहते हैं।

और भी—

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद्द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें घट और मिट्टीके समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है मृत्तिका रूपसे तो उस पदार्थमें नित्यता आती है और घटरूप पर्यायकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता आती है । उसी प्रकार द्रव्य दृष्टिसे सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टिसे परिणाम कहा जाता है ।

उसीका खुलासा—

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥४१४॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सत् कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है । किसी पुरुषको १० वर्ष पहले देखनेके पीछे दुबारा जब देखते हैं तब उसका वही स्वरूप पाते हैं जो कि १० वर्ष पहले हमने देखा था, इसलिये हम झट कह देते हैं कि यह वही पुरुष है जिसे हमने पहले देखा है, इस प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीतिसे तो सत् नित्य सिद्ध होता है, और उस पुरुषकी १० वर्ष पहले जो अवस्था थी वह १० वर्ष पीछे नहीं रहती। १० वर्ष पीछे एक प्रकारसे वह पुरुष ही बदल जाता है। फिर उसमें यह प्रतीति होने लगती है कि यह वैसा नहीं है, इस प्रतीतिसे सत् अनित्य सिद्ध होता है ।

और भी—

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥४१५॥

अर्थ—युक्तिवश-विवक्षावश सत् उभय दो रूप भी है, और एककी विवक्षा करनेसे एक कालमें एक ही कहा जाता है, इसलिये वह एक है, अर्थात् विवक्षावश सत् कथंचित् एक रूप है और कथंचित् उभयरूप है तथा वही सत् अनुभयरूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि वादसे वह रहित होता है, अर्थात् विकल्पातीत अवस्थामें वह सत् न एक है न दो है, किन्तु अनुभयरूप प्रतीत होता है ।

और भी—

व्यस्तं सन्नययोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥४१६॥

अर्थ—नयकी विवक्षा करनेसे सत् व्यस्त २ (जुदा) है । नित्यत्वकी विवक्षा करने पर वह नित्य मात्र ही है, और प्रमाणकी विवक्षा करनेसे वही सत् समस्त (नित्या-नित्यानित्य) है ।

उभयथा-अविरुद्ध है—

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अर्थ—सत् क्रमवर्ती—क्रमसे परिवर्त्तनशील है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि वह अनादिकालसे परिणमन करता आया है तथा वह सत् अक्रमवर्ती है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि परिवर्तनशील होने पर भी वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है, उन सब गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं। उनमें एक द्रव्यत्व गुण भी है उस गुणका यह कार्य है कि द्रव्य सदा परिणमन करता रहे, कभी भी परिणाम रहित न हो। द्रव्यत्व गुणके निमित्तसे द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है, परन्तु परिणमन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी नहीं हो सक्ता, अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलरूप अथवा पुद्गल द्रव्य जीवरूप कभी नहीं हो सका, ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्हीं गुणोंमें एक अगुरुलघु नामा भी गुण है उसका यह कार्य है कि कोई भी द्रव्य परिणमन अपने स्वरूपमें ही करे, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी न हो, एक गुण भी दूसरे गुणरूप न हो, तथा एक द्रव्यके अनन्त गुण जुदे २ न बिखर जांय किन्तु तादात्म्यरूपसे बने रहें। इसप्रकार द्रव्य क्रमवर्ती—अक्रमवर्ती, नित्य—अनित्य, भिन्न—अभिन्न, एक—अनेक, उभय—अनुभय, पृथक्—अपृथक् आदि अनेक धर्मवाला विवक्षासे सिद्ध होता है।

शङ्काकार—

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥४१८॥
इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोपि।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥४१९॥
इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित्।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥४२०॥
तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः।
अप्यात्मसुखदोपात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ॥४२१॥

अर्थ—क्या एक द्रव्यमें दो विरोधी धर्म रह सक्ते हैं ? यदि ऊपरके कथनानुसार रह सके हैं तब तो इस जगतमें कोई भी शरण नहीं रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेंगे। ऐसी विरुद्धतामें कोई भी पदार्थोंके समझनेकी इच्छा रखनेवाला—जिज्ञासु कुछ निश्चय नहीं कर सकेगा किन्तु वह स्वयं संशयरूपी झूलेमें झूलने लगेगा, क्योंकि वह जिस समय सत्—वस्तुको नित्य समझेगा उसी समय उसको नित्यताकी विरोधिनी अनित्यता भी उसमें

प्रतीत होगी, ऐसी अवस्थामें वह न तो वस्तुमें नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु सदा संशय-संशयालु बना रहेगा। इसी प्रकार यदि वह यह समझने लगे कि वस्तु अनित्य ही होती है, तो भी वह निश्चित विचारवाला निःसंशयी नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसी समय अनित्यका विरोधी नित्यरूप-सदा वस्तुको स्थिररूप भी वस्तुमें उसे प्रत्यक्ष दीखने लगेगा। इन बातोंसे जाना जाता है कि अनेकान्त-स्याद्वाद बहुत ही कठिन है, अर्थात् सब कोई इसका पार नहीं पासकते हैं, इसीलिये यह अच्छा नहीं है, क्योंकि सबका इससे कल्याण नहीं होता है, दूसरी बात यह भी है कि यह अनेकान्त स्वयं ही दोषी बन जाता है, क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसी समय उसका व्यभिचार-विरोध स्वयं हो जाता है, इसलिये यह अनेकान्त ठीक नहीं है?

उत्तर—

तत्र यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।
सोऽपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥ ४५२ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि अनेकान्तका अभाव मान लिया जाय तो उस समय एकान्त ही सर्वथा बलवान सिद्ध होगा, वह या तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा, परन्तु सर्वथा एकान्तरूपसे पदार्थमें न तो नित्यता ही सिद्ध होती है और न अनित्यता ही सिद्ध होती है। इसलिये एकान्त पक्षसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। इसी बातको नित्य अनित्य पक्षमें क्रमसे दिखाते हैं—

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात् ।
तदभावेऽपि न तत्त्वं क्रियाफलं कारकाणि यावदिति ॥ ४५३ ॥
परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः ।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—सर्वथा सत् नित्य ही है, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेपर पदार्थमें विक्रिया किस न्यायसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती, यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो उसके अभावमें पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है, न क्रिया ही सिद्ध होती है, न उसका फल सिद्ध होता है और न उसके कारक ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि सत् पदार्थकी अवस्था भेद रूप ही परिणाम है, और उसीको विक्रियाके नामसे कहते हैं। उस [illegible] होनेवाली अवस्थाभेदका अभाव मानने पर सत्का ही अभाव हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु सुप्रसिद्ध दृष्टान्तसे सिद्ध है।

दृष्टान्त—

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२५ ॥

अर्थ—यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओंका संयोग ही पटकी क्रिया है। यदि वह तन्तु संयोगरूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नहीं ठहरता है। क्योंकि तन्तु संयोगसे अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नहीं है। भावार्थ—तन्तु संयोगरूप क्रियाके मानने पर ही पटकी सत्ता और उससे शीत निवारण आदि कार्य सिद्ध होते हैं, यदि तन्तु संयोग रूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न २ तन्तुओंसे न तो पटात्मक कार्य ही सिद्ध होता है और न उन स्वतन्त्र तन्तुओंसे शीत निवारणादि कार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तन्तु संयोगरूपा क्रिया पटकी अवश्य माननी पड़ती है।

विक्रियाके अभावमें और भी दोष—

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात्।
तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२६ ॥

अर्थ—यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्तिका जो साधन-उपाय किया जाता है वह तो क्रिया पड़ती है, और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है तथा उसका करनेवाला-कर्त्ता पुरुषार्थी पुरुष होता है। यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमेंसे एक भी कारक सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ-पदार्थोंमें विक्रिया मानने पर ही इस जीवके मोक्ष प्राप्ति और उसके साधनभूत तप आदि उत्तम कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा कुछ भी नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च।
अर्थात् सन्नित्यं किल नह्यौषधमातुरे तमनुवर्त्ति ॥४२७॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थकारने विक्रियाके अभावमें जो कारकादिका न बनना आदि दोष बतलाये हैं वे हों, अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हों, ऐसा माननेमें भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही मानेंगे। नित्य माननेपर उसमें मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इसकी हमें परवाह नहीं है, क्योंकि औषधि रोगीका रोग दूर करनेके लिये दी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह रोगीको अच्छी लगे या बुरी लगे? भावार्थ—औषधि देने पर विचार नहीं किया जाता है कि रोगी इसे अनुकूल समझेगा या नहीं, उसके समझने न समझने पर औषधिका देना अवलम्बित नहीं है। उसी प्रकार यहां पर वस्तु विचार आवश्यक है। उसमें चाहे कोई भी दोष आओ अथवा विक्रियाका अभाव हो जाओ इससे शंकाकारकी कुछ हानि नहीं है।

उत्तर—

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिना तावत् ।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलदृष्टान्तः ॥४२८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि शंकाकारके पदार्थको सर्वथा नित्य मानना आदि विचार तभी तक ठहर सकते हैं जब तक कि उसके सामने मेघका दृष्टान्त नहीं आया है। जिस समय उसके सामने यह अनुमान रक्खा जाता है कि जो सत् है वह क्षणिक भी है* जैसे जलके देनेवाले मेघ। उसी समय उसके नित्यताके विचार भाग जाते हैं, अर्थात् जो मेघ अभी आते हुए दीखते हैं वे ही मेघ तुरन्त ही नष्ट–विलीन होते हुए भी दीखते हैं, ऐसी अवस्थामें कौन साहस कर सक्ता है कि वह पदार्थको सर्वथा नित्य कहे ?

सत्को सर्वथा अनित्य माननेमें दोष—

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सत्–पदार्थ सर्वथा अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत्को अनित्य माननेवालोंका) स्वयं शत्रु है। क्योंकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जायगा, फिर प्रमाण और उसका फल किस प्रकार बन सक्ता है ? अर्थात् नहीं बन सक्ता।

और भी दोष—

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य ।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादिनामिह हि ॥४३०॥

अर्थ—जो दार्शनिक (बौद्धादि) पदार्थको सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके लिये उनका वचन ही स्वयं उनका खण्डन करता है, क्योंकि जो पदार्थको सर्वथा विनाशीक माननेवाले–शून्यवादी हैं वे जो सत् है सो अनित्य है ऐसा वाक्य ही नहीं कह सकते हैं। नहीं कह सकनेका कारण भी यही है, कि, जब वे वाक्य बोलते हैं उस समय सत् तो नष्ट ही हो जाता है अथवा सर्वथा अनित्य पक्षवालोंके यहां पूरा वाक्य ही नहीं बोला जासक्ता, क्योंकि जब तक वे 'जो सत् है' इस वाक्यका 'सत्' पद बोलेंगे तब तक 'जो' नष्ट हो जायगा। जब 'है' पद बोलेंगे तबतक 'सत्' पद भी नष्ट हो जायगा। जब उत्तरार्ध 'सो अनित्य है' बोलेंगे तबतक पूर्वार्ध और उत्तरार्धके

*सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, जो सत् है वह सब क्षणिक ही है। इस अनुमानसे बौद्ध पदार्थोंमें क्षणिकता सिद्ध करते हैं, परन्तु वे एकान्तरूपसे करते हैं, यह सब प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि पदार्थोंमें 'यह वही है, ऐसी भी प्रतीति होती है।

पहलेके वर्ण भी नष्ट हो जायँगे। इसलिये शून्य वादियोंके यहां पदार्थकी सिद्धि तो दूर रही उसका प्रतिवादक वाक्य भी नहीं बनता है।

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तद्भावसाधनायालम्।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥४३॥

अर्थ—यदि सत्का अभाव स्वीकार करते हुए ही किसी प्रकार पदार्थमें नित्यताका अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसी प्रकार मिथ्या (झूठा) है जिस प्रकार किसीका यह कहना कि मैं बाँझ स्त्रीके पुत्रको मारता हूं, मिथ्या है। भावार्थ—जब बाँझ स्त्रीके पुत्र ही नहीं होता तो फिर मारा किसे जायगा। उसी प्रकार जब सत्का अभाव सर्वथा अनित्यवादियोंने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यताका अभाव किसमें सिद्ध करें

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम्।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥४३॥

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि लोकमें ऐसी प्रतीति भी होती है जो कि क्षणिक एकान्तकी सर्वथा बाधक है। वह प्रतीति इस प्रकार है—जो सत् है वह नित्य है, जैसे—यह वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यभिज्ञान प्रतीति प्रमाण है क्योंकि उससे लोक यथार्थ बोध और इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है, प्रत्यभिज्ञानकी सत्ता से पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है। विना कथंचित् नित्यताके पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रतीति होती ही नहीं। इसलिये यह प्रतीति ही क्षणिकैकान्तकी बाधक है।

सर्वथा नित्य माननेमें दोष—

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात्।
तस्मान्न्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्त्वम् ॥४३॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकैकान्तसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार नित्य एकान्तमे भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध है कि पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है, उभयात्मक है। भावार्थ—जैसे सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे सर्वथा अनित्यमें नहीं हो सकता है वैसे वह सर्वथा नित्यमें भी नहीं हो सकता है। इसका कारण भी यह है कि प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और वर्तमान ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है। सर्वथा नित्यमें वैसी प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिये पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, अनुभव, आगमसे सुसिद्ध है।

शङ्काकार—

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत्।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥४

अर्थ—क्या सत् एक है, अथवा अनेक है अथवा उभय है या अनुभय है अथवा कि एक एक अंशरूप है ? अथवा और ही प्रकार है ?

उत्तर—

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात् ।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥ ४३५ ॥

अर्थ—ठीक है, सत् नय दृष्टिसे एक भी है अनेक भी है उभय भी है और अनुभय भी है × परन्तु यह सब नयविवक्षासे ही बनती है, नय विवक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर सर्वथा सत्को एक कहना भी ठीक नहीं है, अनेक कहना भी ठीक नहीं है * और उभय कहना भी ठीक नहीं, अनुभय कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूपसे एक निश्चय सत् अप्रमाण ही है।

सत् स्वतः एक है—

अथ यथा सदेकं स्यादभिन्नप्रदेशवत्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥४३६॥

अर्थ—गुण पर्याय रूप अंशोंको अभिन्न प्रदेशी होनेसे सत् एक है अथवा अखण्ड सामान्यकी अपेक्षासे निरंश-अंश रहित देश होनेसे सत् एक है। भावार्थ—द्रव्यमें गुण पर्यायें उसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि जलमें कल्लोलें होती हैं। जिसप्रकार जलसे कल्लोलोंकी सत्ता भिन्न नहीं है उसी प्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोंकी सत्ता भी भिन्न नहीं है। केवल विवक्षासे द्रव्य गुणपर्यायोंकी कल्पना की जाती है, शुद्ध दृष्टिसे जो द्रव्य है सोई गुण पर्याय है, जो गुण है सोई द्रव्य पर्याय है, अथवा जो पर्याय है सोई द्रव्य गुण है, इसलिये सब तीनों एक ही है सो न उनकी भिन्न सत्ता है, और न उनके भिन्न प्रदेश ही हैं। तथा शुद्ध दृष्टिसे न उनमें अंश कल्पना ही है किन्तु निरंश—अखण्ड देशात्मक एक ही सत् है।

तथा—

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन ।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥ ४३७ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नियमसे सत् अखण्ड है, अब इन चारोंकी अपेक्षासे ही सत्में अखण्डता क्रमसे सिद्ध की जाती है।

द्रव्य-विचार—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात् ।
नहि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः ॥४३८॥

× च शब्दसे अनुभयादिका ग्रहण किया जाता है।

* यहांपर 'वा' शब्दसे उभयादिका ग्रहण कर लेना चाहिये।

अर्थ—गुण पर्यायवाला द्रव्य है, अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्यका शरीर है, गुण पर्याय स्वरूप ही द्रव्य है, इसलिये सत् एक है। ऐसा नहीं है कि उसके कुछ अंश तो गुणरूप हों, कुछ पर्यायरूप हों।

दृष्टान्त—

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्द्वैतम्।
नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भांशैः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—रूपादि विशिष्ट तन्तुवाला पट कहलाता है, इस कथनकी अपेक्षासे वह स्वयं द्वैतभाव धारण करता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पटमें कुछ अंश तो रूपमय हों, और कुछ तन्तुमय हों। किन्तु रूप तन्तु पट तीनों एक ही पदार्थ हैं। केवल विवक्षासे उनमें द्वैतभाव है।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम्।
सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित् ॥ ४४० ॥

अर्थ—सत्में जो एकत्व है, वह गोरसके समान अनेक सत्ताओंके सम्मेलनसे एक सामान्य सत्त्वरूप नहीं है। जैसे—गोरस (दुग्धादि) की मिली हुई अवस्थामें कुछ घृतभाग है, और कुछ जलभाग है, परन्तु सम्मेलन होनेके कारण उन्हें एक ही गोरससे पुकारते हैं, वैसे सत्में एकत्व नहीं है। भावार्थ-जैसे गोरसमें कई पदार्थोंकी भिन्न २ सत्ता है परन्तु मिलापके कारण एक गोरसकी ही सत्ता कही जाती है। वैसे सत् एक नहीं कहा जाता है किन्तु एक सत्ता होनेसे वह एक कहा जाता है।

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्यात्ता प्रयोजकं यस्मात्।
क्वचिदश्मनि तद्भावान्माभूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं कहा जासक्ता कि यद्यपि सत्में भिन्न २ सत्तायें हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन नहीं किया जासक्ता है इसलिये सतको एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है। जैसे कि स्वर्ण पाषाणमें स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन अशक्य है इसलिये उसे एक ही पत्थरके नामसे पुकारा जाता है। ऐसा कहनेसे जिस प्रकार कनकोपल—स्वर्ण पाषाणमें द्वैतभाव है उसी प्रकार सत्में भी द्वैतभाव सिद्ध होगा, परन्तु स्वर्णपाषाणमें जिस प्रकार भिन्न २ दो पदार्थ हैं उस प्रकार सत्में नहीं है। सत् वास्तवमें एक सत्तात्मक एक ही है।

[illegible]—

[illegible] यथा द्वैतं स्याद्द्व्यणुकवस्तुत्वम्।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—इसलिये एकत्व सिद्ध करनेके लिये न तो भिन्न २ अनेक सत्ताओंका सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्वका प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है। अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी-एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है। प्रकृतमें द्रव्यकी अपेक्षासे भी ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत्में माना गया है।

शङ्काकार—

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥
न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

अर्थ—यदि स्वयं सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये। अर्थात् जब द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही हैं तो तीनोंमेंसे कोई एक कहा जा सकता है बाकीके दोनोंका लोप होना अवश्यम्भावी है, परन्तु वैसा होता नहीं है, द्रव्य गुण पर्याय, तीनोंका कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये यह बात ही निर्दोष सिद्ध होती है कि सत् छाया और दर्पणके समान अनेक कारणजन्य है ? भावार्थ—यदि द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही बात है तब तो एक शेष रहना चाहिये, दोका लोप हो जाना चाहिये। यदि तीनों ही तीन बातें हैं तो वे अवश्य ही सतको अनेक हेतुक सिद्ध करती हैं, और अनेक हेतुक होनेसे सत्में अनेकत्व भी सिद्ध होगा ?

उत्तर—

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् ॥४४५॥

अर्थ—ठीक है, कथंचित् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेक हेतुक भी है। परन्तु उसमें अनेक हेतुता छाया और दर्पणके समान इच्छानुसार नहीं है किन्तु प्रतीतिके अनुसार है। सत्के विषयमें छायादर्शका दृष्टान्त असिद्ध है। क्यों असिद्ध है ? उसीका उत्तर नीचे दिया जाता है।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षादै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव वाऽन्वयाभावः ॥४४६॥
यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य सतोप्यच्छायत्वात् ॥४४७॥

अर्थ—नियमसे प्रतिबिम्बका नाम ही छाया है। वह वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण)के सम्बन्धसे होती है। यदि उस छायाको केवल दर्पणकी ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष

त्र्यणुक चतुरणुक+ शताणुक लक्षाणुक आदि पुद्गल स्कन्ध हो सकते हैं। उन्हें क्यों छोड़ दिया गया ? परंतु उपर्युक्त आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहां शुद्ध नयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्योंका कथन है, उपचरित द्रव्योंका कथन नहीं है। भावार्थ—संख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं है किन्तु कई पुद्गल द्रव्योंके मेलसे होनेवाला स्कन्ध है। वह यहां पर विवक्षित नहीं है। परमाणु और काल द्रव्यको संख्यात प्रदेशी नहीं कहा गया है किन्तु निरंश-एक देश मात्र कहा गया है।

प्रकारान्तर—

अयमर्थः सद्वेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति ।
एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तन्नयद्वयान्न्यायात् × ॥४५२॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत्के दो भेद हैं (१) एक देशी (२) अनेक देशी। उन दोनोंमें प्रत्येक ही दो नयोंकी विवक्षासे एक और अनेक रूप है। भावार्थ—इस श्लोक द्वारा प्रदेशोंके भेद तीनके स्थानमें दो ही बतलाये गये हैं, और असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश अनेकमें गर्भित किये गये हैं। जो एक प्रदेशी है वह द्रव्य भी नय सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकार और नय विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकार है। इसी प्रकार अनेक प्रदेशी द्रव्य भी समझना चाहिये।

अथ यस्य यदा यावद्यदेकदेशे यथा स्थितं सदिति ।*
तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥४५३॥

अर्थ—जिस समय जिस द्रव्यके एक देशमें जैसे सत् रहता है वैसे उस द्रव्यके उस समय सर्व देशोंमें सत् समुदित रहता है। भावार्थ—द्रव्यके एक प्रदेशमें जो सत् है वह उसके सर्व प्रदेशोंमें है। यहां पर तिर्यक् अंश कल्पना द्वारा वस्तुमें क्षेत्रका विचार किया है। जैसे—कोई वस्तु एक अंगुल चौड़ी दो अंगुल लम्बी और उतनी ही मोटी है, यदि ऐसी वस्तुमें निरंश कल्पना की जाय तो वह वस्तु प्रदेशोंके विभागकी अपेक्षासे उतनी ही लम्बी चौड़ी मोटी समझी जायगी ? और उसके प्रदेश उतने ही क्षेत्रमें समझे जायेंगे। स्मरण रहे कि यह क्षेत्र उस द्रव्यका आधारभूत आकाशरूप नहीं है किन्तु उसी द्रव्यका प्रदेशरूप है तथा वे एक अंगुल चौड़े दो अंगुल लम्बे मोटे प्रदेश अखण्ड—एक सत्ता

+ दो अणुओंका मिला हुआ स्कन्ध द्व्यणुक और तीनका मिला हुआ त्र्यणुक कहलाता है। इसी प्रकार सौ अणुओंका स्कन्ध शताणुक कहलाता है। परन्तु नैयायिक दर्शनवाले द्व्यणुकोंका मिला हुआ एक त्र्यणुक मानते हैं, चार द्व्यणुकोंका मिला हुआ चतुरणुक मानते हैं। द्व्यणुकको ही वे भी दो परमाणुओंका स्कन्ध कहते हैं।

× "तत्र तद्द्वयान्न्यायात्" ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह शुद्ध नहीं ऐसा है।

* "यावद्देशेदेशे" ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह भी समझमें नहीं ऐसा है।

हैं, इसलिये उन सब प्रदेशोंमें एक ही सत है अथवा वे सब प्रदेश एक सत् एक द्रव्यके नामसे कहे जाते हैं।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र यथा।
क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सत्का यह निर्दोष लक्षण क्षेत्रकी अपेक्षासे कहा गया। एक सत्के सर्व ही प्रदेश अखण्ड हैं इस लिये वे सब एक ही सत् कहे जाते हैं यही एकत्व विषयमें नय विभाग है।

न पुनश्चैकापवरकसञ्चरितानेकदीपवत्सदिति।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥ ४५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी मकानके भीतर एक दीप फिर दूसरा दीप फिर तीसरा फिर चौथा इसी क्रमसे अनेक दीप लाये जायँ तो जितनी२ दीपोंकी संख्या बढ़ती जायगी उतनी२ ही प्रकाशकी वृद्धि भी होती जायगी। उस प्रकार सत् नहीं है। सत्की वृद्धि अनेक दीपोंके प्रकाशके समान नहीं होती है।

तथा—

अपि तत्र दीपशमनेकस्मिंश्चित्तत्प्रकाशहानिः स्यात्।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे सद्धानिरेकरूपत्वात् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार मकानमें रक्खे हुए अनेक दीपोंमेंसे किसी दीपके बुझा देनेपर उस मकानमें कुछ प्रकाशकी कमी हो जाती है, उस प्रकार सत्की भी कमी हो जाती है, किन्तु अविवक्षित देशमें सत्की हानि नहीं होती है, वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थ—उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें सत्के विषयमें अनेक दीपकोंका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि अनेक दीपक अनेक द्रव्य हैं। अनेक द्रव्योंका दृष्टान्त एक द्रव्यके लिये किस प्रकार उपयुक्त (ठीक) हो सका है! भिन्न २ दीपकका भिन्न २ ही प्रकाश होता है, सब दीपोंका समुदाय ही बहु प्रकाशक है। इसलिये किसी दीपके लानेसे प्रकाशकी वृद्धिका होना और किसी दीपके बुझा देने पर प्रकाशकी हानिका होना आवश्यक है परन्तु एक सत्के विषयमें बहु द्रव्योंका दृष्टान्त ठीक नहीं है, हां यदि एक ही दीपकका दृष्टान्त उसके विषयमें दिया जाय तो ठीक है। जैसे एक दीपकको किसी बड़े कमरेमें रखते हैं तो उसका प्रकाश उस विस्तृत कमरेमें फैल जाता है, यदि उसको छोटी कोठरीमें रखते हैं तो उसका प्रकाश उसीमें रह जाता है, यदि उसे एक घड़ेमें रखते हैं तो उसका वह बड़े कमरेमें फैलनेवाला प्रकाश उसी घड़ेमें समा जाता है। यहां पर विचारनेकी बात इतनी ही है कि जिस समय दीपकको बड़े कमरेसे हटाकर

है, उस समय दीपकके प्रदेश कुछ बढ़ नहीं गये हैं और जिस समय कोठरी और घड़ेके भीतर उसे रक्खा है तो उसके प्रदेश क्रमसे घट नहीं गये हैं, किन्तु वे जितने हैं उतने ही हैं, दीपकके जितने भी प्रकाश परमाणु हैं वे सब उतने ही हैं। छोटे बड़े कमरोंमें और घड़ेमें दीपकको रखसे वे किञ्चित् भी घटे बढ़े नहीं हैं, केवल आवरक (प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थ—कमरा, घड़ा आदि)के भेदसे वे संकुचित और विस्तृत होगये हैं। यदि उन्होंने छोटा क्षेत्र पाया है तो उतनेमें ही वे संकुच कर समा गये हैं यदि बड़ा क्षेत्र उन्होंने पाया है तो वहां पर वे फैलकर समा गये हैं* इसी दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिये दूसरे दृष्टान्तका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जैसे—एक मन रुई धुनने पर एक बड़े लम्बे चौड़े कोठेमें आसकी है, परन्तु वही रुई जब पेचमें दबकर गांठकेरूपमें आजाती है तो बहुत ही थोड़े स्थानमें (दो फीट लम्बे और उतने ही चौड़े मोटे स्थानसे भी प्रायः कम क्षेत्रमें) समा जाती है। यहांपर विचार करनेका यही स्थल है कि रुईके प्रदेश धुनते समय क्या कहींसे आकर बढ़ जाते हैं? अथवा गांठ बांधते समय उसके कुछ प्रदेश कहीं चले जाते हैं? वास्तव दृष्टिसे इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें रुई तोलने पर एक ही मन * निकलती है। यदि उसके कुछ अंश कहीं चले जाते तो अवश्य उसकी तोलमें घटी होना चाहिये अथवा वृद्धि होने पर उसकी तोलमें वृद्धि होना चाहिये, परन्तु रुईमें घटी बढ़ी थोड़ी भी नहीं होती, इसलिये यह बात माननी ही पड़ती है कि रुईके अथवा दीपके प्रदेश जितने हैं वे उतने ही सदा रहते हैं केवल निमित्तकारणसे उनमें संकोच और विस्तार होता है। बस [illegible] इन्हीं दृष्टान्तोंकी तुलना दार्ष्टान्त—सत् रखता है। सत् जितने प्रदेशोंमें विभाजित है वह सदा उतने ही प्रदेशोंमें रहता है। उसके प्रदेशोंमें अथवा उसमें कभी कमी अधिकता या न्यूनता नहीं हो सकी है, केवल द्रव्यान्तरके निमित्तसे उनमें अथवा उसमें संकोच और विस्तार हो सका है। यदि पदार्थमें न्यूनाधिक्य होने लगे तो सत्का विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा फिर पदार्थोंमें कार्य कारण भावका अभाव होनेसे संकर आदि

* यद्यपि एक दीप भी अनेक परमाणुओंका समूह होनेसे अनेक द्रव्योंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे उसे द्रव्यान्तरकी तरह ही समझना चाहिये। इसलिये उसके [illegible] [illegible] और [illegible] पर [illegible] है [illegible] है। [illegible] दृष्टिसे [illegible] [illegible] है [illegible] दृष्टिसे उसका उतना ही [illegible] वर्णन [illegible] है।

* रुई धुनते समय जो उसमेंसे कुछ धूल ([illegible]) निकल [illegible] है [illegible] नहीं कहा जा सकता। यदि उसे भी जो [illegible] माने तो वे [illegible] [illegible] रुई [illegible] फिर [illegible] [illegible]।

कर अनवस्था शून्यता आदि अनेक दोष भी स्वयं परिस्त हो जायँगे जो कि पदार्थमात्रको इस नभोमण्डलमें नहीं ठहरने देंगे।

सर्वथा अभक्ता भी प्रयाजक नहीं है—

नाप्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजाभोगदेशमात्रत्वम्।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा॥ ४५७॥

अर्थ—यहां पर यह भी प्रयोजन नहीं है कि सत् जितने देश (यहां पर देशसे तात्पर्य आकाशकी अपेक्षासे है।) में रहता है उसका नियमित उतना ही देश कहा जाय, यदि ऐसा ही कहा जाय और सत्में अन्यथापना न माना जाय तो क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक किसप्रकार सिद्ध होगा?

शंका और [illegible] —

सदनेकं देशानामुप[illegible]त्प्रसर्पणा[illegible]दिति [illegible]।
न यतो नित्यवि[illegible] [illegible]नां न त[illegible] [illegible]गात्॥४५८॥
अपि परमाणोरिह वा [illegible]णोरेकदेशमात्रत्वात्।
कथमिव सदनेकं स्यादुप[illegible]प्रसर्पणाभावात्॥ ४५९॥

अर्थ—सत्के प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। इसलिये सत् अनेक है, ऐसी आशंका ठीक नहीं है, यदि सत्के [illegible]शोंका संकोच और [illegible] होनेसे ही उसे अनेक कहा जाय तो आकाश आदि नित्य-विभु [illegible] [illegible] अनेकत्व नहीं बन सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्यके प्रदेशका संकोच विस्तार ही नहीं होता है तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक २ प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकोच विस्तार हो ही नहीं सकता है, फिर इनमें अनेकत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? भावार्थ—संकोच विस्तारसे ही सत्में अनेकत्व मानना ठीक नहीं है।

[illegible]—

ननु च सदेकं देशैरिव [illegible] [illegible]विभु[illegible] [illegible]।
अपि सदनेकं देशैरिव [illegible] [illegible] [illegible]॥ ४६०॥

अर्थ—प्रदेशोंके समान सत्की [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] है, इसलिये तो सत् एक है और प्रदेशोंके समान [illegible] [illegible] है।*
भावार्थ—सत् सदा अखण्ड रहता है, [illegible] एक [illegible] अखण्ड रहने पर भी उसके प्रदेशोंकी संख्या अनेक है, इसलिये [illegible] भी [illegible] है।

* इस श्लोकमें [illegible] [illegible] अक्षर [illegible] किया गया है, जो हमारी समझमें नहीं आता है। (संशोधक।)

शंकाकार—

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेऽस्य।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु॥ ४५४॥

अर्थ—एक पदार्थमें अखण्डताका यह निदान-सूचक है कि उसके एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशमें परिणमन होता है। जिस प्रकार किसी बांसको एक भागमें हिलानें पर उसके सभी पर्वों (गांठों) में अर्थात् समस्त बांसमें परिणमन (हिलना) होता है। भावार्थ—बांसका दृष्टान्त देनेसे विदित है कि शंकाकार अनेक सत्तावाले पदार्थोंको भी एक ही समझता है।

उत्तर—

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात्।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः॥ ४५५॥

अर्थ—एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशोंमें परिणमन होना एक वस्तुकी अखण्डतामें निदान नहीं होसकता है। क्योंकि इस बातको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशमें परिणमन होता है) में अन्वय व्यतिरेक दोनों घटित होते हों तब तो उसकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा केवल अन्वयमात्रसे अथवा केवल व्यतिरेक मात्रसे उस कथनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यहां पर सदृश परिणमनकी अपेक्षासे अन्वय यद्यपि कथंचित् बन भी जाता है परन्तु व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता।

शंकाकार—

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चिदन्यतरेऽपि हेतुवशात्।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकतास्त्विति चेत्॥ ४५६॥

अर्थ—कारणवश किसी अन्यतर एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशोंमें परिणमन होता ही है, क्योंकि उन सब प्रदेशोंकी एक ही सत्ता है। भावार्थ—शंकाकार यह अन्वय कथन कहता है।

उत्तर—

न यतः सव्यभिचारः पक्षोऽनैकान्तिकत्वदोषत्वात्।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणमन्ति नेति यथा॥ ४५७॥

अर्थ—ऊपर जो अन्वय बतलाया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि [illegible]
[illegible] अनैकान्तिक दोष आता [illegible] (दोषी) है। वह दोष [illegible] है

कि अनेक सत्तावाले मिले हुए पदार्थोंमें किसी संकेतित देशमें परिणमन होनेसे सभी देशोंमें सभी पदार्थोंमें परिणमन होता है। भावार्थ—शंकाकारने एक देशमें परिणमन होनेमें एक सत्ता हेतु बतलाया था, परन्तु उसमें दोष आता है। क्योंकि अनेक सत्तावाले पदार्थोंमें होनेवाला सदृश परिणमन भी एक परिणमनके रूपसे कहा जाता है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक पदार्थका परिणमन जुदा २ होता है, परन्तु स्थूलतासे समान परिणमनको एक ही परिणमन कह दिया जाता है। एक कहनेका कारण भी अनेक पदार्थोंका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसे बांसमें जो परिणमन होता है उसमें प्रत्येक परमाणुका परिणमन जुदा २ है। परन्तु समुदायकी अपेक्षासे सम्पूर्ण बांसके परिणमनको एक ही परिणमन कहा जाता है। शंकाकार वस्तुके एक देशके परिणमनसे उसके सर्व देशमें परिणमन मानता है परन्तु ऐसा पक्ष युक्ति संगत नहीं है, इसीलिये आचार्यने दिखा दिया है।

शङ्काकार—

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि।
तदितरदपि न परिणमति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ॥४४८॥

अर्थ—व्यतिरेक पक्षमें यह वाक्य है—किसी वस्तुके एक देशका परिणमन न होनेसे उसके सर्व देशोंमें भी परिणमन नहीं होता है। क्योंकि उन सब देशोंकी एक ही सत्ता है। भावार्थ—शंकाकारने ऊपर अन्वय वाक्य कहा था, उसमें ग्रन्थकारने अनैकान्तिक दोष दिया था, अब इस श्लोक द्वारा उसने व्यतिरेक वाक्य कहा है।

उत्तर—

तन्न यतः सति सति हि व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा।
[illegible] ॥४४९॥

अर्थ—ऊपर जो कहा है कि शंकाकारने जो व्यतिरेक वाक्य कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि [illegible] है अर्थात् उसका सत् लक्षण है और जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है उसे सत् कहते हैं। [illegible] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य [illegible] है [illegible] व्यतिरेक [illegible]। [illegible] उस देशमें [illegible] होता है और [illegible] परिणमन है। [illegible] परिणमन न होता हो, [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] है।

थम्भका दृष्टान्त देकर एक देशके परिणमनसे सर्व देशोंके परिणमन द्वारा ग्रहण करने से अखण्ड प्रदेशिता वस्तुमें सिद्ध की थी वह इस अन्वय व्यतिरेकके न बननेसे सिद्ध न हो सकी, इसलिये एक सत्ता ही एक वस्तुकी अखण्ड प्रदेशिता की नियामक है।

एवं यथेऽपि दुरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः।
यदकिञ्चित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः ॥ ४५० ॥

अर्थ—इसीप्रकार और भी जो लक्षणाभास हैं उन्हें भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये। क्योंकि उनसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती, ऐसे अकिंचित्कर लक्षणाभासोंका यहांपर हम उल्लेख भी नहीं करते हैं। उनका प्रयोग करना अधिकारसे बाहर है।

काल-विचार—

कालः समयो यदि वा तद्देशो वर्तनाकृतिश्चार्थात्।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकतनयांगात् ॥ ४५१ ॥

अर्थ—काल, समय अथवा उस देश (वस्तु) में वर्तनारूप आकारका होना ये तीनों बातें एक हैं। उस कालसे भी वस्तु अखण्डित है। वस्तुमें यह अखण्डता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे कही जाती है। भावार्थ—यहां पर कालसे तात्पर्य काल द्रव्यका नहीं है किन्तु द्रव्यकी वर्तनासे है, अथवा प्रत्येक वस्तुके कालसे है। जो काल द्रव्य है वह तो हर एक वस्तुके परिणमनमें उदासीन कारण है परन्तु हर एक द्रव्यके परिणमनमें उपादान कारण स्वयं द्रव्य ही है। उसी परिणमनशील द्रव्यका यहां स्व-कालकी अपेक्षासे विचार किया जाता है। प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। ऐसे अनादिकालसे अनन्त काल तक होनेवाले परिणमनोंके समुदायका नाम ही द्रव्य है। वस्तुकी एक समयकी अवस्था उस वस्तुसे अभिन्न है। वह प्रत्येक समयमें होनेवाली अवस्था ही उस वस्तुका काल है। उस कालकी अपेक्षासे भी वस्तु अखण्ड और एक है।

श्लोक ४५२ कथन—

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण।
समयो व्यस्तसमस्तैरितरसतो वा विचारयन्तु बुधाः ॥४५२॥
सर्वेकालपरस्य यथायथास्मिन्नस्ति सामर्थ्यम्।
पर्यायस्वरसमुदिते तत्तायत्तास्मिन्नस्ति सामर्थ्यम् ॥ ४५३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि एक वस्तु अनादिकालसे अनन्तकाल तक (प्रवाह) प्रवाह रूप पर्यायोंको धारण करता रहता है। इसलिये वस्तु उन अनन्त पर्यायोंका समूह ही है। उस वस्तुका समूहरूप स्वरूपसे यह बुद्धिपूर्वक विचार

करें तो वे यह बात समझ लेंगे कि प्रवाहरूपसे होनेवाली क्रमसे भिन्न भिन्न अथवा समस्त पर्यायें पदार्थरूप ही हैं अथवा पदार्थ ही प्रवाहसे होनेवाली उन पर्यायोंस्वरूप है किसी रूपसे भी पदार्थके ऊपर विचार किया जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि पदार्थ जैसा एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है वैसा सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंस्वरूप भी वही है, अथवा वह जितना एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है, उतना ही वह सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंरूप है।

* न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धौ ।
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार कालकी वृद्धि होनेपर शरीरादिकी वृद्धि होती है और कालकी हानि होनेपर शरीरादिकी हानि होती है, उस प्रकार सत्‌की भी हानि वृद्धि होती हो। शरीरादिकी हानि वृद्धिके समान न तो पदार्थकी वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है। भावार्थ जिस प्रकार थोड़े कालका बालक लघु शरीरवाला होता है परन्तु अधिक कालका होनेपर वही बालक हृष्ट पुष्ट—लम्बे चौड़े शरीरवाला युवा-पुरुष होता है। वृक्ष वनस्पतियोंमें भी यही बात देखी जाती है, कालानुसार वे भी अंकुरावस्थासे बढ़कर लम्बे वृक्ष और लताओंरूप हो जाती हैं, उसप्रकार एक पदार्थकी हानि वृद्धि नहीं होती है। उसके विषयमें शरीरादिका दृष्टान्त विषम है। शरीरादि पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याय है और वह अनेक द्रव्योंका समूह है। अनेक परमाणुओंके मेलसे बना हुआ स्कन्ध ही जीवशरीर है। उन परमाणुओंकी न्यूनतामें वह न्यून और उनकी अधिकतामें वह अधिक होजाता है, परन्तु एक द्रव्यमें ऐसी न्यूनता, अधिकता नहीं होसकती है। वह जितना है उतना ही रहता है। पुद्गल द्रव्यमें एक परमाणु भी जितना है वह सदा उतना ही बना रहेगा, उसमें न्यूनाधिकता कभी कुछ नहीं होगी। उसमें परिणमन किसी प्रकारका भी होता रहो। *

शंकाकार—

× ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसात्तु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

---

* 'न पुनः', के स्थानमें 'च पुनः' पाठ यथोचित [illegible] है। [illegible] अन्वय ठीक बननेमें एक अर्थ ही प्रतीत होता है।

* जैसे [illegible] [illegible] विभिन्नतासे [illegible] देता है वैसे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible])

× [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वृद्धि और [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] नहीं है।

ोता है। अर्थात् उसमें न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहींसे आजाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

स्पष्ट विवेचन—

अयमर्थो वस्तु यदा [illegible] विवक्षितैकभावेन ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ।४८४॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्तन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उस समय वह उसी ावमय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी सत्स्वरूप प्रतीत होता है, यदि किसी ूसरे भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह िवक्षित भाव भी उसी रूप (सत्स्वरूप) प्रतीत होता है। भावार्थ—जिस समय जिस ावकी विवक्षा की जाती है, उस समय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके ब गुण उसीके अंतर्लीन हो जाते हैं। इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥
न च किंचित्पीतत्वं किंचित्स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्त्वसत्ताकः ॥४८७॥
इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वादि पश्यते तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थ—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें र्ण (सोना)का दृष्टान्त भी है। सुवर्णमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। स समय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है। ा जिस समय वह सुवर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही ीत होता है। ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और छ गुरुता हो, और उन सबके समवायसे तीन सत्ताओंवाला एक सोना कहलाता हो। *

* न्यायदर्शन, गुण गुणीका सर्वथा भेद मानता है। सोनेमें जो पीलापन, भारीपन ादि गुण हैं उन्हें वह सोनेसे सर्वथा जुदा ही मानता है, और उनका गुणसे भिन्न स ा भी मानता है, परन्तु ऐसा उसका मानना सर्वथा व्यर्थ है। [illegible] ही भिन्न भिन्न कथा है तो गुण द्रव्य कहलाना चाहिये। क्योंकि द्रव्य [illegible]

अर्थ—भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म ये सब भावके ही पर्यायवाचक हैं।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात्।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अर्थ—उस भावसे सत् अखण्ड है। इसलिये एक देश नयसे (गुणोंकी अखण्डताके कारण) वह कथंचित् एक है। भावकी अपेक्षासे सत् एक है। इस विषयका लक्षण (स्वरूप) सावधानीसे इस समय कहा जाता है—

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सत्को गुणोंकी पंक्तिरूपसे यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत्को आप भावरूप ही देखेंगे, भावों (गुणों) को छोड़कर सत्में और कुछ भी आपकी दृष्टिमें न आवेगा। भावार्थ—सत् गुणका समुदाय रूप है, इसलिये उसे यदि गुणोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह गुण–भावरूप ही प्रतीत होगा। उस समय गुणोंके सिवा उसका भिन्न रूप कुछ नहीं प्रतीत होगा। जैसे स्कन्ध, शाखा, डाली, गुच्छा, पत्ते, फल, फूल आदि वृक्षके अवयवोंको अवयव रूपसे देखा जाय तो फिर समग्र वृक्ष अवयव स्वरूप ही प्रतीत होता है। अवयवोंसे भिन्न वृक्ष कोई वस्तु नहीं ठहरता है। क्योंकि अवयवसमुदाय ही तो वृक्ष है। वैसे ही एक द्रव्यके-द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, अमूर्तित्व आदि गुणोंको गुण रूपसे देखा जाय तो फिर उनसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है। क्योंकि गुणसमुदाय ही तो द्रव्य है इसलिये भावकी विवक्षामें पदार्थ भावमय ही है।

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सत्तावत् ॥४८२॥

अर्थ–उन सम्पूर्ण भावों (गुणों) में से जब किसी एक भावकी विवक्षा की जाती है तो संपूर्ण सत् उसीरूप (तन्मय) प्रतीत होता है। इसी प्रकार भिन्न २ भावोंकी अथवा समस्त भावोंकी विवक्षा करनेसे सत् भी उतना ही प्रतीत होता है।

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्त्वे महानिहास्ति यथा ॥४८३॥

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गलमय द्व्यणुकादि स्कन्ध परमाणुओंके कम होनेसे छोटा और उनके अधिक होनेसे बड़ा हो जाता है, उस प्रकार सत् छोटा और बड़ा नहीं

होता है। अर्थात् इसमें न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहींसे आजाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

स्पष्ट विवेचन—

अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह विवक्षितेन भावेन ।
तन्मात्रं तदिति स्यात्तन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥ ४८४ ॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं तदिति स्यात्तन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उस समय वह उसी भावमय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी तन्मयरूप प्रतीत होता है, यदि किसी दूसरे भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप (वस्तुरूप) प्रतीत होता है। भावार्थ—जिस समय जिस भावकी विवक्षा की जाती है, उस समय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके सब गुण उसीमें अन्तर्लीन हो जाते हैं। इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥
न च किंचित्पीतत्वं किंचित्स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।
तेषामिह समवायादस्ति सुवर्णस्त्रिसत्त्वसत्ताकः ॥४८७॥
इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वादि वक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थ—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें सुवर्ण (सोना)का दृष्टान्त भी है सुवर्णमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। जिस समय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है। तथा जिस समय वह सुवर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और कुछ गुरुता हो, और उन सबके समवायसे तीन सत्ताओंवाला एक सोना कहलाता हो। *

* न्यायदर्शन, गुण गुणीका सर्वथा भेद मानता है। सोनेमें जो पीलापन, भारीपन आदि गुण हैं उन्हें वह सोनेसे सर्वथा जुदा ही मानता है, और प्रत्येक गुणकी भिन्न २ सत्ता भी मानता है, परन्तु ऐसा उसका मानना सर्वथा बाधित ... प्रत्येक गुणकी भिन्न भिन्न सत्ता है तो गुण द्रव्य कहलाना ... क्योंकि

पृ०

यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जो सोनेका पीत गुण है उसके गुरुत्व आदिक गुन अन्तर्भूत हैं इसलिये सोना केवल गुरुत्वगुणके द्वारा भी कहा जाता है। भावार्थ-सोनेके पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व, आदि सभी गुणोंमें तादात्म्य है। वे सब अभिन्न हैं, इसलिये विवक्षित गुण प्रधान हो जाता है बाकीके सब उसीके अन्तर्लीन हो जाते हैं। सोना उस समय विवक्षित गुणरूप ही सब ओरसे प्रतीत होता है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात्।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥

अर्थ—जीवका जो ज्ञान गुण है, वही विवक्षावश सुखरूप हो जाता है, क्योंकि सुख गुण ज्ञान गुणके अन्तर्लीन (भीतर छिपा हुआ) रहता है। इसलिये विवक्षा करने पर ज्ञान सुखरूप ही प्रतीत होने लगता है। जिस समय जीवको सुख गुणसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह सुखस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंकी सुख स्वरूप ही एक सत्ता प्रतीत होती है।

शंकाकार—

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः।
तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥ ४९० ॥

अर्थ—सूत्रकार-पूर्वमहर्षियोंने गुणोंका लक्षण बतलाते हुए उन्हें निर्गुण बतलाया है, ऐसा सूत्रभी है-'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' और यह बात सप्रमाण सिद्ध की गई है, फिर किस प्रकार जीवका ज्ञान गुण सुख रूपसे विवक्षित किया जा सकता है।

भावार्थ—जब एक गुणमें दूसरा गुण रहता ही नहीं है ऐसा सिद्धान्त है तब ज्ञानमें सुखकी अंतर्लीनता अथवा सुखमें ज्ञानकी अन्तर्लीनता यहां पर क्यों बतलाई गई है।

उत्तर—

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात्।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु बात यह है कि गुणोंमें जो भेद है वह उनके लक्षणोंके भेदसे है। वह ऐसा भेद नहीं है कि गुणोंको सर्वथा जुदा २ सिद्ध करनेवाला हो। उन

जैसे भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र है वैसे गुण भी भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र होना चाहिये। जब दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो एक गुण दूसरा गुणी यह व्यवहार कैसे होसकता है? दूसरी बात यह भी है कि जब गुण द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे जिस प्रकार समवाय सम्बन्धसे एक द्रव्यके साथ रहते हैं उस प्रकार किसी अन्य द्रव्यके साथ भी रह सकते हैं, फिर अमुक द्रव्यका ही अमुक गुण है अथवा अमुक गुण अमुक द्रव्यमें ही रहता है, इस प्रतीतिका सर्वथा लोप होजायगा। इन दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण गुण गुणीको सर्वथा भेद माननेमें आते हैं।

सम्पूर्ण गुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये मन्यश प्रमाणसे उनमें अखण्डता—अभेद सिद्ध है।

भावार्थ—जो पूर्वमहर्षियोंने 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः' इस सूत्र द्वारा बतलाया है, उसका और इस कथनका एक ही आशय है। शंकाकारको जो उन दोनोंमें विरुद्धता प्रतीत होती है उसका कारण उसकी असमझ है। उसने अपेक्षाको नहीं समझा है। अपेक्षाके समझनेपर भिन्न बातोंमें विरोध प्रतीत होता है उन्हींमें अविरोध प्रतीत होने लगता है। सूत्रकारोंने गुणोंमें लक्षण भेदसे भेद बतलाया है। लक्षणकी अपेक्षासे सभी गुण परस्पर भेद रखते हैं। जो ज्ञान है वह दर्शन नहीं है, जो दर्शन है वह चारित्र नहीं है, जो चारित्र है वह वीर्य नहीं है, जो वीर्य है वह सुख नहीं है, क्योंकि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य प्रतीत होते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे सभी गुण भिन्न हैं। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रह सक्ता है। ज्ञानका लक्षण वस्तुको जानना है। सुखका लक्षण आनन्द है। जानना आनन्द नहीं हो सक्ता है। आनन्द बात दूसरी है, जानना बात दूसरी है। ऐसा भेद देखा भी जाता है कि जिस समय कोई विद्वान् किसी ग्रन्थको समझने लगता है तो उसे उसके समझनेपर आनन्द आता है * इससे यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान दूसरा है, सुख दूसरा है। इसी प्रकार चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य होनेसे सभी भिन्न हैं। इसलिये निर्गुणा गुणाः, इस सूत्रका आशय गुणोंमें सुघटित ही है। साथ ही दूसरी दृष्टिसे विचारने पर वे सभी गुण एक रूप ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सब गुणोंकी एक ही सत्ता है। जिनकी एक सत्ता है वे किसी प्रकार भिन्न नहीं कहे जासक्ते हैं। यदि सत्ताके अभेदमें भी भेद माना जाय तो किसी वस्तुमें अभिन्नता और स्वतन्त्रता आदी नहीं सक्ती है। ज्ञान दर्शन सुख आदि अभिन्न हैं, ऐसी प्रतीति भी होती है, जिस समय जीवको ज्ञानी कहा जाता है उस समय विचार करने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। दृष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी कहने पर जीवमें कुछ अंश तो ज्ञानमय प्रतीत होता हो, कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ अंश सुखमय प्रतीत होता हो। किन्तु सर्वांश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर सर्वांशरूपसे जीव सुखमय ही प्रतीत होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका बोध नहीं होना चाहिये अथवा दृष्टा और सुखी कहनेसे भी सम्पूर्ण जीवका

* किसी ग्रन्थके समझने पर जो आनन्द आता है वह यथा सुख नहीं कहा जा सक्ता। क्योंकि उसमें रागभाव है। उसे सुख गुणका वैभाविक परणति कहनेमें कोई हानि नहीं दीखती। यह ज्ञान सुखका भेद साधक बहुत स्थूल दृष्टान्त है ठीक दृष्टान्त सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव और सुखका है। जिस समय आत्मा निजका अनुभव करता है उसी समय उसे अलौकिक आनन्द आता है। वही आनन्द सच्चा सुख है। परन्तु वह अनुभव—ज्ञानसे जुदा है।

भेद नहीं होना चाहिये। किन्तु उसके एक अंशका ही बोध होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो नहीं होता है। इसलिये किसी वस्तु पर विचार करनेसे वह वस्तु अभिन्न गुणात्मक ही प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीतिसे गुणोंमें अखण्डता अविनाभावी सिद्ध होती है और उनमें अभिन्नता विवक्षित गुणके अन्तर्गत इतर सब गुणोंका होना भी सिद्ध है।

सारांश—

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात्।
अपि च विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥ [illegible] ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि भावकी अपेक्षासे सत् अखण्डित एक है। इतना विशेष समझना चाहिये कि वह सत्की एकता किसी अपेक्षासे है। सर्वथा एकता उसमें असिद्ध ही है, क्योंकि वस्तुमें एकता और अनेकता ये दोनों विवक्षासे सिद्ध होती हैं।

[illegible]

[illegible]

क्षेत्र विचार—

यत्सत्तदेकदेशे तद्देशे न तद्द्वितीयेषु ।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—जो सत् एक देशमें है वह उसी देशमें है। वह दूसरे देशोंमें नहीं है। और जो दूसरे देशमें है वह उसीमें है, वह अन्यमें नहीं है। इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक है, इस बातको कौन नहीं चाहेगा?

काल विचार—

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोपि तदपश्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—जो सत् एक कालमें है, वह उसी कालमें है, वह दूसरे कालमें नहीं है, और जो सत् दूसरे कालमें है वह पहलेमें अथवा तीसरे आदि कालोंमें नहीं है इसलिये कालकी अपेक्षासेभी सत् अनेक अवश्य है।

भाव विचार—

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥४९८॥

अर्थ—जो एक भाव है वह अपने स्वरूपसे उसी प्रकार है, वह अन्यभावरूप नहीं हो सक्ता है, और जो अन्यभाव है वह अन्यरूप ही है वह दूसरे भाव रूप नहीं हो सक्ता है, इसलिये भावकी अपेक्षासे भी नियमसे सत् अनेक है।

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—बाकीकी विधि (सत् नित्य अनित्य भिन्न आदिरूप) पहले ही कही जाचुकी है, इसलिये वह नहीं कही जाती है। गौरवके प्रसंगसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे उस विषयमें दृष्टान्त भी नहीं कहा जाता है

सारांश—

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अर्थ—इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवशसे अनेक भी सिद्ध होता है। यदि एक और अनेक इन दोनोंमेंसे किसी एकका लोप कर दिया जाय तो दूसरेका लोप भी दुर्निवार-अवश्यम्भावी है, अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। दोनोंकी सिद्धिमें दोनोंकी सापेक्षता ही कारण है। एक की असिद्धिमें दूसरेकी असिद्धि स्वयं सिद्ध है।

सर्वथा एक माननेमें दोष—

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम्।
इह तदवयवाभावे नियमात्सदवयविनोऽप्यभावत्वात्॥५०१॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक है, यह पक्ष भी वस्तुकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। वस्तुके अवयवोंके अभावमें वस्तुरूप अवयवी भी नियमसे सिद्ध नहीं होता है।

सर्वथा अनेक माननेमें दोष—

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात्॥५०२॥

अर्थ—सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि एक एक मिलकर ही अनेक कहलाता है। अनेक ही अनेक नहीं कहलाता। किन्तु एक एक संख्याके जोड़से ही अनेक सिद्ध होता है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंद्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्में अनेकत्व सिद्ध किया गया है। उनसे पहलेके श्लोकोंद्वारा सत्में एकत्व-अखण्डता सिद्ध की गई है। अखंण्डताके विषयमें ऊपर स्पष्ट विवेचन किया जा चुका है। यहां पर संक्षेपसे भेदपक्ष-अनेकत्व दिखला देना अयुक्त न होगा। वस्तुमें लक्षण भेदसे द्रव्य जुदा, गुण जुदा पर्याय जुदी प्रतीत होती है। इसलिये द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। वस्तु जितने प्रदेशोंमें विष्कंभ क्रमसे विस्तृत है उन प्रदेशोंमें जो प्रदेश जिस क्षेत्रमें है वह वहीं है और दूसरे, दूसरे क्षेत्रोंमें जहांके तहां हैं, वस्तुका एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपर नहीं जाता है, यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश पर चला जाय तो वस्तु एक प्रदेश मात्र ठहरेगी। इसलिये प्रदेश भेदसे वस्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक है। तथा जो वस्तुकी एक समयकी अवस्था है वह दूसरे समयकी नहीं कही जा सकी, जो दूसरे समयकी अवस्था है वह उसी समयकी कहलायगी वह उससे भिन्न समयकी नहीं कही जायगी। इसलिये वस्तु कालकी अपेक्षासे अनेक है और जो वस्तुका एक गुण है वह दूसरा नहीं कहा जा सक्ता, जो पुद्गल (जड़) का रूप गुण है वह गन्ध अथवा रस नहीं कहा जा सक्ता। जितने गुण हैं सभी लक्षण भेदसे भिन्न हैं। इसलिये भावकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। इसप्रकार अपेक्षा भेदसे वस्तु कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक है। जो विद्वान् एक अनेक, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि धर्मोंको परस्पर विरोधी बतलाते हुए उनमें संशय विरोध, वैयधिकरण, संकर, व्यतिकर आदि दोष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी ऐसी असंभव चेष्टा सूर्यमें अन्धकार सिद्ध करनेके समान प्रत्यक्ष बाधित है, उन्हें वस्तुस्वरूप पर दृष्टि डालकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये।

अर्थ—अथवा ज्ञान विकल्पका नाम ही नय है। अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञानको नय कहते हैं—और जितना विकल्प है वह सब अपरमार्थ—अयथार्थ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान गुण नय नहीं कहा जाता है, और न शुद्ध ज्ञेय ही नय कहा जता है। किंतु ज्ञान और ज्ञेय, इन दोनोंके योग—सम्बन्धसे ही नय कहा जाता है। इसीलिये वह अयथार्थ है।

स्पष्ट विवेचन—

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥६०७॥

अर्थ—ज्ञान विकल्प नय है इस विषयमें यह प्रक्रिया (शैली) लगानी चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान नयरूप नहीं है। जो नय है वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि नय विकल्प स्वरूप है। भावार्थ—शुद्ध ज्ञान नयरूप नहीं है। किंतु विकल्पात्मक ज्ञान नय है।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥६०८॥

अर्थ—जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय नय पक्ष भी प्रकट होता है। जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है, उस समय नय पक्ष भी स्वयं छिप जाता है। अर्थात् जहां पदार्थ किसी अपेक्षा विशेषसे विवक्षित होता है वहींपर नय पक्ष स्वकार्यदक्ष होता है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥६०९॥

अर्थ—यह दृष्टान्त स्पष्ट ही है कि जैसे उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं होजाता, और न घट ही ज्ञान रूप होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है। भावार्थ—ज्ञानका स्वभाव जानना है। हरएक वस्तु उसका ज्ञेय पड़ती है। फिर घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है, ? उत्तर—उपचारसे। उपचारका कारण भी विकल्प है। यद्यपि घटसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है, तथापि ज्ञानमें घट, यह विकल्प अवश्य पड़ा है। इसीसे उस ज्ञानको घटज्ञान कह दिया जाता है।

तात्पर्य—

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्तते किल तथापि बलात् ॥ ६१० ॥

अर्थ—नयके विषयमें यही तात्पर्य है कि जितना भी विकल्पात्मक नय है सभी

त्याज्य (छोड़ने योग्य) है। यहांपर शंका होसकती है कि जब विकल्पात्मक नय सभी छोड़ने योग्य हैं फिर क्यों कहा जाता है? उत्तर—यद्यपि यह बात ठीक है तथापि उसका कहना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये वह बलवान्के समान बलपूर्वक प्रवर्तित होता ही है अर्थात् उसका प्रयोग करना ही पड़ता है। वह यद्यपि त्याज्य है तथापि वह दुर्वार है। भावार्थः—विकल्पात्मक-नय सम्पूर्ण पदार्थके स्वरूपको नहीं कह सकता है। इसका कारण भी यह है कि वह पदार्थको अंशरूपसे ग्रहण करता है। इस लिये उपादेय नहीं है। तथापि उसके बिना कहे हुए भी पदार्थव्यवस्था नहीं मानी जासकती है, इसलिये उसका कहना भी आवश्यक ही है।

नयमात्र विकल्पात्मक है—

अथ तद्यथा यथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित्।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥५११॥

अर्थः—जितना भी नय है सब विकल्पात्मक है इसी बातको यहां पर स्पष्ट करते हैं। जैसे किसी पुरुषने सत्में कोई विकल्प नहीं समझा हो केवल उसे उसने सन्मात्र सत्स्वरूप ही समझा हो तो यहां पर भी विकल्पातीत उसका ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्' यह विकल्प उसके ज्ञानमें आचुका ही है, यह दुर्निवार है, अर्थात् सत् इस विकल्पको तो कोई उसके ज्ञानसे दूर नहीं कर सकता। भावार्थः—सम्पूर्ण विकल्पजाल भेद ज्ञानोंको छोड़कर केवल जिसने पदार्थको सन्मात्र ही समझा है उसका ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि उसके ज्ञानमें सत्, यह विकल्प आचुका है। सत् भी तो पदार्थका एक अंश ही है।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम्।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥५१२॥

अर्थ—स्थूल अथवा सूक्ष्म जो बाह्यजल्प (स्पष्टबोलना) और अन्तर्जल्प (मन ही मनमें बोलना) है वह सब वर्णमय है और वह नयरूप है, क्योंकि वह वचन विन्यासरूप है। जितना भी वचनात्मक कथन है सब नयात्मक है तथा उन वचनोंका जो बोध है ज्ञान है वह भी नयरूप ही है। क्योंकि वचनोंके समान उसने भी वस्तुके विवक्षित अंशको ही विषय किया है। भावार्थः—वाचक तथा वाच्य बोध दोनों ही नयात्मक हैं।

अथवा—

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम्।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागपि यदि वा नयः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनोंका एक
सभी उपचारमात्र हैं। भावार्थ व्यवहार नय पदार्थके यथार्थ रूपको नहीं कहता है, व
पदार्थमें भेद करता है, वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहीं है, इसलिये व्यवहार नय
कथन करता है। पर्यायार्थिक नय भी व्यवहारनयका ही दूसरे नाम है, क्योंकि प
नय वस्तुके किसी विवक्षित अंशको ही विषय करता है। इसलिये वह भी वस्तुमें भे
करता है। अतः दोनों नयोंका एक ही अर्थ है यह बात सुसिद्ध है।

व्यवहारनयका स्वरूप—

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥५२२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें भेद करनेका नाम ही व्यवहार है, व्यवहारनय शब्दार्थ-वास
विवक्षाके आधार पर है अथवा शब्द और अर्थ दोनोंहीसे अपरमार्थ है। वास्तवमें यह नय
वस्तुके यथार्थ रूपको नहीं कहता है इसलिये यह परमार्थभूत नहीं है। जैसे—यद्यपि द्र
अभिन्न-अखण्ड है तथापि उसमें 'यह गुण है' यह गुणी है, इसप्रकार गुण गुणीका भेद
करना ही इस नयका विषय है।

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥५२३॥

अर्थ—पदार्थका सामान्य गुण हो अथवा विशेष गुण हो, जो जिस समय विवक्षित
होता है उसी समय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित
गुण ही गुण गुणीमें भेद सिद्ध करता है, वह व्यवहारनयका विषय है। यहां पर यह शंका
की जा सकती है कि जब व्यवहारनय वस्तुमें भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप
का प्रतिपादक नहीं है तो फिर उसका विवेचन ही क्यों किया जाता है, अर्थात् उससे जब
किसी उपयोगी फलकी सिद्धि ही नहीं होती तो उसका मानना ही निष्फल है। इस
...से व्यवहारनयका फल नीचेके श्लोकसे कहा जाता है—

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥५२४॥

अर्थ—व्यवहारनयका फल पदार्थोंमें आस्तिक्यबुद्धिका होना है, अनन्त
...वस्तु अनन्त गुणोंका पुंज है, यह बात मानी जाती है। क्योंकि गुणोंके
...गुणोंका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोंके सद्भावमें गुणी द्रव्यका सद्भाव
...अनुमानसे जाना है। भावार्थ—व्यवहार नयके बिना पदार्थ विज्ञान होना ही नहीं
...द्रव्यमें ही है इसलिये, व्यवहार नयसे [illegible]

किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्र, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सब गुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आजाती है कि जीव द्रव्य अनन्त गुणोंका पुञ्ज है। साथ ही इस बातका भी परिज्ञान (व्यवहार नयसे) होजाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, सम्यक्त्व, ये जीवके विशेष गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीवके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवा अन्य सभी द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये ये पुद्गलके विशेष गुण हैं। इसप्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंके परिज्ञानके साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान भी व्यवहार नयसे होता है। गुण गुणी और सामान्य विशेष गुणोंका परिज्ञान होनेपर ही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है। इसलिये बिना व्यवहार नयके माने काम नहीं चल सकता। क्योंकि पदार्थका स्वरूप बिना समझाये आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह भेदरूपसे कहा जायगा और इसीको पदार्थमें भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखण्ड पदार्थमें भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है। परन्तु व्यवहार नय निश्चय नयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है। निरपेक्ष मिथ्या है।

व्यवहार नयके भेद—

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥ ५२५ ॥

अर्थ—व्यवहार नयके दो भेद हैं। (१) सद्भूतव्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत उस वस्तुके गुणोंका नाम है, और व्यवहार उनकी प्रवृत्तिका नाम है। भावार्थ—किसी द्रव्यके गुण उसी द्रव्यमें विवक्षित करनेका नाम ही सद्भूत व्यवहार नय है। यह नय उसी वस्तुके गुणोंका विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है। इस नयमें अयथार्थपना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तुमेंसे गुण गुणीका भेद करता है।

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका हेतु—

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात्॥५२६॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिका हेतु यह है कि पदार्थके असाधारण गुण ही इस नय द्वारा विवक्षित किये जाते हैं अथवा पदार्थके साधारण गुण इस नय द्वारा विवक्षित नहीं किये जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस नय द्वारा कभी कोई और कभी कोई गुण विवक्षित और अविवक्षित किया जाय। भावार्थ—सद्भूत व्यवहार नय वस्तुके सा-

होता है। विना पर निमित्तके उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। + उसी वैभाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते हैं।

इसका फल—

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हुई है। उसीके दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंमेंसे परनिमित्तसे होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके बिना वही सोना किन्हींको शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद—

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित [illegible] [illegible] निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका लक्षण है।

दृष्टान्त—

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।
[illegible] न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

+ [illegible]

अर्थ—अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपजीवी गुण नहीं होता है।
भावार्थ-किसी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुजीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

उक्तं च सुखाता—

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावमें भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है।
भावार्थ—जिस समय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकर ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका ... नहीं हो जाता है। घटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी ...र्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना ...की ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने ...में है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होने समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते ...वा दर्पणके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हों उसीप्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते ...जीवका चैतन्य गुण है वैसा पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनों ...में वह जीवका ही गुण है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

...—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, ... पर घटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वह ...क्त कथनसे खण्डित हो चुका, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त माननेमें कोई प्रमाण ...
...र्थ—बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, बिना पदार्थके ...हीं हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी ...र्थसे ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहते हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें ... बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थ कारण न हो तो जिस समय घटज्ञान ... समय उस ज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यों ...सके यहां तो घटज्ञानमें घट कारण है इसलिये घट ही विषय पड़ता है,

होता है। बिना पर निमित्तके उसका स्वाभाविक परिणमन होता
शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रो

इसका फल—

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह
शेपस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चि

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हु
दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंमें
होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत हो
ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलि
भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच पाण्डुरः कनकः।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित्॥ ५३३

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके
न्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके बिना वही सोना कि
शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद—

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा
असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य
रीतिसे उसीकी निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है।

दृष्टान्त—

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

* पंचाध्यायीके द्वितीयभागमें बन्ध प्रकरणमें इस प्रक्रिया विशद विवेचन किया गया है।

अर्थ—अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपजीवी गुण नहीं होता है।
भावार्थ—किसी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुजीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

उसीका खुलासा—

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावमें भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है।
भावार्थ—जिस समय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकार ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका गुण नहीं हो जाता है। घटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना दर्पणकी ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होने समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हों अथवा दर्पणके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हों उसी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते समय जीवका चैतन्य गुण है वैसा पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनों अवस्थाओंमें वह जीवका ही गुण है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

अर्थ—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, घटके न होने पर घटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वह सिद्धान्त उपर्युक्त कथनसे खण्डित हो चुका, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं है।
भावार्थ—बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, बिना पदार्थके ज्ञान नहीं हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी ज्ञान होगा पदार्थसे ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहते हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें कारणपना बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थ कारण न हो तो जिस समय घटज्ञान होता है उस समय उस ज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यों नहीं पड़ सके यहां तो घटज्ञानमें घट कारण है इसलिये घट ही विषय पड़ता है,

होता है। विना पर निमित्तके उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। + उसी वैभाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते हैं।

इसका फल—

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावों-कर्मोंसे हुई है। उपाधिको दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंमेंसे परनिमित्तसे होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके विना वही सोना किन्हींको शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद—

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य रीतिसे उसीकी निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है।

दृष्टान्त—

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

+ पञ्चाध्यायीके द्वितीयभागमें बन्ध प्रकरणमें इस शक्तिका विशद विवेचन किया गया है।

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥

अर्थ—इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है अतएव वह अनन्य शरण (उसका वही अवलम्बन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होता है।

ऐसा होनेमें हेतु—

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥५४४॥

अर्थ—ऐसा होनेमें कारण भी यह है कि स्वरूप सिद्धिके विना परसे सिद्धि अप्रमाण ही है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है इस विषयमें भी यही कहा जा सकता है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य)का गुण विशेष है। यह बात प्रमाण पूर्वक सिद्ध है। भावार्थ-अर्थ विकल्पो ज्ञानं प्रमाणम्, अर्थात् स्व-पर पदार्थका बोध ही प्रमाण है। ऐसा ऊपर कहा गया है। इस कथनसे ज्ञानमें प्रमाणता परसे लाई गई है। परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमें तभी आसकती है जब कि वह अपने स्वरूपसे सिद्ध हो, इसी बातको यहां पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है। कारण कि वह जीवद्रव्यका विशेष गुण है स्वयं सिद्ध होकर ही वह परसे उपचरित कहा जाता है।

इसका फल।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥५४५॥

अर्थ—उपचरित-सद्भूत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायकमें अर्थात् ज्ञान और पदार्थमें संकर दोष न उत्पन्न हो, तथा किसी प्रकारका भ्रम भी इनमें न उत्पन्न हो। यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायकमें संकर दोष अथवा दोनोंमें भ्रम हुआ हो तो इस नयके जानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है। यहां पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और घटज्ञान पटज्ञानादि उसके साधक हैं। दोनोंका ही अविनाभाव है। कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है और ज्ञान भी ज्ञेयका अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नहीं होता। भावार्थ-कोई पदार्थके स्वरूप नहीं समझनेवाले ज्ञानको घट पटादि पदार्थोंका धर्म बतलाते हैं, कोई २ ज्ञेयके धर्म ज्ञायकमें बतलाते हैं। अथवा विषय-विषयीके सम्बन्धमें किन्हींको भ्रम हो रहा है उन सबका भ्रम दूर करना ही इस नयका फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता

असद्भूत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है, अर्थात् किसी वस्तुके गुणका अन्यत्र प्रतिपादन न होना ही इस नयकी प्रवृत्तिका हेतु है।

इस नयका फल—

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात्॥५४८॥

अर्थ—अपने और परके निमित्तसे होनेवाले जितने भी आगन्तुक भाव—वैभाविकभाव हैं। वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं। इसलिये वे क्षणिक हैं। क्षणिक होनेसे अथवा आत्मिक धर्म न होनेसे वे ग्राह्य—ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसी बुद्धिका होना ही इस नयका फल है। भावार्थ—अनुपचरित—असद्भूत व्यवहार नय वैभाविक भावमें प्रवृत्त होता है। उसका फल यह निकलता है कि ये भाव परके निमित्तसे होते हैं इसलिये अग्राह्य हैं।

उपचरित—असद्भूत व्यवहार नय—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः॥५४९॥

अर्थ—औदयिक क्रोधादिक भाव यदि बुद्धिपूर्वक हों, फिर उन्हें जीवके समझना या कहना उपचरित—असद्भूत व्यवहार नय है। भावार्थ—बुद्धिपूर्वक क्रोधादि भाव उन्हें कहते हैं कि जिनके विषयमें यह ज्ञात हो कि ये क्रोधादि भाव हैं। जैसे कोई पुरुष क्रोध करता है अथवा लोभ करता है और जानता भी है कि वह क्रोध कर रहा है अथवा लोभ कर रहा है, फिर भी वह अपने उस क्रोध भावको अथवा लोभभावको अपना निजका समझे या कहे तो उसका वह समझना या कहना उपचरित—असद्भूत व्यवहार नयका विषय है अथवा वह नय है। क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं। उन्हें जीवके कहना इतना अंश तो असद्भूतका है जो कि पहले ही कहा जा चुका है। क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझ करके भी उन्हें जीवके बतलाना इतना अंश उपचरित है। बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव छठे गुणस्थान तक होते हैं। उससे ऊपर नहीं।

इसका कारण—

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः॥५५०॥

अर्थ—जितने भी वैभाविक भाव हैं वे नियमसे अपने और परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि वे शक्ति विशेष हैं अर्थात् किसी द्रव्यके निज गुण हैं तथापि वे परके निमित्त विना नहीं होते हैं। भावार्थ—आत्माके गुणोंका पुद्गल कर्मके निमित्तसे वैभाविक-

दोनों ज्ञानोंका स्वरूप—

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

अर्थ—उन दोनों ज्ञानोंमें सम्यग्ज्ञानका कारण वस्तुका यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्याज्ञानका कारण वस्तुका अयथार्थ ज्ञान है। भावार्थ—जो वस्तु ज्ञानमें विषय पड़ी है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जैसे—किसीके ज्ञानमें चांदी विषय पड़ी हो तो चांदीको चांदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि चांदीको वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है जिस ज्ञानमें वस्तु तो कुछ और ही पड़ी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसप्रकार विषयके भेदसे ज्ञानके भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

नयके भी दो भेद हैं—

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है, अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नय भी विकल्पमात्र होनेसे (विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं) सामान्यरूपसे एक है और विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानके समान नय भी सम्यक् नय, मिथ्या नय ऐसे दो भेद वाले हैं। जो सम्यक् नय हैं उन्हें नय कहते हैं जो मिथ्या नय हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

दोनोंका स्वरूप—

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान् ।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अर्थ—जो तद्गुणसंविज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणोंको उसीमें बतलानेवाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, फल सहित हो, वही नय, नय कहलाता है। उपर्युक्त बातोंसे जो विपरीत हो, वह नय नयाभास कहलाता है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः ।
स्यादवयवि प्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रमाण फल सहित होता है उस प्रकार नयोंका भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण आवयवी प्रमाण कहलाता है, उसीके अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाणके ही अंश रूप हैं। भावार्थ—नयोंकी उत्पत्तिमें प्रमाण योनिभूत–मूल कारण है। प्रमाणसे जो पदार्थ कहा जाता है उसके एक अंशको

लेकर अर्थात् पर्याय विशेषके द्वारा जो पदार्थका विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते हैं अथवा सम्पूर्ण पदार्थको प्रमाण विषय करता है और उसके एक देशको नय विषय करता है। इस प्रकार अंश अंशीरूप होनेसे प्रमाणके समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है।

सारांश—

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५५३॥

अर्थ—जिस वस्तुमें जो गुण नहीं हैं, दूसरी वस्तुके गुण उसमें आरोपित-विवक्षित किये जाते हैं; जहांपर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नहीं है। क्योंकि ऐसे व्यवहारसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीवको वर्णादिवाला कहना, यह नय नहीं है किन्तु नयाभास है। भावार्थ—शंकाकारने ऊपर कहा था कि जीवको वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नय नहीं किन्तु नयाभास है। क्योंकि जीवके वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहनेसे जीव और पुद्गलमें एकत्वबुद्धि होने लगेगी। यही इष्ट फलकी हानि है।

शंकाकार—

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥५५४॥

अर्थ—यदि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेका नाम नयाभास है तो ऐसा माननेसे जो ऊपर असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नहीं कहना चाहिये किन्तु नयाभास कहना चाहिये। कारण क्रोधादिक जीवके गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहा गया है। यह भी तो अतद्गुणारोप ही है, इसलिये ग्रन्थकारका कहा हुआ भी असद्भूत व्यवहार नय नयाभास ही है?

उत्तर—

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥५५५॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिक भाव जीवसे उत्पन्न हैं अथवा जीवके हैं। उस प्रकार पुद्गलमय वर्णादिक जीवके भाव नहीं हैं। भावार्थ—पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका जो विकार है उसे ही क्रोध, मान, माया, लोभादिक नामसे कहा जाता है। इसलिये क्रोधादिक आत्माके ही वैभाविक भाव हैं। अतः जीवमें उनका आरोप करना असद्गुणारोप नहीं कहा जासकता किन्तु तद्‌

गुणारोप ही है। ये भाव शुद्धात्माके नहीं हैं किन्तु परके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें असद्भूत नयका विषय कहा जाता है। चाहे सद्भूत हो अथवा असद्भूत हो, तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है। रूप, रस, गन्धादिक पुद्गलके ही गुण हैं, वे जीवके किसी प्रकार नहीं कहे जासके हैं। रूप रसादिको जीवके भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये वह नयाभास है।

कुछ नयाभासोंका उल्लेख—

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अर्थ—उपचार नामवाले (उपचार पूर्वक) हेतु दृष्टान्तोंको ही नयाभास कहते हैं। यहांपर कुछ नयाभासोंका उल्लेख किया जाता है। वह इसलिये कि उन नयाभासोंको समझकर उन्हें छोड़ दिया जाय अथवा उन नयाभासोंके देखनेसे शुद्ध नयोंका परिज्ञान हो-जाय।

लोक व्यवहार—

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥

अर्थ—बुद्धिका अभाव होनेसे लोकोंका यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादि का शरीर है वह जीव है क्योंकि वह जीवसे अभिन्न है।

यह व्यवहार मिथ्या है।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥

अर्थ—शरीरमें जीवका व्यवहार जो लोकमें होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है, अथवा व्यवहारके अयोग्य व्यवहार है। कारण वह सिद्धान्त विरुद्ध है। सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहारमें असिद्ध नहीं है, किन्तु शरीर और जीवको भिन्न २ धर्मी होनेसे प्रसिद्ध ही है। भावार्थ—शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है, फिर भी जो लोग शरीरमें जीव व्यवहार करते हैं वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध पड़ते हैं।

नाशङ्क्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥

अर्थ—शरीर और जीव दोनोंका एक क्षेत्रमें अवगाहन (स्थिति) है इसी कारण लोकमें वैसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक क्षेत्रमें सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन होरहा है, यदि एक क्षेत्रमें अवगाहन [illegible]

तो सभी पदार्थोंमें अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। भावार्थ-धर्म,
पुद्गल ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते हैं परन्तु छहोंके लक्षण जुदे
ही एकताका कारण हो तो छहोंमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा, अथवा

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयो
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वा

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीरमें परस्
है इसलिये वैसा व्यवहार होता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना
नियमसे अनेक पदार्थोंमें होता है। एक पदार्थमें अपने आप ही बन्धका
है। भावार्थः—पुद्गलको बाँधनेवाला आत्मा है, आत्मामे बँधनेवाला पुद्गल
ल शरीर बन्ध्य है, आत्मा उसका बन्धक है। ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होने
व्यवहार किया जाता है ऐसी आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि बन्ध तभी
कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हों अर्थात् बन्ध्यबंधक भावमें तो द्वैत ही प्रतीत होता है

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया

अर्थ—कदाचित मनुष्यादि शरीरमें जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर औ
निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सक्ता, कारण जो अपने आ
मनशील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन? अर्थात् जीवस्वरूपमें निमि
कुछ नहीं कर सक्ता। भावार्थ—जीव और शरीरमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध शरीरमें
त्तता और जीवमें नैमित्तिकताका ही सूचक होगा, वह सम्बन्ध दोनोंमें एकत्व बुद्धिका
नहीं कहा जा सक्ता, क्योंकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है, निमित्त कार
निमित्तसे उसमें पररूपता नहीं आती। इसलिये मनुष्यादि शरीरमें जीव व्यवहार कर
नयाभास है।

दूसरा नयाभास—

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥ ५७२ ॥

अर्थ—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मासे सम्बन्धित होती हैं, तब वे नोकर्मके नामसे कही जाती हैं, और कार्माणवर्गणा जब आत्मासे सम्बन्धित होकर कर्मरूप—ज्ञानावरणादिरूप परिणत होती है तब वह कर्मके नामसे कही जाती है। ये कर्म और नोकर्म पुद्गलकी पर्यायें हैं, अतएव वे मूर्त हैं। उन मूर्त कर्म नोकर्मका जीव कर्त्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है।

रूपवाला है, वह अपने ज्ञानादिभावोंका ही कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है, उसको ज्ञानादि-
का कर्त्ता भोक्ता कहना भी व्यवहार ही है। परन्तु जो उसे मूर्त पदार्थोंका कर्त्ता भोक्ता
ार नयसे बतलाते हैं उस विषयमें आचार्य कहते हैं कि वह नय नहीं किन्तु नयाभास है।

नयाभास यों है—

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्तिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥
गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्त्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अर्थ—मूर्तकर्मोंका जीवको कर्त्ता भोक्ता बतलानेवाला व्यवहार नय नयाभास है यह
असिद्ध नहीं है कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्तविरुद्धताका भी
यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तब उनमें गुणसंक्रमण किस
से होगा ? अर्थात् नहीं होगा तथा विना गुणोंके परिवर्तन हुए जीव, कर्मका कर्त्ता
नहीं होसक्ता, यदि विना गुणोंकी संक्रान्तिके ही जीव कर्मका कर्त्ता भोक्ता होजाय
व पदार्थोंमें सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा। तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा।
र्थ—यदि जीवके गुण पुद्गलमें चले जायं तभी जीव पुद्गलका कर्त्ता भोक्ता हो सक्ता है।
बुननेवालेके कुछ गुण या सब गुण उस कपड़ेमें आवें तभी वह बुननेवाला उस कप-
कर्त्ता कहा जासक्ता है। अन्यथा कपड़ेमें उसकी कर्तृता क्या आई ? कुछ भी नहीं
निमित्तता है। यदि विना गुणोंका संक्रमण हुए ही जीवमें पुद्गलका कर्तृत्व माना जाय
भी पदार्थ एक दूसरेके कर्त्ता होसक्ते हैं। ऐसी अवस्थामें धर्मादि द्रव्योंका भी जीवमें
सिद्ध होगा।

भ्रमका कारण—

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—जीव कर्मोंका कर्त्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध
वके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य–कार्माण वर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत होजाती है।
—जीवके रागद्वेष भावोंके निमित्तसे कार्माण वर्गणा कर्म पर्यायको धारण करती है।
ये उसमें जीवकर्तृताका भ्रम होता है।

समाधान—

इदमत्र समाधानं कर्त्ता यः कोपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि ॥५७६ ॥

अर्थ—उस भ्रमका समाधान यह है कि जो कोई भी कर्त्ता होगा वह अपने स्वभावका ही कर्त्ता होगा। उसका निमित्त कारण मात्र होनेपर भी कोई परभावका कर्त्ता अथवा भोक्ता नहीं होसक्ता है।

दृष्टान्त—

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७७॥

अर्थ—कुम्हार सदा अपने स्वभावका ही कर्त्ता भोक्ता होता है वह परभाव-कलशका कर्त्ता भोक्ता कभी नहीं होता, अर्थात् कलशके बनानेमें वह केवल निमित्त कारण है। निमित्त मात्र होनेसे वह उसका कर्त्ता भोक्ता नहीं कहा जासक्ता।

उसीका उल्लेख—

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥५७८॥

अर्थ—कुम्हार कलशका कर्त्ता क्यों नहीं है इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नहीं होता है। भावार्थ—जब घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नहीं पाया जाता है तब कुम्हारने घटका क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है।

लोक व्यवहार मिथ्या है—

अथ चेद्धटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम्।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ॥५७९॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि लोकमें यह व्यवहार होता है कि घटकार-कुम्हार घटका बनानेवाला है; सो क्यों ? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है परन्तु उसे नयाभास समझो, अर्थात् उसे नयाभास समझते हुए बराबर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु यदि उसे नय समझने वाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है।

तीसरा नयाभास—

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः।
यदबद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥५८०॥

अर्थ—और भी खोटी बुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं। जैसे-जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके साथ जो बँधा हुआ भी नहीं है उसका भी

जीव कर्ता भोक्ता होता है। ऐसा वे कहते हैं।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥५८१॥

अर्थ—सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव निर्जीव पदार्थ (स्थावर जंगम सम्पत्ति) हैं उनका जीव ही स्वयं कर्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है।

शङ्काकार—

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ॥५८२॥

अर्थ—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमें उन्हें सुख भी नहीं होता। इसलिये जीव ही उनका कर्ता है और वही उनका भोक्ता है। अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वयं उसको भोगता है।

उत्तर—

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेपि यतः किल केषाश्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥५८३॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके संयोगसे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक–विषयजन्य है। वास्तविक नहीं है। सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखता है। कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंके होने पर भी किन्हीं पुरुषोंको सुखके बदले दुःख होता है, उनके लिये वही सामग्री दुःखका कारण होती है।

सारांश—

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥५८४॥

अर्थ—यहां पर सारांश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कथंचित् कर्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक–चैतन्य स्वरूप है। भावार्थ–जीव सदा अपने भावोंका ही कर्ता भोक्ता है। परका नहीं।

चौथा नयाभास–

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

अर्थ—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कारण इनमें ज्ञेयगत–ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है। भावार्थ ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमें स्थिर रहता है, वह पदार्थमें नहीं चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमें आता है, जो लोग इसके विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास मिथ्याज्ञानसे ग्रसित हैं।

दृष्टान्त—

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥५८४॥

अर्थ—जिस प्रकार चक्षु रूपको देखता है, परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता है। अथवा रूपका वह धर्म नहीं हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥५८५॥

अर्थ—कुछ नयाभासोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके सिवा और भी बहुतसे नयाभास हैं जो कि वैसे ही लक्षणोंवाले हैं। उन सब नयाभासोंका यह उद्देश-अथवा [illegible] नयसे विरुद्ध है। इसीलिये वे नयाभास कहे जाते हैं। भावार्थ-नयोंका जो लक्षण कहा गया है उससे नयाभासोंका लक्षण विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है उसे नय कहते हैं और मिथ्या नयको नयाभास कहते हैं।

शङ्काकार—

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोऽथ वा कियन्तश्च।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेशाः ॥५८६॥

अर्थ—सम्पूर्ण नयोंके [illegible] नाम हैं और वे [illegible] नय कितने हैं, तथा वे [illegible] मिथ्या [illegible] हैं और वैसे यथार्थ पदार्थको विषय करनेसे [illegible] हैं? अर्थात् वैसे वे [illegible] हैं और वैसे [illegible] हैं?

[illegible]

[illegible] सन्ति गुणा वस्तुनो [illegible] ।
[illegible] ॥५८७॥
[illegible] ।
[illegible] ॥५८८॥



नामवाले हैं उनको प्रतिपादन करनेवाले या माननेवाले नय भी उन्हीं नामोंसे [illegible]

दृष्टान्त—

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोस्तित्वनय इति वा ॥ ५९३ ॥

अर्थ—द्रव्यका एक सामान्य गुण अस्तित्व नामवाला है, उस अस्तित्वको [illegible] करनेवाला नय भी संक्षेपसे अस्तित्व नय कहलाता है।

कर्तृत्वं जीवगुणोस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥ ५९४ ॥

अर्थ—जीवका कर्तृत्व गुण है, अथवा उसका वह वैभाविक भाव है, उस [illegible] पर्यायको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहलाता है। भावार्थ-[illegible] विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहा जाता है, और क्रोध कर्तृत्व, मान [illegible] कर्तृत्व आदि पर्यायोंको विषय करनेवाला नय भी उसी नामसे कहा जाता है।

[illegible]
[illegible] ॥ ५९५ ॥

अर्थ [illegible] भी [illegible] है वह [illegible] परिणामी (शैली)से [illegible] [illegible] नय भी एक २ है। इसलिये वस्तुमें जितने धर्म हैं [illegible] [illegible] है।

[illegible]
[illegible] ॥ ५९६ ॥

अर्थ [illegible] नय है और विशेष [illegible] है [illegible] नय है। [illegible] नय है। [illegible] नय नहीं है। भावार्थ [illegible] नय है।

[illegible]
[illegible] ॥ ५९७ ॥

अर्थ—[illegible] नय नहीं है [illegible]

द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अर्थ—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है। इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य-अर्थ है। भावार्थ—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय-छोड़ने योग्य है। कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नहीं है, पदार्थ अभिन्न-अखण्ड-अवक्तव्यरूप है। व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है। पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे इतररूपसे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सब निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है। जैसे—व्यवहार नय गुणगुणीमें भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नहीं है'। व्यवहार नयमें जो कुछ विषय पड़ता है उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है।

दृष्टान्त—

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥५९९॥

अर्थ—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्‌रूप है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। व्यवहार नय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान् है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं। इस प्रकार न-निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, और वही सब नयोंका शिरोमणि है। भावार्थ-व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप बतलाया परन्तु निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है। कारण—सत्‌नाम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नहीं है। इसीलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। इसी प्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नतामें गुणीका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नयसे विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है। यदि वह भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या ठहरेगा। कारण-जितना भी विवे-

चन है वह सब अंशरूप है इसलिये वह मिथ्या है। अतएव निश्चय नय कुछ न कहकर केवल निषेध करता है। शङ्का हो सकी है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है तो फिर इसने कहा क्या? इसका विषय क्या समझा जाय? उत्तर—न—निषेध ही इसका विषय है। इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है। परन्तु उसकी अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है। इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है। अतएव निश्चय नय नयाधिपति है।

शङ्काकार—

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

अर्थ—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं। नयका लक्षण ही विकल्प है। फिर इस द्रव्यार्थिक नय—निश्चय नयमें विकल्प तो कुछ पड़ता ही नहीं है। क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है। इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे इस नयको नयपना ही कैसे आवेगा? अर्थात् इस नयमें नयका लक्षण ही नहीं जाता है।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है—

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥ ६०१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमें भी न (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य 'न' है अर्थात् निषेध है। यह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्षका ग्राहक ही नय होता है, तथा पक्ष ही विकल्पात्मक होता है। भावार्थ—नयका लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप विकल्प पड़ता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अथवा उसके वाचक वाक्यको भी नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक—निश्चय नयमें निषेधरूप पक्षका ही ग्रहण होता है। जिस प्रकार व्यवहार नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे विकल्पात्मक है उसी प्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थका निषेध करने रूपका प्रतिपादन करनेसे निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयमें सुघटित ही है।

तथा—

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥६०२॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रतिषेध्य विधिरूप है और स्वयं विकल्पात्मक होनेसे विकल्पक

है। उसी प्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकल्परूप [illegible]। [illegible]—जैसे प्रतिषेध्यमें विधिरूप पक्ष होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमें [illegible] पक्ष होनेसे वह भी विकल्पात्मक है।

दृष्टान्त—

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो [illegible] ।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह [illegible] ॥ ६०३ ॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् [illegible] इति ।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनु[illegible] ॥ ६०४ ॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः [illegible] ।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोध[illegible] ॥ ६०५ ॥

अर्थ—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको [illegible] द्वारा स्पष्ट किया जाता है। पदार्थका उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है [illegible] अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन [illegible] है, उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है। [illegible] अनुपयोगकी ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नयमें 'न' इत्याकारक जो [illegible] भी निषेध ज्ञानरूप पक्षसे विशिष्ट होनेसे अनुपयोग नहीं कहा जा सकता [illegible] ही है, क्योंकि उपयोग उसीको कहते हैं कि जिस ज्ञानमें [illegible] हो। यहां पर भी अर्थाकार परिणमनके बिना 'न' इत्याकारक निषेधात्मक [illegible] है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयमें निषेधरूप बोध होता है। इसलिये [illegible] द्रव्यार्थिक नय भी उपयोगात्मक है और उपयोगको ही विकल्प कहते हैं।

भावार्थ—किसी पदार्थको ज्ञान विषय [illegible] है। वही उपयोग विकल्पात्मक बोध कहा जाता है। [illegible] विषयभूत पदार्थोंको विषय करनेसे वह नय उपयोगात्मक [illegible] उसी प्रकार इस नयके विषयभूत पदार्थोंका निषेध करने रूप [illegible] उपयोगात्मक होनेसे विकल्पात्मक है। व्यवहार [illegible] का निषेध विषय पड़ा है। विषय बोधसे व्यवहारके समान [illegible] द्रव्यार्थिक नयमें नयका लक्षण सुघटित ही है।

दृष्टान्त—

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थाकारो [illegible] ।
नेति निषेधात्मस्यादर्थाकारो [illegible] ॥ ६०६ ॥

अर्थ—जिस 'प्रकार जीव ज्ञान गुणवाला है, यह नय (व्यवहार) अर्थालोकके बिना अर्थात् पदार्थको विषय करनेके बिना नहीं होता है, उसी प्रकार' ऐसा नहीं है, यह नय (निश्चय) भी निषेधको विषय करनेसे अर्थालोकके बिना नहीं होता है। विषय बोधसे दोनों ही सहित हैं।

स्पष्टी करण—

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥ १०७॥

अर्थ—जीवकी विशेष शक्तिको देख कर (विचार कर) यह कहना या समझना कि जीव चिदात्मक है जिस प्रकार यह पक्ष है, उसी प्रकार जीवको अभिन्न प्रदेशी समझ कर यह कहना या समझना कि वैसा नहीं है, यह भी तो पक्ष है। पक्षग्राहिता उभयत्र समान है, क्योंकि—

अर्थालोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः।
न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥ १०८॥

अर्थ—अर्थका प्रकाश–पदार्थ विषयितारूप विकल्प दोनों ही जगह समान है। इसलिये वैसा नहीं है, इत्याकारक निषेधको विषय करनेसे द्रव्यार्थिक नयमें नयपना है ही। कारण उसने एक निषेध पक्षका अवलम्बन किया है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥ १०९॥

अर्थ—पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अंगको ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्षमें भी अंश धर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय एक अंशको विषय करनेसे पक्षात्मक है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ११०॥

अर्थ—न, इस निषेधको विषय करनेवाले निश्चयनयमें एकाङ्गता असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्ध ही है। जिस प्रकार वस्तुमें विशेष शक्ति होती है, उसी प्रकार उसमें सामान्य शक्ति भी होती है।

भावार्थ—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, वही प्रमाणका विषय है, तथा सामान्यांश द्रव्यार्थिकनयका विषय है, विशेषांश पर्यायार्थिकनयका विषय है। इसलिये विशेषके निषेधरूप सामान्यांशको विषय करनेवाले निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनयमें एकाङ्गता सिद्ध ही है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथायमपि ।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥६११॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः ।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मपरिविनिषेधम् ॥६१२॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यवहारनय उदाहरण सहित होता है, उस प्रकार निश्चयनय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष आता है ! क्योंकि जैसा ज्ञान विकल्प उदाहरण रहित ज्ञानमें है, वैसा ही ज्ञान विकल्प उदाहरण सहित ज्ञानमें है। इस न्यायसे निश्चय नयको सोदाहरण ही मानना ठीक है। उदाहरण सहित निश्चय नयको कहनेसे व्यवहार नयसे कैसे भेद होगा, ? वह इस प्रकार होगा—जैसे व्यवहार नय सत्को अनेक बतलाता है, जीवको चिदात्मक बतलाता है। निश्चय नय केवल अपने पक्षका ही विवेचन करे, जैसे सत् एक है, जीव चित् ही है। ऐसा कहनेसे निश्चय नय उदाहरण सहित भी होजाता है, तथा व्यवहार नयसे भिन्न भी होजाता है !

उत्तर—

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥६१३॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। ऐसी शंकामें संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है। क्योंकि लक्षणके भेदसे लक्ष्यका भेद अवश्यम्भावी है। जैसे सत्को एक कहने पर भी सत् लक्ष्य और उसका 'एक' लक्षण सिद्ध होता है। इसी प्रकार जीवको चित्स्वरूप कहने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चित् लक्षण सिद्ध होता है। लक्ष्य लक्षणरूप भेद व्यवहारनयका ही विषय होसकता है, निश्चयका नहीं, यदि निश्चयका भी भेद, विषय माना जाय तो संकरता और सर्वशून्यता भी स्वयं सिद्ध है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथंचिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥६१४॥

अर्थ—व्यवहार नयका लक्षण यह है कि एक ही सत्का भिन्न भिन्न रूपसे द्वैधीकरण करना, अर्थात् सत्में भेद बतलाना व्यवहार नयका लक्षण है, और उससे उल्टा निश्चय नयका लक्षण है, अर्थात् सत्में अभेद बतलाना निश्चय नयका लक्षण है।

निश्चय नयको सोदाहरण माननेमें दोष—

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥६१५॥

अर्थ—यदि शंकाकारके कथनानुसार सत्‌को एक माना जाय अथवा चित् ही माना जाय और इनको निश्चय नयका उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय [illegible] कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत [illegible] हो जाते हैं। सत्‌को एक कहनेसे भी सत्‌में भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित् रूप कहनेसे भी जीवमें भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार? सो नीचे कहते हैं-

एवं सदुदाहृते [illegible] सदुक्तं लक्षणं तदेकमिति।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ १११ ॥
अथवा [illegible] यदुदाहियतेप्यभेदबुद्धिमता।
[illegible] व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ११७ ॥

अर्थ—शंकाकारने निश्चय नयका उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, [illegible] आचार्य दोष दिखाते हैं [illegible], यहां पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका [illegible] यह लक्षण ठहरता है। [illegible] लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता। जिस प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित्‌में भी होता है। [illegible] और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। [illegible] यद्यपि इन [illegible] अभेद बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करने पर [illegible] ही भेदरूप [illegible]। [illegible] व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं। क्योंकि [illegible] व्यवहार ही है।

[illegible] सर्वशून्यदोषः स्यात्।
[illegible] ॥ ११८ ॥

अर्थ—[illegible] सिकरना आती है। [illegible] [illegible] ही नहीं आता, क्योंकि [illegible] [illegible] भी [illegible] मानने [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] ठीक नहीं है।

[illegible]

[illegible] विशेषनिरपेक्षः।
[illegible] दोषः ॥ ११९ ॥
[illegible] एव यथा।
[illegible] ॥ १२० ॥

[illegible]

ही विषय मानाता है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये । सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित् विशेष नहीं कहना चाहिये। सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है। सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नहीं रहती है । व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव आत्मवान है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है । निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तदानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं । भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपचारसे कहे जाते हैं, अर्थात् जिस धर्मकी विवक्षा रक्खी जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट वस्तु कही जाती है । वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं । इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है । इसी प्रकार—

यदि वा सदिति स्वस्सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है । इसलिये सत् इतना कहनेसे ही बिना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है । भावार्थ—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि वह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प बिना कहे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक-भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है ।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणो न   य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात्॥६२४॥

अर्थ—यदि शंकाकारके कथनानुसार सत्‌को एक माना जाय अथवा चित् ही माना जाय और इनको [illegible] उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय नयमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि वे दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत हो जाते हैं। सत्‌को एक कहनेसे भी सत्‌में भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित् रूप कहनेसे भी जीवमें भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार? सो नीचे कहते हैं—

> एवं सदुदाहृते सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति।
> लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥३१६॥
> अथवा [illegible] जीवो यदुदाहियतेप्यभेदबुद्धिमता।
> [illegible] व्यवहारनयो न परमार्थः ॥३१७॥

अर्थ—शंकाकारने [illegible] उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, [illegible] आचार्य दोष [illegible], यहां पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है। [illegible] लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता। [illegible] सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित्‌में भी होता है। [illegible] लक्ष्य और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। शंकाकारने यद्यपि इन [illegible] बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उदाहरण [illegible] ही भेदजनक [illegible] यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं। क्योंकि [illegible] व्यवहार ही है।

> [illegible] सर्वशून्यदोषः स्यात्।
> [illegible] ॥३१८॥

अर्थ—[illegible] शंका आती है। शंकाकार कहता है [illegible] नहीं आता, क्योंकि निश्चय [illegible] भी [illegible] माननेसे [illegible] उसमें [illegible] भेद नहीं [illegible] भी प्रमाण भी [illegible] इसलिये [illegible] ठीक नहीं है।

[illegible]

> [illegible] जीवो निर्विशेषनिरपेक्षः।
> [illegible] दोषः ॥३१९॥
> [illegible] एव यथा।
> [illegible] ॥३२०॥

[illegible]

ही विषय आजाता है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये। सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित् विशेष नहीं कहना चाहिये। सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है। सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नहीं होती है। व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव आत्मवान् है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है। निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तदानुपचर्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं। भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपचारसे कहे जाते हैं, अर्थात् जिस धर्मकी विवक्षा रक्खी जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट वस्तु कही जाती है। वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं। इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है। इसी प्रकार—

यदि वा सदिति सतस्तः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात्।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है। इसलिये सत् इतना कहनेसे ही विना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है। भावार्थ—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि वह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प विना कहे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक-भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः।
द्रव्यं गुणो न य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥

अर्थ—यदि [illegible] नयानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चित् ही जीव माना जाय और [illegible] उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय नयमें कुछ भी भेद नहीं [illegible] दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत-(गर्भित) हो जाते हैं। सत्को [illegible] भी नयमें भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित् रूप कहनेसे भी [illegible] होता है। किस प्रकार? सो नीचे कहते हैं-

एवं सदुदाहरणे [illegible] लक्षणं तदेकमिति।
लक्षणलक्ष्य[illegible] भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६॥
अथवा [illegible] मदुदाहियतेऽप्यभेदबुद्धिमता।
उक्तवदत्रा[illegible] व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७॥

अर्थ—शंकाकारने [illegible] उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें आचार्य दोष दिखलाते हैं—[illegible], यहां पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है। इस प्रकारका लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता। जिस प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित्में भी होता है। जीव लक्ष्य और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। शंकाकारने यद्यपि इन उदाहरणोंको अभेद बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उदाहरण मात्र ही भेदजनक पड़ता है। इसलिये यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं क्योंकि जितना भी भेद व्यवहार है, सब व्यवहार ही है।

एवं सुनिश्चि[illegible]दोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात्।
निरपेक्षस्य [illegible]भावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥ ६१८॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों ही नयोंमें संकरता आती है। संकरता आनेसे सर्वशून्य दोष आता है, जो निरपेक्ष है उसमें नयपना ही नहीं आता, क्योंकि निरपेक्षता नयका लक्षण ही नहीं है। भावार्थ—निश्चय नयको भी सोदाहरण माननेसे व्यवहारसे उसमें कुछ भेद नहीं रहेगा दोनों एक रूपमें आजायंगे ऐसी अवस्थामें प्रमाण भी आत्मलाभ न कर सके इसलिये निश्चय नयको उदाहरण सहित मानना ठीक नहीं है।

शंकाकार—

ननु [illegible] यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः।
भवति [illegible] भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९॥
अपि [illegible] व्यवहारस्यावकाश एव यथा।
सदनेकं [illegible]प्यमात्मवानिति चेत् ॥ ६२०॥

अर्थ—यदि सत्को [illegible] कहनेसे और जीवको चित् रूप कहनेसे भी व्यवहार नयका

निश्चय नय यथार्थ है–

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयोनोपादेय स्तदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अर्थ—निश्चय नय यथार्थ विषयका प्रतिपादन करनेवाला है, इसलिये वह सम्यक्रूप है। यद्यपि निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, तो भी वह विकल्प रहितसा प्रतीत होता है। यद्यपि वह 'न' इत्याकारक वचनसे कहा जाता है तो भी वह वचनागोचर ही जैसा प्रतीत होता है। निश्चय नयका क्या वाच्य है यह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नयके विषयका बोध अनुभवसे ही जाना जाता है। वचनसे वह नहीं कहा जाता, क्योंकि जो कुछ वचनसे विवेचन किया जायगा वह सब भेदरूप होनेसे व्यवहार नयका ही विषय हो जाता है। इसलिये वचनसे तो वह 'न' निषेधरूप ही वक्तव्य है। अथवा उस निश्चय नयके विषयपर श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। इसलिये निश्चयनय ही उपादेय–ग्राह्य है। अन्य जितना भी नयवाद है सभी अग्राह्य–त्याज्य है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥
अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥६३२॥

अर्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किसप्रकार मिथ्या हो सक्ता है? क्योंकि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, गुण पर्यायवाला द्रव्य होता है, ऐसा उपदेश (सर्वज्ञ व महर्षियोंका) भी है तथा अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है। हम पूछते हैं (शंकाकार) कि यहां पर क्या अभूतार्थपना है, द्रव्याभाव है अथवा गुणाभाव है। अथवा दोनोंका अभाव है, अथवा उन दोनोंके योग (मेल)का अभाव है। किसका अभाव है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम' यह कथन अभूतार्थ समझा जाय, यदि किसीका अभाव नहीं है तो फिर व्यवहार नय मिथ्या क्यों?

उत्तर—

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥६३३॥

अर्थ—यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नयका विषय माना जाय तो द्रव्य और गुणकी ही सिद्धि होगी, पर्यायकी सिद्धि नहीं होगी, अथवा व्यवहारका लोप हो जायगा। यह एक बड़ा दोष है।

सारांश—

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ६२५ ॥

अर्थ—इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है उतना सब व्यवहार नय है। उस व्यवहारका निषेधक ही निश्चय नय है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥६२६॥

अर्थ—व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चय नय भी विकल्पात्मक है फिर व्यवहार नय क्यों निषेध करने योग्य है, तथा निश्चय नय क्यों उसका निषेध करनेवाला है? भावार्थ—जब दोनों ही नय विकल्पात्मक हैं तो एक निषेध्य और दूसरा निषेधक उनमें कैसा?

उत्तर—

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ६२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हरएक वस्तुमें उस वस्तुके अनुकूल अर्थाकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको ही विकल्प कहते हैं। यह विकल्प प्रतिषेध्यका हेतु नहीं है, किन्तु उसका कारण अयथार्थता है। भावार्थ—व्यवहार नयके निषेधका कारण विकल्पात्मक बोध नहीं है विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नयमें भी है किन्तु उसका अयथार्थ बोध है, अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या है इसी लिये वह निषेध करने योग्य है। इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ६२८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है। इसलिये वह प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और उस व्यवहार नयके विषय पर दृष्टि देनेवाला-श्रद्धान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

शंकाकार—

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंबी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥ ६४८ ॥

अर्थ—जो व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है, वह जिस प्रकार सामान्यरीतिसे मिथ्यादृष्टि है उसी प्रकार जो निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? अर्थात् व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालेको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, सो ठीक परन्तु निश्चयनयावलंबीको भी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है सो क्यों ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥ ६४९ ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु निश्चयनयमें भी विशेष कोई है, वह सूक्ष्म है, इसलिये वह [illegible] के ही उपदेश योग्य है। सिवा महनीय गुरुके उसका स्वरूप कोई नहीं [illegible]। [illegible] विशेष स्वात्मानुभूतिकी महिमा है जोकि निश्चयनयसे भी बहुत सूक्ष्म और [illegible] है।

उभयं णयं विभणियं जाणइ णवरं तु समय पडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १ ॥
इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च।
सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलंबी ॥ ६५० ॥

अर्थ—निश्चय नयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है इस विषयमें [illegible] है। उसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके नय कहे गये हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि [illegible] है परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता है, वह नय पक्षसे [illegible] है। [illegible] सूत्रसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दृष्टि निश्चय [illegible] करता है। दूसरी बात यह है कि निश्चय नयको भी [illegible] और जितना सविकल्प ज्ञान है उसे अयथार्थ [illegible] है [illegible] "यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः" इसलिये [illegible] से भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध होता है, [illegible] सभी पर समय-मिथ्या है, [illegible] है।

[illegible]—

[illegible] यावान् सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा
[illegible] न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥ ६५१ ॥

शंकाकार—

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम्।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—निश्चय नयका क्या वाच्य (विषय) है कि जिसको अवलम्बन करके ज्ञान रहता है? सम्पूर्ण विशेषके अभावमें निश्चयनयसे अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है। भावार्थ—निश्चयनय जब किसी विशेषका अवलम्बन नहीं करता है तो फिर उसका कुछ भी विषय नहीं है, वह केवल अभावात्मक ही है।

उत्तर—

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम्।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाका यहांपर यह समाधान किया जाता है कि जो कुछ व्यवहार नयका वाच्य है उसमेंसे सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करनेपर जो वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है।

दृष्टान्त—

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—निश्चय नयके वाच्यके विषयमें यहांपर अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है। अग्नि यदि तृणकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है, यदि वह कण्डेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है, यदि वह कोयलेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है। इसलिये उस अग्निसे तृण, कण्डा (उपला) कोयला आदि विकल्प दूर कर दिये जायँ तो भी वह स्पर्शादिसे उष्ण ही प्रतीत होगी। भावार्थ—तृणकी अग्नि कहना ही वास्तवमें मिथ्या है, जिस समय तृण अग्नि रूप परिणत है उस समय वह तृण नहीं किन्तु अग्नि है। जिस समय अग्नि परिणत नहीं है उस समय वह तृण है अग्नि नहीं है। इसलिये तृणादि विकल्पोंको दूर कर देना ही ठीक है। परन्तु अग्निका सिद्ध करनेके लिये पहले तृणादिका व्यवहार होना भी आवश्यक है। ठीक यही दृष्टान्त निश्चयनयमें घटित होता है। जो व्यवहारनयका विषय है वह विकल्पात्मक है, उसमेंसे विकल्पोंको दूर कर जो वाच्य पड़ता है वही निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय गुणगुणी पर्यायरूप भेदोंको मिथ्या समझता है। गुणात्मक अखण्ड [illegible] निश्चयनयका विषय है। वह अनिर्वचनीय है। इसीलिये अत्यन्ताभाव नयके विषयसे [illegible] कर दिया जाता है। निषेध करनेसे उसका अभावात्मक वाच्य नहीं समझना चाहिये किन्तु कुछ इष्ट वस्तुरूप समझे।

करनेवाला हूं, जबतक उसके ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नय पक्ष है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही देववश यही आत्मा यदि निर्विकल्प होजाय, अर्थात् मैं उपासक हूं और मैं ही स्वयं उपास्य हूं, इस उपास्य उपासक विकल्पको दूर कर स्वयं आत्मा निज आत्मामें तन्मय होजाय तो उस समय यह आत्मा स्वात्मानुभवन करने लग जाता है। जो स्वात्मानुभवन है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है। भावार्थ—कविवर दौलतरामजीने छहढालामें इसीका आशय लिया है। वे कहते हैं कि 'जहां ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहां आदि' अर्थात् जिस आत्मानुभूतिमें ध्यान क्या है, ध्याता कौन है, ध्येय कौन है यह विकल्प ही नहीं उठता है, और न जिसमें वचनका ही विकल्प है। निश्चय नयमें भी विकल्प है इसी लिये सम्यग्दृष्टि—स्वात्मानुभूतिनिमग्न उसे भी छोड़ देता है, इसीलिये 'णयपक्खपरिहीणो' अर्थात् सम्यग्दृष्टि दोनों नय पक्षोंसे रहित है ऐसा कहा गया है। जहां विकल्पातीत, वचनातीत आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है। यह निश्चयनयसे भी बहुत ऊपर है, बहुत सूक्ष्म है, उस अलौकिक आनन्दमें निमग्न महात्माओं द्वारा ही उसका कुछ विवेचन होसकता है, उस आनन्दसे वंचित पुरुष उसका यथार्थ स्वरूप नहीं कह सकते हैं। जिसने मिश्रीको चख लिया है वही कुछ उसका स्वाद किन्हीं शब्दोंमें कह सकता है। जिसने मिश्रीको सुना मात्र है वह बिचारा उसका स्वाद क्या बतला सकता है, इसी लिये स्वात्मानुभूतिको गुरूपदेश्य कहा गया है।

सार्थ—

तस्माद्व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात्।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥६५३॥

अर्थ—इसलिये व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी आत्मानुभूतिका कारण नहीं है। क्योंकि उसमें भी यह आत्मा है, मैं इसका स्वामी हूं, ऐसा सत् पदार्थमें अवश्यम्भावी विकल्प उठता ही है।

शङ्काकार—

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥६५४॥

अर्थ—यदि यहांपर व्यवहार नयसे निरपेक्ष केवल निश्चयनयका पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह आत्मानुभूतिका कारण होगा?

उत्तर—

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

अर्थ—यह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि सविकल्पज्ञान होनेपर निश्चय नय उस विकल्पका निषेध करता है। परन्तु जहां पर न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहां पर चिदात्मानुभूति मात्र है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलम्वी स्यात् ॥ ६४९ ॥
चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा ह्यनुभवनान् महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥

अर्थ—स्वात्मानुभूतिके विषयमें दृष्टान्त भी है, जैसे-कोई पुरुष महिषके ध्यानमें आरूढ़ है। ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष (भैंसा) है और मैं उसकी उपासना (सेवा–ध्यान) करनेवाला हूं। इसप्रकारके विकल्पको लिये हुए जब तक उसका ज्ञान है। तब तक वह नयका अवलम्बन करनेवाला है। बहुत काल तक अथवा जल्दी ही ध्यान करते जिस समय वह दैव वश * स्वयं महिषरूप बन जाता है तो उस समय वह केवल एक महिषका ही अनुभव करता है, वही महिषानुभूति है। भावार्थ—महिषका ध्यान करनेवाला जब तक यह विकल्प करता है कि यह महिष है मैं उसका उपासक हूं तब तक तो वह विकल्पात्मक नयके अधीन है, परन्तु ध्यान करते २ जिस समय उसके ज्ञानसे यह उपर्युक्त विकल्प दूर हो जाता है केवल महिष रूप अपने आपको अनुभवन करने लगता है उस समय उसके महिषानुभूति होती है। इस प्रकारकी अनुभूतिमें फिर उपास्य उपासकका भेद नहीं रहता है आत्मा जिसे पहले ध्येय बना कर स्वयं ध्याता बनता है, अनुभूतिके समय ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है किंतु ध्याता स्वयं ध्येयरूप होकर तन्मय हो जाता है इसीलिये स्वानुभूतिकी अपार महिमा है।

दार्ष्टान्त—

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितास्मस्यनयपक्षः ॥ ६५१ ॥
चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात्।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि कोई पुरुष अपने आत्माके ध्यान करनेमें आरूढ़ है, ध्यान करते हुए यह विकल्प उठाता है कि मैं यह आत्मा हूं और मैं ही स्वयं उसका अनुभव

* दैववशका आशय यह नहीं है कि वह पारमार्थिक महिषकी पर्यायको धारण करता हो, किन्तु यह है कि पुण्योदयवश यदि ध्यानकी एकाग्रता हो जाय तो।

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है कारण वैसा माननेमें असंभव दोष आता है। कोई भी नय निरपेक्ष नहीं हुआ करता है, न हो सका है। क्योंकि विधिके होनेपर प्रतिषेधका होना भी अवश्यंभावी है, और प्रतिषेधके होनेपर विधिका होना भी प्रसिद्ध है। भावार्थ—नय वस्तुके एक अंशको विषय करता है, इसलिये वह एक-विवक्षित अंशका विवेचन करता हुआ दूसरे अंशकी अपेक्षा अवश्य रखता है। अन्यथा निरपेक्ष अवस्थामें उसे नय ही नहीं कह सक्ते। विधिकी विवक्षामें प्रतिषेधकी सापेक्षता और प्रतिषेधकी विवक्षामें विधिकी सापेक्षताका होना आवश्यक है। इसलिये व्यवहार और निश्चयनयमें परस्पर सापेक्षता ही है।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैककस्त्विति चेत् ॥५९६॥

अर्थ—जिस प्रकार अनेक अंश सहित होनेसे व्यवहारनय अनेक ही है, उसी प्रकार व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी एक एक मिलाकर नियमसे अनेक है ऐसा माना जाय तो ?

उत्तर—

नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥५९७॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, कारण व्यवहारनय तो अनन्तधर्मात्मक होनेसे अनेक है, वह एक नहीं है। परन्तु निश्चनय अनेक नहीं है, क्योंकि उसका लक्षण 'न तथा' है अर्थात् जो कुछ व्यवहारनय कहता है उसका निषेध करना, कि (पदार्थ) वैसा नहीं है। यही निश्चयनयका लक्षण है, इसलिये कितने ही धर्मोंके विवेचन क्यों न किये जावें, सबका निषेध करना मात्र ही निश्चयनयका एक कार्य है अतएव वह एक ही है।

दृष्टान्त—

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥५९८॥

अर्थ—निश्चयनय क्यों एक है इस विषयमें सोनेका दृष्टान्त भी है। सोना जो [illegible] तांबेकी निवृत्तिसे [illegible] है, वैसा ही चांदीकी उपाधिकी निवृत्तिसे भी है, अथवा और [illegible] सोना है, अर्थात् सोनेमें जो [illegible] है अनेक है परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहीं, [illegible] वह एक अभाव ही रहेगा। इसलिए उपाधिकी निवृत्ति [illegible]।

विशेषात्मक हो। इसलिये सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है। (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य अंशको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है। उसके विशेषांशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। दोनों अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है। उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है।

शङ्काकार—

ननु चास्त्येकविकल्पोऽप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति।
कथमिव सदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६१७॥
अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा बलाद्वाच्यः।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमिति दोषः ॥६१८॥
युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात्।
दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ ६१९॥

अर्थ—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो सकता है। अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सकते हैं। परन्तु एक समयमें विरुद्ध दो भावोंका विकल्प किस प्रकार होसकता है? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प होसकते हैं तो क्रमसे हो सकते हैं या एक साथ उन दोनोंका हठ पूर्वक प्रयोग किया जासकता है? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रमसे होसके हैं तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नय ही कहे जावेंगे, प्रमाण वे नियमसे नहीं कहे जासके, यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि कहा जाय कि वे दोनों धर्म एक साथ होसके हैं तो यह बात बनती नहीं, कारण विरोधी धर्म एक साथ रह नहीं सके। दो विरोधी धर्म एक साथ रहें इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों ही विरोधी हैं। वे क्या एक साथ रहते हुए कभी किसीने देखे हैं?

विरोधी धर्म भी एक साथ रह सके हैं—

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति।
सदसदनेकैषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणां च ॥ ६२० ॥

अर्थ—ऊपर की हुई शङ्का ठीक नहीं है, कारण युक्ति विशेषसे विरोधी धर्मोंकी भी एक साथ वृत्ति रह सकती है। सत् असत्, भाव अभाव, नित्य अनित्य, भेद अभेद, एक अनेक आदि अनेक धर्मोंकी एक पदार्थमें एक साथ वृत्ति रहती है। तात्पर्य—यद्यपि स्थूल दृष्टिसे सत् असत् आदि धर्म विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे अपेक्षा विचार करनेसे जो विरोधी धर्म हैं वे भी अविरोधी प्रतीत होने लगते हैं। अपर यदि वे विरोधी

अर्थ—यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिये तभी उपयुक्त होसक्ते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ॥६६३॥

अर्थ—निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है। फल आत्माकी सिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु बोध करने पर कर्म कलंकसे रहित ज्ञानवाला आत्मा हो जाता है।

प्रमाणका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक्।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

अर्थ—व्यवहार नयका स्वरूप कहा गया, उसके पीछे निश्चय नयका भी स्वरूप कहा गया। दोनों ही नय भिन्न २ स्वरूपवाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। उसी प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रमाणका स्वरूप—

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५॥

अर्थ—विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोंकी जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व परको जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

खुलासा—

अर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

अर्थ—ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इस प्रकार है। अर्थाकार-परिणमन [illegible] ही अर्थ विकल्प है, वही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है अर्थात् एक अंशको विषय करता है तब वह नयाधीन-नयात्मक कहलाता है, और वही ज्ञान जब उभय विकल्प होता है अर्थात् पदार्थके दोनों अंशोंको विषय करता है तब वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है। [illegible]

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक्।
× आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिबिम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥६७३॥

अर्थ—एक साथ सामान्यविशेषका उपयोगात्मक ज्ञान भले प्रकार हो सकता है। जैसे-दर्पणमें उसमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब यद्यपि (कथंचित्) भिन्न है। तथापि उस प्रतिबिम्बका और दर्पणका एक साथ बोध होता है। भावार्थ—जो अनेक प्रकारका चित्र ज्ञान होता है वह भी अनेकोंका युगपत् ही होता है इसलिये युगपत् सामान्य विशेषका उपयोगी ज्ञान होता है यह सर्व सम्मत है।

शंकाकार—

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात्।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—दोनों ही नय जब भिन्न २ प्रयुक्त किये जाते हैं तब तो वे नय ही हैं, प्रमाण नहीं हैं और वे ही दोनों नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोगमें लाये जाते हैं तब वह केवल प्रमाण कहलाता है, नय नहीं कहलाता है? भावार्थ—या तो नयकी सिद्धि होगी या प्रमाणकी सिद्धि होगी। नय प्रमाण दोनोंकी सिद्धि नहीं होसकती है?

प्रमाण नयोंसे भिन्न है—

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम्।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

अर्थ—ऊपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि नयोंके योगसे प्रमाण भिन्न ही वस्तु है, प्रमाणका लक्षण, विषय, उदाहरण हेतु, फल, नाम, भेद, आदि सब नयोंसे जुदा ही है। उसीको नीचे स्पष्ट करते हैं।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥६७६॥

अर्थ—प्रमाणका लक्षण सम्पूर्णपदार्थोंको ग्रहण करना। प्रमाणका विषय—समस्त वस्तु निरंशदेशादिक पृथ्वी उसका उदाहरण है।

तथा—

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवद्वेत्तुकामस्य ॥ ६७७॥

अर्थ—तत्त्वके जाननेकी इच्छा रखनेवाला जो कोई संदिग्ध पुरुष अथवा मूर्ख पुरुष उसकी एक साथ अनेक द्रव्योंको हाथमें रक्खे हुए आंवलेके समान जाननेकी इच्छा होना ही प्रमाणका कारण है।

× यह श्लोकका अर्थ [illegible]

भी बने रहें तो भी पदार्थका यह स्वभाव है कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मोंको भी एक समयमें धारण करे, इसका कारण द्रव्य और पर्याय है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदा सत् रूप है, भावरूप है, नित्य है, अभिन्न है, एक है, परन्तु वही पदार्थ पर्यायदृष्टिसे असत् है, अभावरूप है, अनित्य है, भिन्न है, अनेक है। ग्रन्थान्तरमें कहा भी है–"समुदेति विलय मृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयेन, नोदेति नो विनश्यति द्रव्यनयालिङ्गितो नित्यम्, अर्थात् पदार्थ पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता रहता है, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है–"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत्" ॥ अर्थात् जिस प्रकार असाधारण हेतु पक्षधर्मादि भेदोंकी अपेक्षासे अनेक है और हेतु सामान्यकी अपेक्षासे वही हेतु एक है। उसी प्रकार पदार्थ भी द्रव्यभेदकी अपेक्षासे भिन्न है–अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत् सामान्यकी अपेक्षासे अभिन्न–एक है। इसलिये पदार्थ कथंचित् भेदाभेद विवक्षासे एक अनेक भिन्न अभिन्न आदि धर्मोंवाला एक ही समयमें ठहरता है। बिना अपेक्षादृष्टिसे उन्हीं दो धर्मोंमें विरोध दीखता है, अपेक्षादृष्टिका परिज्ञान करनेसे उन्हींमें अविरोध दीखने लगता है।

अपरमर्षो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम्।
यदि वा तदभिज्ञानं यथा हि सोऽयं बलाद्दृष्टपरामर्शी ॥७३१॥

अर्थ—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवादि पदार्थोंमें [illegible] और विमर्श विचारपूर्वक जो ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है। अथवा पदार्थोंमें जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है जैसे–यह वही है, इसप्रकारका ज्ञान एक वस्तुकी सामान्य विशेष दोनों अवस्थाओंको एक समयमें ग्रहण करता है।

दृष्टान्त–

सोऽयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं प्रत्यभिज्ञानम् ॥७३२॥

अर्थ—यही यह जीव विशेष है जो सामान्यरूपसे सत्स्वरूप वस्तुरूप था। इस [illegible] सामान्यविशेषात्मक ज्ञान हो जाता है। भावार्थ–सामान्य [illegible] सामान्य [illegible] है। विशेष [illegible] वही विशेष [illegible] है। [illegible] सामान्य [illegible] है। वही [illegible] विशेष, भी [illegible] है। [illegible] सामान्यविशेषात्मक [illegible] है।

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशंका करते हैं कि जब वस्तुके एक अंशको विषय करनेवाला य है तो अनेक नयोंका समूह होनेपर उससे ही अनेक धर्मता प्रमाणमें आजायगी, अर्थात् माण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय, अनेक नयोंके समूहको ही प्रमाण कहा जाय ो क्या हानि है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि यह आशंका किसी प्रकार ठीक सी मालूम ड़ती है तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक नयोंके संग्रहसे जो अनेक धर्मोंका संग्रह ोगा वह विरुद्ध होगा। कारण नय सभी एक दूसरेसे प्रतिपक्ष धर्मोंका विवेचन करते हैं। माण जो अनेक अंशोंका ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीतिसे नहीं करता है। किन्तु रस्पर मैत्रीभाव पूर्वक ही उन धर्मोंको ग्रहण करता है। इसलिये नयभेदसे प्रमाण भिन्न ही । भावार्थ—प्रत्येक नय एक२ धर्मको विरुद्ध रीतिसे ग्रहण करता है, परन्तु प्रमाण स्तुके सर्वांशोंको अविरुद्धतासे ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि सब अंशोंको षय करनेवाला एक ही ज्ञान है। भिन्न २ ज्ञान ही प्रत्येक अंशको विवक्षतासे ग्रहण कर के हैं। जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है, दूसरा रसको जानता है, तीसरा गन्धको जानता , चौथा स्पर्शको जानता है। ये चारों ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि विरुद्ध विषयोंको षय करते हैं, परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श, चारोंका समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह विरुद्ध ही होगा। यही दृष्टान्त प्रमाण नयमें सुघटित करलेना चाहिये। तथा पदार्थका त्यांश उसके अनित्यांशका विरोधी है, उसी प्रकार अनित्यांश उसके नित्यांशका विरोधी परन्तु दोनों मिलकर ही पदार्थस्वरूपके साधक हैं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक क्षका स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्षका विरोधी है परन्तु उभय पक्षका समुदायात्मक ज्ञान परस्पर रुद्ध होता हुआ भी अविरुद्ध है।

शंकाकार—

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति ।
एको भङ्गः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ॥ ६८३ ॥
अपि चास्ति न चास्तीति समग्रेकांस्तया प्रमाणनाशः स्यात्
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥
अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः ।
पूर्वापरबाधायाः कृतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्धयेत् ॥ ६८५ ॥
इदमपि वक्तुमयुक्तं यतो नय एव न प्रमाणमिह ।
मूलविनाशाय यतोऽवस्करि किल चेद्वाच्यतादोषः ॥ ६८६ ॥

तथा—

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तु
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ

अर्थ—सम्पूर्ण वस्तुमात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना
प्रमाणका नाम प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं। भाव
प्रमाण और नयमें अन्तर सिद्ध होगया। प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोंको
वस्तुके एक देशको विषय करता है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकारने कह
देशः प्रमाणाधीनम्, विकलादेशो नयाधीनम्" इसी प्रकार प्रमाणका लक्षण
गुणके द्वारा समस्त वस्तुके कथनको प्रमाण कहते हैं, प्रमाणसे जाने हुए
विशेषके कथनको नय कहते हैं। प्रमाणका फल समस्त वस्तुबोध है। नयक
एकदेश बोध है। शब्द भेद भी है। प्रमाण और नय ये दो नाम भी जुदे
प्रत्यक्ष परोक्ष आदि भेद हैं। नयके द्रव्य, पर्याय आदि भेद हैं। इसलिये प्र
दोनोंका ही स्वरूप जुदा २ है। उनमेंसे किसी एकका लोप करना सर्व लो
हेतु है। नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सकी है, और प्रमाणके अ
व्यवस्था भी नहीं बन सकी है।

प्रमाण नयमें विषय भेदसे भेद है—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—नय भी ज्ञानविशेष है, और प्रमाण भी ज्ञानविशेष है। दोनोंमें
विषयकी अपेक्षासे ही भेद है, वास्तवमें ज्ञानकी अपेक्षासे दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं

भावार्थ—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञानात्मक हैं परन्तु दोनोंका विषय जुदा
इसी लिये उनमें भेद है। अब विषयभेदको ही प्रकट किया जाता है—

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योऽन्यतमः।
सोऽप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥६८०॥

अर्थ—प्रमाण और नयमें विषयभेद इस प्रकार है—द्रव्यके अनन्त गुणोंमेंसे कोई
एक विवक्षित अंश नयका विषय है। वह अंश तथा और भी सब अंश अर्थात् अनन्त
गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है।

अथवा और भी—

यद्यनेकनयसमूहं संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम्।
तत्सदपि न सदिव [illegible] सदनेकधर्मकं [illegible]

अर्थ—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) विकल प्रत्यक्ष। जो अक्षय-अविनाशी ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है। दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है। देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयसे नहीं होता है, तथा यह विनाशी भी है।

सकल प्रत्यक्षका स्वरूप—

अपमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त कर्मोंके क्षयसे प्रकट होता है तथा जो साक्षात्–आत्म मात्र सापेक्ष होता है वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है, इन्द्रियोंसे रहित है, आत्मीक सुख स्वरूप है, तथा अविनश्वर है। भावार्थ–आवरण और इन्द्रियों सहित जो ज्ञान होता है वह पूर्ण नहीं होसक्ता, कारण जितने अंशमें उस ज्ञानके साथ आवरण लगे हुए हैं उतने अंशमें वह ज्ञान छिपा हुआ ही रहेगा। जैसा कि हम लोगोंका ज्ञान आवरण विशिष्ट है इसलिये यह स्वल्प है। इसी प्रकार इन्द्रियों सहित ज्ञान भी पूर्ण नहीं होसक्ता है। क्योंकि इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए होता है, साथ ही वह क्रमसे होता है, इसलिये जो इन्द्रियोंसे रहित तथा आवरणसे रहित ज्ञान है वही पूर्ण ज्ञान है। वह ज्ञान फिर कभी नष्ट भी नहीं होसक्ता है और उसी परिपूर्ण ज्ञान–केवल ज्ञानके साथ अनन्त अक्षातीत आत्मीक सुख गुण भी प्रकट होजाता है।

देश प्रत्यक्षका स्वरूप—

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं। देश प्रत्यक्ष इन्हें क्यों कहते हैं। देश तो इसलिये कहते हैं कि ये मनसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष इसलिये कहलाते हैं कि ये इतर इन्द्रियोंकी सहायतासे निरपेक्ष हैं। भावार्थ—अवधि और मनःपर्यय ये दो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते हैं, केवल मनसे* उत्पन्न होते हैं इसलिये ये देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

---

* गोमट्टसारके "इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण" इस गाथाके अनुसार ऋजुमति मनःपर्यय इन्द्रिय नोइन्द्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमति मनःपर्यय और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं होते हैं। ऋजुमति ईहामतिज्ञानपूर्वक (परम्परा) होता है। इसलिये उसमें इन्द्रिय मनकी सापेक्षता समझी गई है। पञ्चाध्यायीकारने अवधि मनःपर्यय दोनोंमें ही मनकी सापेक्षता बतलाई है। यह सब सापेक्षता बाह्यापेक्षासे है, साक्षात् तो आत्ममात्र सापेक्ष ही दोनों हैं। तथापि चिन्तनीय है।

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

अर्थ—उसका कारण यह है कि नय एक साथ दो धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। इसलिये एक साथ दो धर्मोंके कहनेकी विवक्षामें 'अवक्तव्य' नामक चौथा भंग होता है। यह भंग भी एक अंशात्मक है। जो नहीं बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं एक समयमें एक ही धर्मका विवेचन हो सक्ता है, दो का नहीं।

परन्तु—

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

अर्थ—परन्तु प्रमाणके विषयभूत दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सके ऐसा नहीं है, किन्तु एक साथ दोनों धर्म कहे जाते हैं। क्रमवर्ती केवल नय है, नयके समान प्रमाण क्रमवर्ती नहीं है, अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नयके समान अवक्तव्य भी नहीं है और तृतीय नयके समान यह क्रमसे भी दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है, किन्तु दोनों धर्मोंका समकाल ही प्रतिपादन करता है। इसलिये नय युग्मसे प्रमाण भिन्न ही है।

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अर्थ—वह प्रमाण निश्चयसे वस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है, अथवा सत् असत् एक अनेक, नित्य अनित्य, इत्यादि अनेक धर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करनेमें समर्थ ही समर्थ है।

प्रमाणके भेद—

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षञ्च।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ—प्रमाणरूप ज्ञानके दो भेद हैं, (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। जो ज्ञान किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है। भावार्थ-जो ज्ञान बिना इन्द्रिय, मन आलोक आदि सहायताके केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायतासे होता है वह परोक्ष है।

प्रत्यक्षके भेद—

प्रत्यक्षं द्विविधं तत् सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥ ६९७ ॥

प्रतिबन्ध रहते हुए भी दूसरी ओर ठहरे हुए मनुष्यके कानमें चला जाता है उसी प्रकार चक्षु भी कांचके भीतर अपनी किरणें डाल देता है। परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर यह विपक्ष कथन खण्डित हो जाता है। शब्द बिना खुला हुआ प्रदेश पाये बाहर जाता ही नहीं है। मकानके भीतर रहकर हम भित्तिका प्रतिबन्ध समझते हैं परन्तु उसमें शब्दके बाहर निकलनेके बहुतसे मार्ग खुले रहते हैं जैसे किवाड़ोंकी दरारें, खिड़कियोंकी सदें झरोखे आदि। यदि सर्वथा बन्द प्रदेश हो तो शब्द भी बाहर नहीं जाता है। पानीमें डूब जानेपर यदि बाहरसे कोई मनुष्य कितना ही जोरसे क्यों न चिल्लावे परन्तु पानीमें डूबा हुआ मनुष्य उसका शब्द नहीं सुनता है यह अनुभव की हुई बात है। यदि शब्द प्रतिबन्ध रहनेपर भी बाहर चला जाय तो [illegible] धीरे २ बात करनेपर क्यों नहीं दूसरी ओर सुनाई पड़ती है। इसका कारण यही है कि शब्द वर्गणा वहींपर दीवालसे टकराकर रह जाती है। इसलिये चक्षु पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करता है किन्तु दूरसे ही उसे जानता है। मन भी ऐसा ही है। इन दोनोंके [illegible] अर्थ योग्य देश प्राप्त करना चाहिये। *

चारों ही ज्ञान परोक्ष हैं—

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम्।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिव वाच्यम्॥ ७०१॥

अर्थ—छद्मस्थ-अल्पज्ञ अवस्थामें जितने भी ज्ञान हैं मति श्रुत अवधि [illegible] चारों ही आवरण और इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। [illegible] ज्ञानोंको परोक्षके समान ही कहना चाहिये। अर्थात् मतिश्रुत तो परोक्ष [illegible] हैं परन्तु अवधि मनःपर्यय भी इन्द्रिय आवरणकी अपेक्षा रखते हैं [illegible] तुल्य ही हैं।

अवधिमनःपर्ययविद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात्।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात्॥ ७०२॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एक देश [illegible] परन्तु इनमें यह प्रत्यक्षता विवक्षावश केवल उपचारसे ही आती है। [illegible] है

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम्॥ ७०३॥

* नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले चक्षुको [illegible] [illegible] है परन्तु देखा जाता [illegible] है। [illegible] और भी अनेक दोष आते हैं जिनका [illegible] में किया गया है।

परोक्षका स्वरूप—

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम्॥७०७॥

अर्थ—आभिनिबोधिक बोध अर्थात् मतिज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोंके सन्निकर्षसे होता है इसलिये वह नियमसे परोक्ष है, और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, वह भी परोक्ष है। भावार्थ—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें ठहरे हुए पदार्थको अभिमुख कहते हैं, और जो विषय जिस इन्द्रियका नियत है उसे नियमित कहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह स्थूल पदार्थका होता है, सूक्ष्म परमाणु आदिका नहीं होता है। साथ ही योग्य देशमें (जितनी निकटता या दूरता आवश्यक है) सामने स्थित पदार्थका ज्ञान होता है। और चक्षुका रूप विषय नियत है, रसनाका रस नियत है ऐसे ही पांचों इन्द्रियोंका विषय नियत है। इनके सिवा जो मनके द्वारा बोध होता है वह सब मतिज्ञान कहलाता है। अभिमुख नियमित बोधको ही आभिनिबोधिक बोध कहा गया है। यह नाम इन्द्रियोंकी मुख्यतासे [illegible] गया है। मतिज्ञान परोक्ष है श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है [illegible] परोक्ष [illegible] रहता है इसलिये वह भी परोक्ष है। [illegible] है कि [illegible] मतिज्ञान [illegible] उत्पन्न बतलाया गया है [illegible] है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र ये चार इन्द्रियां तो पदार्थका सम्बन्ध कर [illegible] और मन ये दो इन्द्रियां पदार्थको दूरसे ही जानती हैं। न तो इनके [illegible] और न ये ही पदार्थके पास पहुंचती हैं। मनसे इनको [illegible] होता है। इसलिये यह तो पदार्थका बिना सम्बन्ध किये ही ज्ञान [illegible] है। [illegible] भी यदि सम्बन्धसे पदार्थका बोध करता तो नेत्रमें लगे हुए [illegible] परन्तु [illegible] अति निकटका पदार्थ नहीं देखा जाता है। [illegible] नहीं देखता है। दूसरी [illegible] आदि [illegible]

भी दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी मतिश्रुत परोक्ष हैं फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति कालमें निरपेक्ष ज्ञानके समान उन्हें प्रत्यक्ष कैसे बतलाते हैं ?

उत्तर—

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविशेषात् ।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ७०९ ॥
इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः ।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यथा ॥ ७१० ॥

अर्थ—ठीक है, परन्तु वस्तुका विचार अतिशय रहित होता है, उसमें कोई विशेष नहीं रहता। यद्यपि यह बात ठीक है और ऐसी ही सूत्रकारकी प्रतिज्ञा है कि [illegible] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व कर्मोदय [illegible] होनेसे कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होजाती है कि जिसके द्वारा [illegible] जाता है। भावार्थ—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति श्रुत परोक्ष हैं तथापि [illegible] नाश या उपशम या क्षयोपशम होनेसे सम्यग्दृष्टिके स्वात्मानुभवरूप [illegible] होजाता है वही प्रत्यक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर [illegible] ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन् ।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥ ७११ ॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभवके [illegible] घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियें उपयोगात्मक नहीं [illegible] आत्मानुभवके समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है, किन्तु—

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा ।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—केवल मन ही उस समय उपयुक्त होता है। वह मन दो प्रकार है [illegible] द्रव्यमन (१) भावमन। मनका ही दूसरा [illegible] इन्द्रिय है। [illegible] जिस प्रकार इन्द्रियों [illegible] हैं और [illegible] इस प्रकार [illegible] नहीं है [illegible] हैं। [illegible] होनेसे नोइन्द्रिय कहलाता है।

अर्थ—उपचारका कारण भी यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियमसे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य है। उस प्रकार अवधि और मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है इसीलिये अवधि और मनःपर्यय उपचारसे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम्।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम्॥ ७०४॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणाके पराधीन जिस प्रकार आदिके दो ज्ञान होते हैं उस प्रकार अन्तके दो नहीं होते।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात्।
केवलमेव मनःसादवधिमनः पर्ययद्वयं ज्ञानम्॥ ७०५॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान केवल मनकी सहायतासे दूरवर्ती पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान लेते हैं।

मतिश्रुत भी कुछ प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष है—

अपि किंचाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्॥ ७०६॥

अर्थ—विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदिके दो ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाते हैं, और समयमें नहीं। भावार्थ—केवल स्वात्मानुभूतिके समय जो ज्ञान होता है वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वैसा ही स्पष्ट है जैसा कि अवधिमनःपर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। किन्तु—

नहि [illegible] इन्द्रियविषयसम्बद्धं।
[illegible] परोक्षं न समक्षमिव [illegible] ॥७०७॥

अर्थ—[illegible] इन्द्रियोंके [illegible] परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं।

[illegible]—

ननु [illegible] परोक्ष [illegible] ।
[illegible] ॥७०८॥

अर्थ—[illegible]

स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते हैं, मन अमूर्तका भी जाननेवाला है। जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा है अर्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है। इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं इसलिये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है। इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं—

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मतिज्ञानं यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम्॥ ७१७॥
अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात्॥ ७१८॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं। [illegible] है कि भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त [illegible] है। उस अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न हो? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह [illegible] अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम्॥ ७१९॥

अर्थ—तथा आत्माकी भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान [illegible] कारण हैं। कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके बिना तो [illegible] है परन्तु मतिश्रुतके बिना कदापि नहीं होता। भावार्थ—यह नियम नहीं है कि [illegible] ज्ञानोंके होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो। किसीके अवधि मनःपर्यय नहीं भी होते हैं [illegible] भी उसके केवलज्ञान होजाता है। परन्तु मतिश्रुत तो सर्वोंके नियमसे होते हैं [illegible] लिये सुमति सुश्रुत ये दो ही आत्माकी सिद्धिमें मूल कारण हैं। [illegible] इनमें विशेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार हो ही जाता है।

शङ्काकार—

ननु जैनानामेतन्मतं मतमेकेषां सापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः॥ ७२०॥

अर्थ—[illegible] करोंमें जैनियोंके मतमें ही [illegible] ऐसी व्यवस्था है, दूसरोंके [illegible] ऐसी नहीं है। यह विषय विवादस्थ है, क्योंकि बहुतसे [illegible]

द्रव्यमन—

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत्।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥७१३॥

अर्थ—द्रव्यमन हृदय कमलमें होता है, वह घनाङ्गुलके असंख्यात मात्र भाग प्रमाण होता है। यद्यपि वह अचेतन—जड़ है तथापि भाव मन जिस समय पदार्थोंको विषय करता है उस समय द्रव्यमन उसकी सहायता करता है। भावार्थ—पुद्गलकी जिन पाँच वर्गणाओंसे जीवका सम्बन्ध है उनमें एक मनोवर्गणा भी है। उसी मनोवर्गणाका हृदय स्थानमें कमलवत् द्रव्य मन बनता है। उसी द्रव्य मनमें आत्माका हेयोपादेयरूप विशेष ज्ञान-भाव मन उत्पन्न होता है। जिस प्रकार रूपका बोध आत्मा चक्षु द्वारा ही करता है उसी प्रकार आत्माके विचारोंकी उत्पत्तिका स्थान द्रव्यमन है।

भावमन—

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयात्क्रमाच्च स्यात् ॥७१४॥

अर्थ—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है। वह अपने प्रतिपक्षी-आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है। भावार्थ—कर्मोंके क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्धि-निर्मलता होती है उसे लब्धि कहते हैं, तथा पदार्थोंकी ओर उन्मुख (रुजू) होकर उनके जाननेको उपयोग कहते हैं। बिना लब्धिरूप ज्ञानके उपयोगात्मक बोध नहीं हो सकता है, परन्तु लब्धिके रहते हुए उपयोगात्मक बोध हो या नहीं, नियम नहीं है। मनसे जो बोध होता है वह युगपत् नहीं होता है किन्तु क्रमसे होता है।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत्।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः ॥७१५॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पाँचों इन्द्रियाँ हैं सभी एक मूर्त पदार्थको ग्रहण करनेवाली हैं। परन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनोंको जाननेवाला है।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

अर्थ—इसलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होचुकी कि स्वात्माके ग्रहण करनेमें नियमसे मन ही उपयोगी है। किन्तु इतना विशेष है कि यह मन विशेष अवस्थामें अपने अमूर्त पदार्थके ग्रहण करने समय स्वयं भी अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है। भावार्थ—ऊपर कहा गया है कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है अथवा तत्पूर्वक श्रुत ज्ञान स्वरूप भी है। तथापि वह निर्देश ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है। इसी बातको [illegible]

कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते न अमूर्तका भी जाननेवाला है। जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा र्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त । इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं ये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है। इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं:—

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान स मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष ावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त स्वरूप होजाता र अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अती- यों न हो? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य य प्रत्यक्ष है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने।
मान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ—तथा आत्माकी भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत । कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके विना तो मोक्ष होजाता मतिश्रुतके विना कदापि नहीं होता। भावार्थ—यह नियम नहीं है कि सब होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो। क्योंकि अवधि मनःपर्यय नहीं भी होते हैं तो केवलज्ञान होजाता है। परन्तु मतिश्रुत तो प्राणीमात्रके नियमसे होते हैं। इस- ति सुश्रुत ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमें मूल कारण हैं। अतएव मिथ्यात्वके अनु- षेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार हो ही जाता है।

शङ्काकार—

ननु जैनानामेतन्मतं मतेऽस्येव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

र्थ—सम्पूर्ण मतोंमें जैनियोंके मतमें ही प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था है, ... है। यह विषय वि... ...कि बहुतसे मत प्रमाण...

प्रकार कहते हैं। भावार्थ—जैनियोंने उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानको ही प्रमाण मानकर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद किये हैं परन्तु अन्य दर्शनवाले ऐसा नहीं मानते हैं?

कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं—

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः॥ ७२१॥

अर्थ—ज्ञानाभासी (मिथ्याज्ञानी) वेदान्त मतवाले कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं। और वे पुरुषके बनाये हुए नहीं हैं, किन्तु आकाशके समान स्वतः सिद्ध हैं। अर्थात् जिस प्रकार आकाश अनादिनिधन स्वयं सिद्ध है किसीने उसे नहीं बनाया है उसी प्रकार वेद भी अनादिनिधन स्वयं सिद्ध हैं।

कोई प्रमाकरणको प्रमाण मानते हैं—

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित्॥७२२॥

अर्थ—दूसरे मतवाले (नैयायिक) अपने आपको पण्डित मानते हुए प्रमाणका स्वरूप यह कहते हैं कि जो प्रमाका निदान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा नाम प्रमाणके फलका है। उस फलका जो साधकतम कारण है वही प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते हैं। दूसरे कोई ऐसा भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानमें कारण पड़ता हो वही प्रमाण है। ऐसा प्रमाणका स्वरूप माननेवालोंमें वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आजाते हैं जो कि आलोक, पदार्थ, सन्निकर्षादिको प्रमाण मानते हैं।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत्।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु॥ ७२३॥

अर्थ—जिन्होंने अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं पहचाना है, जो वृथा ही अपने आपको आप्तपनेके अभिमानसे जला रहे हैं ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी इच्छानुसार कहते हैं।

वेदान्तादिवादियोंके माने हुए प्रमाणोंमें दूषण—

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात्।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्गम्॥ ७२४॥

अर्थ—जिन प्रमाणोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित हैं, कारण जो प्रमाणका लक्षण होना चाहिये वह लक्षण उनमें माना ही नहीं है और जो कुछ उनका लक्षण किया गया है वह दोषोंसे विशिष्ट (सहित) है तथा अविचारित रम्य है। उन प्रमाण

विचार किया जाय तो वे आकाशके पुष्पोंके समान मालूम होते हैं। ते हैं। क्यों? सो आगे कहा गया है।—

ज्ञान ही प्रमाण है—

यथा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम्।
गादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी जड़ पदार्थमें प्रमाणता है। विना ज्ञानके अचेतन करण, सन्निकर्ष इन्द्रिय आदिको कौन प्रमाण और प्रमाणका फल प्रमा—अज्ञान निवृत्तिरूप है, उसका कारण भी अज्ञान ना आवश्यक है इसलिये प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिये। मेय हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अपने आपको जाननेवाला ही परका कता है जो स्वयं अज्ञानरूप है वह स्व—पर किसीको नहीं जना सकता है। ण आदि जड़ हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत्।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि करण आदि बाह्य कारण हैं उनमें भीतर माननेवाला है इसलिये ज्ञान सहित करण आदि प्रमाण हैं, तो ऐसा कहनेमें वही बात सिद्ध है जो प्रकृतमें हम (जैन) कह रहे हैं अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। यही बात सिद्ध है। भावार्थ—प्रमाणमें सहायक सामग्री प्रकाश योग्यदेश, इन्द्रियव्यापार, कारक साकल्य, र्थ सान्निध्य सन्निकर्ष आदि कितने ही क्यों न होजाओ परन्तु पदार्थका बोध करनेवाला ण ज्ञान ही पड़ता है उसके विना सभी कारण सामग्री निरर्थक हैं।

शंकाकार—

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥७२७॥

अर्थ—ज्ञानको प्रमाणका फल मानना चाहिये, उसके कारणको प्रमाण मानना चाहिये। दे ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञानका प्रयोजन तो हो चुका फिर फल क्या गा? फिर फल असिद्ध ही होगा। भावार्थ—शंकाकारका यह अभिप्राय है प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों ही जुदे २ होने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही ा चाहिये। ऐसी अवस्थामें ज्ञानको प्रमाणका फल और उस ज्ञानके कारण (करण-जड़) प्रमाण मानना ही ठीक है, यदि ऐसा नहीं माना जाय और ज्ञानको ही प्रमाण माना , तो फिर प्रमाणका फल क्या ठहरेगा? उसका अभाव ही हो जायगा?

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण, उसका फल, उसका कारण स्वयं ज्ञान ही है। जिस प्रकार दीपक स्वयं अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोंका भी प्रकाश करता है, अथवा दीपक स्वयं प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है। भावार्थ-दीपकके दृष्टान्तके समान प्रमाण भी ज्ञान ही है, प्रमाणका कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाणका फल भी ज्ञान ही है। ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है। यहां पर यह शंका अभी खड़ी ही रहती है कि दोनोंको ज्ञानरूप माननेसे दोनों एक ही हो जायंगे, अथवा फल शून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायगा, परन्तु विचार करनेपर यह शंका भी निर्मूल ठहरती है, जैन सिद्धान्तमें प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न नहीं है। किन्तु कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् भेदमें ज्ञानकी पूर्व पर्याय प्रमाणरूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फलरूप पड़ती है। क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाणका फल है। जो प्रमाणरूप ज्ञान है वही ज्ञान अज्ञानसे निवृत्त होता है और उसीमें हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप बुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका। साथ ही प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक हो जायंगे अथवा फल शून्य प्रमाण हो जायगा, इस शंकाका परिहार भी हो चुका।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥
पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अर्थ—कभी इन्द्रियोंको प्रमाण कहा गया है, कभी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण कहा गया है, कभी ज्ञानको ही प्रमाण कहा गया है। इस प्रकार तीन प्रकार प्रमा (प्रमाणका फल)का करण अर्थात् प्रमाणका परम साधक कारण कहा गया है। ये तीनों ही आत्माकी अवस्थायें हैं। पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है, सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है। तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है, अर्थात् तीनों ही ज्ञान रूप हैं। इन तीनोंमें पहला पहला करण पड़ता है और आगे आगेका फल पड़ता है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है।

तथापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा।
अविनाभावेन चितो ज्ञानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात्॥ ७३१॥

अर्थ—उनमें भी जिस समय ज्ञान करण पड़ता है, उस समय अविनाभावसे आत्माकी ज्ञान उपादान रूपा बुद्धि उसका फल पड़ता है अर्थात् पूर्व ज्ञान करण और उत्तर ज्ञान फल पड़ता है और यह बात असिद्ध भी नहीं है।

नाप्येतदसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात्।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम्॥ ७३२॥

अर्थ—साधन भी ज्ञान पड़ता है और साध्य भी ज्ञान पड़ता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु दृष्टान्तसे सुसिद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञानके बिना सर्पादिका त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है।

भावार्थ—प्रमाणका स्वरूप इस प्रकार है—"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" हित नाम सुख और सुखके कारणोंका है, अहित नाम दुःख और दुःखोंके कारणोंका है। जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें समर्थ है वही प्रमाण होता है। ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि सुख और सुखके कारणोंका परिज्ञान तथा दुःख और दुःखके कारणोंका परिज्ञान सिवा ज्ञानके जड़ पदार्थोंसे नहीं हो सकता है, ज्ञानमें ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्पादि अनिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण रूप बुद्धि करावे इसलिये प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात प्रायः सर्व सिद्ध है। कारण प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप होता है। ऐसा फल ज्ञान ही हो सकता है, जड़ नहीं।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यद्नार्हतं कुवादिभिः स्वैरम्।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम्॥ ७३३॥

अर्थ—जो कुछ प्रमाणका लक्षण कुवादियोंने कहा है वह अर्हत (जैन) लक्षण नहीं है, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा पूर्वक कहा है, उसमें लक्षणके दोष आते हैं इसलिये वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणाभास है। भावार्थ—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव ये तीन लक्षणके दोष हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके एक देशमें न रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं, जो लक्षण अपने लक्ष्यके सिवा अलक्ष्यमें भी रहे उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं जो लक्षण अपने लक्ष्यमें सर्वथा न रहे उसे असंभव दोष कहते हैं। इन तीन दोषोंसे रहित लक्षण ही लक्षण कहलाता है, अन्यथा वह लक्षणाभास है। प्रमाणका जो लक्षण अन्यवादियोंने किया है वह इन दोषोंसे रहित नहीं है यही बात नीचे कही जाती है—

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तद्योगात् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण लक्ष्य है, उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि ईश्वरमें उस लक्षणका सदा अभाव रहता है । भावार्थ—नैयायिक ईश्वरको प्रमाण तो मानते हैं वे कहते हैं 'तन्मे प्रमाणं शिव इति' अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है । परन्तु वे उस ईश्वरको प्रमाका करण नहीं मानते हैं किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते हैं । उनके मतसे ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमें प्रमाकरण रूप प्रमाणका लक्षण नहीं रहता । इसलिये लक्ष्यके एक देश—ईश्वरमें प्रमाणका लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष बना रहा ।

तथा—

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥७३५॥

अर्थ—इसी प्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण करते हैं उनके यहां योगियोंके ज्ञानमें भी उक्त लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि उन्हीं लोगोंने योगियोंके ज्ञानको दिव्य ज्ञान माना है वह सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं परन्तु परमाणु आदि पदार्थोंमें इन्द्रिय सन्निकर्ष नियमसे नहीं हो सक्ता है । भावार्थ—इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार ही को वे प्रमाकरण बतलाते हैं, यह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थोंके साथ ही हो सक्ता है, सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त धर्माधर्म, और दूरवर्ती पदार्थोंका वह नहीं हो सक्ता है, इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार-प्रमाकरणको प्रमाण माननेसे योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते हैं इसलिये योगीजनोंमें उनके मतसे ही प्रमाकरण लक्षण नहीं जाता है यदि वे योगियोंको प्रमाका करण स्वयं नहीं मानते हैं तो उनके मतसे ही प्रमाणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हो गया । क्योंकि उन्होंने योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है ।

वेद भी प्रमाण नहीं है—

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अर्थ—वेदको प्रमाण माननेवाले वेदान्ती तो केवल अपौरुषेय हेतु द्वारा उसमें प्रमाणता लाते हैं । दूसरा उनका हेतु आगम है, आगम प्रमाणरूप हेतु अन्योन्याश्रय दोष आनेसे अहेतु हो जाता है । भावार्थ—वेदको अपौरुषेय माननेवाले उसकी अनादितामें प्रवाह नित्यताका हेतु देते हैं, वह प्रवाह नित्यता क्या शब्दमात्रमें है या विशेष आनुपूर्वी-रूप जो शब्द वेदमें उल्लिखित हैं उन्हींमें है ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो

जितने भी शब्द हैं सभी वैदिक हो जांयगे, फिर वेद ही क्यों अपौरुषेय (पुरुषका नहीं बनाया हुआ) कहा माना है ? यदि उत्तर पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि उन विशेष आनुपूर्वीरूप शब्दोंका अर्थ किसीका समझा हुआ है या नहीं ? यदि नहीं, तब तो बिना ज्ञानके उन वेद वाक्योंमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, यदि किसीका समझा हुआ है तो उन वेद वाक्योंके अर्थको समझानेवाला-व्याख्याता सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यों न माने जायँ, ऐसी अवस्थामें वेदमें सर्वज्ञ पुरुष कृत ही प्रमाणता आती है इसलिये उसका अपौरुषेयत्व प्रमाण सूचक नहीं सिद्ध होता। यदि वेदका व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उस वेदके कठिन२ वाक्योंका उल्टा भी अर्थ कर सकता है, क्योंकि वाक्य स्वयं तो यह कहते नहीं हैं कि हमारा अमुक अर्थ है, अमुक नहीं है, किन्तु पुरुषोंद्वारा उनके अर्थोंका बोध किया जाता है। यदि वे पुरुष अज्ञ और रागादि दोषोंसे विशिष्ट हैं तो वे अवश्य कुछका कुछ निरूपण कर सकते हैं। कदाचित् यह कहा जाय कि उसके व्याख्याता अल्पज्ञ भी हों तो भी वेदोंके अर्थकी व्याख्यान परम्परा बराबर ठीक चली आनेसे वे उनका यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ठीक परम्परा चली आने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें अल्पज्ञोंकी संशय रहित प्रवृत्ति (व्याख्यानमें) नहीं हो सकती है, दूसरी बात यह है कि यदि वेदार्थ अनादिपरम्परासे ठीक चला आता है तो मीमांसकादि भावना, विधि, नियोगरूप भिन्न २ अर्थ प्रतिपत्तिको क्यों प्रमाण मानते हैं ? इसलिये वेदको अनादि परम्परागत-अपौरुषेय मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है। वेदको अनादि माननेमें ऐसा भी कहा जाता है कि जिस प्रकार वर्तमान कालमें कोई वेदोंको बनानेवाला नहीं है उस प्रकार भूतकाल और भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है, विपक्षमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे वर्तमानमें श्रुतिका बनानेवाला कोई नहीं है वैसे भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है, अथवा जैसे वर्तमानकालमें वेदोंका कोई जानकार नहीं है वैसे उनका जानकार भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है इसी प्रकार ऐसा कहना भी कि वेदका अध्ययन वेदाध्ययन पूर्वक है वर्तमान अध्ययनके समान, मिथ्या ही है। कारण विपक्षमें भी कहा जा सकता है कि भारतादिका अध्ययन भारताध्ययन पूर्वक है। वर्तमान अध्ययनके समान। इसलिये उपर्युक्त कथनसे भी वेदमें अनादिता सिद्ध नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि वेदके कर्ताका स्मरण नहीं होता है इसलिये उसके कर्ताका अभाव कह दिया जाता है ऐसा कहना भी बाधित है क्योंकि ऐसी बहुतसी पुरानी वस्तुएँ हैं जिनके कर्ताका स्मरण नहीं होता है, तो क्या वे भी कर्ता-नहीं तो वेद ही क्यों वैसा माना जाय ? तथा वेदके कर्ताका

स्मरण नहीं होता ऐसा सब वेदानुयायी मानते भी नहीं हैं। पिटकत्रयमें वेदके कर्त्ताका कुछ लोग स्मरण करते ही हैं। इसलिये वेद पुरुष कृत नहीं है यह बात किसी प्रकार नहीं बनती कुछ कालके लिये यदि वेदको अपौरुषेय भी मान लिया जाय तो भी उसमें सर्वज्ञका अभाव होनेसे प्रमाणता नहीं आती है। सर्वज्ञ वक्ताके मानने पर 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्, अर्थात् धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है यह बात नहीं बनेगी, क्योंकि सर्वज्ञका वचन भी प्रमाण मानना पड़ेगा, तथा सर्वज्ञ उसका वक्ता मानने पर उस वेदमें पूर्वापर विरोध नहीं रह सकता है, परन्तु उसमें पूर्वापर विरोध है, हिंसाका निषेध करता हुआ भी वह कहीं हिंसाका विधान करता है तथा एक ही वेदका एक अंश एक वेदानुयायी नहीं मानता है वह उसे अप्रमाण समझता हुआ उसीके दूसरे अंशको वह प्रमाण मानता है, जिसे वह प्रमाण मानता है उसे ही तीसरा वेदानुयायी अप्रमाण मानता है। यदि वह सर्वज्ञ वक्तासे प्रतिपादित होता तो इस प्रकार पूर्वापर विरोध सर्वथा नहीं होसकता है इसलिये वेदमें प्रमाणता किसी प्रकार नहीं आती।

वेदके विषयमें यह कहना कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता इसलिये वह अनादि अपौरुषेय है, इस कथनके विषयमें पहली बात तो यह है कि नित्य वस्तुके विषयमें ऐसा कहना ही व्यर्थ है, नित्य वस्तु जो होती है उसमें न तो उसके कर्त्ताका स्मरण ही होता है न अस्मरण (स्मरणका न होना) ही होता है किन्तु वह अकृत्रिम होती है यदि यह कहा जाय कि वेदकी सम्प्रदाय (वेदका वर्णक्रम, पाठक्रम, उच्चारणक्रम) का विच्छेद नहीं है इसीलिये यह कहा जाता है कि उसके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, बहुतसे ऐसे वाक्य हैं जिनका विशेष प्रयोजन न होनेके कारण उनके कर्त्ताका स्मरण नहीं रहा है, साथ ही वे अनादिकालसे चले आ रहे हैं जैसे—"वटे वटे वैश्रवण वृक्ष वृक्षमें यक्ष (कुबेर) रहता है। तथा "चत्वरे [illegible] ईश्वर। पर्वते पर्वते रमा सर्वत्र मधुसूदन। माते भगवत्युदीचा देवी सिद्धिविधायिनी, सिद्धि [illegible] [illegible] सिद्धिरस्तु मे सदा" अर्थात् घर घर में ईश्वर है, पर्वत पर्वतमें राम है, सर्वत्र [illegible] है, [illegible] देवी प्रसन्न हों, मैं [illegible] करता, मेरी सदा सिद्धि हो, इत्यादि [illegible] अनादि [illegible] अविच्छिन्न हैं, परन्तु उनको वेद वादियोंने भी अपौरुषेय नहीं माना है। [illegible] [illegible] है कि वेदके कर्त्ताका अभाव किस प्रकार कहा जा सकता है वैदिक लोग [illegible] [illegible] करते हैं। वे कहते हैं कि [illegible] [illegible] अर्थात् [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] वेदान्त [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं। [illegible] [illegible] है कि उनमें [illegible] भी [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वेदको [illegible] न करे। [illegible]

एक बात ही बन सकी है, दोनों नहीं। इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि वेदोंकी प्रमाणताकी पोषक एक भी सद्युक्ति नहीं है। इन सब बातोंके सिवा वेदविहित अर्थों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वे सब ऐसे ही असम्बद्ध जान पड़ते हैं कि जैसे दशदाडिमादि वाक्य असम्बद्ध होते हैं। वेदोंका अर्थ पूर्वापर विरुद्ध और असमञ्जस है, वेदोंकी अप्रमाणताका विशेष निदर्शन करनेके लिये प्रमेयकमल मार्तण्ड और अष्टसहस्रीको देखनाचाहिये।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत्।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः समयात् ॥ ७३७ ॥

अर्थ—इसप्रकार जितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतोंका समूह है वह सब असार है, इसलिये वह शास्त्रानुसार स्याद्वादवेदी—वृद्ध पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है।

निक्षेपोंके कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात्।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्म ॥ ७३८ ॥

अर्थ—आगमज्ञानके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणका लक्षण कहा गया। अब संक्षेपसे निक्षेपोंका स्वरूप उनके लक्षणानुसार कहा जाता है।

शङ्काकार—

ननु निक्षेपो न नयो नच प्रमाणं न चांशकं तस्य।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादितिचेत् ॥ ७३९ ॥

अर्थ—निक्षेप न नय है, और न प्रमाण है, न उसका अंश है, नय प्रमाणसे निक्षेपका उद्देश्य ही जुदा है। उद्देश्य जुदा होनेसे उसका लक्षण ही जुदा है, इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये? अर्थात् निक्षेप नय प्रमाणसे जब जुदा है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये?

निक्षेपका स्वरूप (उत्तर)

सत्यं गुणसापेक्षो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

अर्थ— नय तो गौण और मुख्यकी अपेक्षा रखता है, इसीलिये वह विपक्ष सहित है। नय सदा अपने (विवक्षित) पक्षका स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा भी रखता है, निक्षेपमें यह बात नहीं है, यहां पर तो गौण पदार्थमें मुख्यका आरोप किया जाता है, इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है। भावार्थ—नय और निक्षेपका स्वरूप कहनेसे ही शंकाकारकी शंकाका परिहार होजाता है। सबसे बड़ा भेद तो इनमें यह है कि नय तो ज्ञान विकल्परूप है और निक्षेप पदार्थोंमें व्यवहारके लिये किये

हुए संकेतोंका नाम है। वह संकेत कहीं पर तद्गुण होता है और कहीं पर अतद्गुण होता है। नय और निक्षेपमें विषय विषयी सम्बन्ध है, नय विषय करनेवाला ज्ञान है, और निक्षेप उसका विषय भूत पदार्थ है। इसलिये नयोंके कहनेसे ही निक्षेपोंका विवेचन स्वयं होजाता है अतएव इनके स्वतन्त्र उल्लेखकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह शंका होसकती है कि जब निक्षेप नयका ही विषय है तो फिर चार निक्षेपोंका स्वतन्त्र विवेचन सूत्रों द्वारा ग्रन्थकारोंने क्यों किया है? इसके उत्तरमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि केवल समझानेके अभिप्रायसे निक्षेपोंका निरूपण किया गया है, अन्यथा विषयभूत पदार्थोंमें ही वे गर्भित हैं। दूसरे भिन्न भिन्न व्यवहार चलाना ही निक्षेपोंका प्रयोजन है इसलिये उस प्रयोजनको पूरा करनेके लिये ग्रन्थकारोंने उनका निरूपण किया है।

इस श्लोकमें 'गुणाक्षेप' पद आया है, उसका अर्थ चारों निक्षेपोंमें इसप्रकार घटित होता है—नाम गौण पदार्थमें अर्थात् अतद्गुण पदार्थमें केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप। स्थापनामें-अतद्गुण पदार्थमें किया हुआ गुणोंका आक्षेप। द्रव्यमें-भावि अथवा भूत तद्गुणमें [illegible] किया हुआ गुणोंका आक्षेप। भावमें-वर्तमान तद्गुणमें किया हुआ वर्तमान गुणोंका आक्षेप। इसप्रकार गौणमें आक्षेप अथवा गुणोंका आक्षेप ही निक्षेप है।

नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं। भावनिक्षेप [illegible] [illegible] विषय है। अन्तर्भेदोंकी अपेक्षासे नाम निक्षेप समभिरूढ़ नयका विषय है, स्थापना और द्रव्य निक्षेप नैगम नयका विषय है। भाव निक्षेप ऋजुसूत्र तथा एवंभूत नयका विषय है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्षणेनानुना नाम्नाम्॥७४२॥

अर्थ—निक्षेप चार प्रकार है (१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप (३) [illegible] निक्षेप (४) भाव निक्षेप। अब इन चारोंका लक्षण कहा जाता है।

वस्तुन्यतद्गुणे [illegible] संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
सोऽयं तत्कर्मणि [illegible] स्थापना यथा प्रतिमा॥७४३॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]

पाकार है परन्तु है पाषाणकी। उस पाषाणकी प्रतिमामें उन पार्श्वनाथ भगवानके जीवकी जो कि अनन्तगुण धारी–अर्हन्त हैं (थे) स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है स्थापना निक्षेप है। भावार्थ–उपर्युक्त उदाहरण सदाकार स्थापनाका है। चावल आदि में जो पहले अरहन्तकी स्थापना की जाती थी * वह असदाकार स्थापना है। अथवा शतरंजके मोहरोंमें जो घोड़े हाथी पयादे आदिकी स्थापना की जाती है वह असदाकार स्थापना है।

यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं, तथापि दोनोंमें अन्तर है। नाम यदि किसीका जिन रक्खा गया है तो उसे मनुष्य केवल उस नामसे बुलावेंगे। 'जिन'की जो पूज्यता होती है, वह पूज्यता वहां पर नहीं है। परन्तु स्थापनामें जिसकी स्थापना की जाती है, उसका जैसा आदर सत्कार अथवा पूज्यता और गुण स्तवन होता है वैसा ही उसकी स्थापनामें किया जाता है। जैसी जिन (अरहन्त) की पूज्यता मूल जिनमें है वैसी ही उनकी स्थापित मूर्तिमें भी है। बस यही अन्तर है।

ऋजुनयनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥७४३॥

अर्थ—ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला किन्तु भाविनैगम आदि नयोंकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्य निक्षेप है। जैसे–छद्मस्थ जिनके जीवको साक्षात् जिनके समान समझना। भावार्थ–द्रव्य निक्षेप तद्गुण होता है, परन्तु पदार्थमें जो गुण आगे होनेवाले हैं अथवा पहले हो चुके हैं उन गुणोंवाला उसे वर्तमानमें कहना यही द्रव्यनिक्षेप है जैसे महावीर स्वामी सर्वज्ञ होनेपर जिन कहलाये थे, परन्तु उन्हें अल्पज्ञ अवस्थामें ही जिन कहना, यह भावि द्रव्य निक्षेप है तथा महावीर स्वामीको मोक्ष गए हुए आज २४४४ वर्ष बीत गये परन्तु दिवालीके दिन यह कहना कि आज ही महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं, भूत द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप वर्तमान गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं है किन्तु भूत और भावि नैगम नयका विषय है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

---

* यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि इसलोग प्रतिदिन जो पूजाके पहिले आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण करते हैं वह स्थापना स्थापनानिक्षेप नहीं है क्योंकि उसमें 'यह वही है' ऐसा संकल्प नहीं किया जाता वह तो पूजा का आदरसत्कारका एक अंग है जो कि पूजामें अवश्य कर्तव्य है यदि ये आह्वान आदि पूजाके समय न किये जायें तो पूजामें उतने ही अंग कम समझे जाते हैं।

अर्थ—वर्तमानमें जो पदार्थ जिस पर्याय सहित है उसी पर्यायरूप जो [illegible] निक्षेप है। जैसे समवसरणमें विराजमान, चार घातियाकर्मोंसे रहित, अनन्त [illegible] स्वरूप, [illegible], इस ज्ञानचतुष्टय (अनन्त चतुष्टय) से सहित [illegible] ऐसे अर्हन्त-जिनको जिन कहना। भावार्थ—भावनिक्षेप, वर्तमान [illegible] वर्तमानमें ही निरूपण करता है इसलिये यह ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नयका विषय है। यदि इनकी [illegible] पर्यायका निरूपण करता है तब तो वह एवंभूत नयका विषय है और यदि [illegible] पर्यायोंका वर्तमानमें निरूपण करता है तो वह ऋजुसूत्र [illegible] नयका विषय है। द्रव्यनिक्षेप और भाव निक्षेप दोनों ही [illegible] भेद है।

[illegible] ॥ २४५ ॥

[illegible]

क्रमसे नय प्रमाणको निक्षेपों पर घटाते हैं। पहले वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका विषय बतलावेंगे पीछे प्रमाणका विषय बतलावेंगे।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम्॥ ७४७॥

अर्थ—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् वचनके अगोचर है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। तथा तत्त्व (द्रव्य) गुण पर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है। भावार्थ—तत्त्वमें अभेदबुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय और उसमें भेदबुद्धिका होना पर्यायार्थिक नय है।

प्रमाणका विषय—

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत्।
गुणपर्ययवदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति॥ ७४८॥

अर्थ—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं है तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है, वही तत्त्व है, यही प्रमाणका विषय है। भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। वस्तुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकका विषय है। उसका विशेषांश पर्यायार्थिकका विषय है, तथा सामान्य विशेषात्मक—उभयात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। प्रमाण एक ही समयमें अविरुद्ध रीतिसे दोनों धर्मोंको विषय करता है।

भेद अभेद पक्ष—

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात्।
पर्यायोऽपि यथा स्यादृजुसूत्रनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात्॥ ७४९॥
यदिदं द्रव्यं स गुणो योऽपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात्।
तदुभयपक्षो दक्षो विपक्षविहीनः प्रमाणपक्षोऽयम्॥ ७५०॥

अर्थ—जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नहीं है। यह ऋजुसूत्र नय (पर्यायार्थिक) का पक्ष है अर्थात् भेद पक्ष ही पर्यायार्थिक नयका पक्ष है। तथा जो द्रव्य है वही [illegible] है जो गुण है वही द्रव्य है। [illegible] गुण द्रव्य दोनोंका एक ही अर्थ है। यह अभेदपक्ष द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है। तथा भेद और अभेद इन दोनों धर्मोंको [illegible] विरोधरहित प्रमाण पक्ष है।

[illegible]
[illegible] ॥ ७५१॥

अर्थ—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोंका स्वतन्त्र निरूपण करना व्यर्थ है, क्योंकि निक्षेपोंका उदाहरण नयोंके विवेचनमें नियमसे किया गया है।

एक अनेक पक्ष—

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थ—द्रव्य, अथवा गुण अथवा पर्याय, ये तीनों ही अनेक हैं। व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक संज्ञक कहलाता है, अर्थात् व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक अनेक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

अर्थ—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनों ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं। अर्थात् तीनों ही अभिन्न एक सत्रूप हैं। एकके कहनेसे बाकीके दोका विना कहे हुए ही ग्रहण हो जाता है। यही एक नयका पक्ष है अर्थात् एक पर्यायार्थिक नयका पक्ष है।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥७५४॥

अर्थ—न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्पद्वारा ही प्रकट है किन्तु निरंश देशात्मक (तत्व) है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥७५५॥

अर्थ—कारण वश जो सत् द्रव्यगुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है वही सत् अंश रहित होनेसे अभिन्न एक है। यह एक अनेकात्मक उभयरूप प्रमाणपक्ष है।

अस्ति नास्ति पक्ष—

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात्।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः ॥७५६॥

अर्थ—वस्तु सामान्यमात्रसे है, अथवा विशेषमात्रसे है। जब तक विपक्ष अविवक्षित (गौण) रहता है तबतक अनन्यरूपसे एक अस्ति नय ही प्रधान रहता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्याविवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः ॥७५७॥

अर्थ—वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषरूपसे नहीं है, अथवा विशेषकी अविवक्षामें सामान्यरूपसे नहीं है वहां पर नास्ति नय ही प्रधान रहता है।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः ।
नच नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥ ७५८॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तिरूप नहीं है, क्योंकि सर्व विकल्पोंसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥७५९॥

अर्थ—जो वस्तु स्वरूपाभावसे नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत (अवक्तव्य) है। यह सब प्रमाण पक्ष है, अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तिरूप और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

नित्य अनित्य पक्ष—

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहार विशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात्॥ ७६० ॥

अर्थ—सत्-पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह प्रसिद्ध व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय अर्थात् अनित्य व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारान्तर्भूतो नयः स नित्योऽप्यनन्यशरणः स्यात् ॥ ७६१॥

अर्थ—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, किन्तु अन्यथा भाव न होनेसे वह नित्य है। यह अनन्य शरण (स्वपक्ष नियत) नित्य व्यवहार नय है।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात्।७६२।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च।

अर्थ—जिसप्रकार वस्तु नष्ट नहीं होता है, उस प्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नहीं होता है, तथा ध्रुव भी नहीं है। यह केवल निश्चय नयका पक्ष है। भावार्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही एक समयमें होनेवाली सत्की पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु निश्चय नय सर्व विकल्पोंसे रहित वस्तुको विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम्
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ—जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विशेषोंसे नहीं है, वही वस्तु सामान्यकी
... सामान्य दोनोंसे प्रमाण पक्ष है। भावार्थ—विशेष नय पर्यायरूप है, इसमें

अनित्य होती हैं। इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है, सामान्यकी अपेक्षा वह नित्य भी है। प्रमाणकी अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है।

भाव अभाव पक्ष—

अभिनवभाव परिणतेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७६४॥

अर्थ—नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होता है, ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयोंमें अभाव नय है।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥७६५॥

अर्थ—वस्तुके परिणमन करनेपर भी तथा उसके पूर्व भावोंकेविनष्ट होनेपर भी वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसेका तैसा ही रहता है, वह पर्यायार्थिक भाव नय है।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥७६६॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है, तथा प्राचीन भाव भी नहीं रहता है, क्योंकि वस्तु न तो अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत्।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥७६७॥

अर्थ—जो सत् प्रतिक्षण नवीन २ भावोंमें परिणमन करता है वह न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यही प्रमाण पक्ष है।

इत्यादि यथासम्भवमुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम्
योज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥७६८॥

अर्थ—इत्यादि अनेक धर्मोंको धारण करनेवाला और भी नयसमूह जो यहां पर नहीं कहा गया है, उसे भी कहे हुए के तुल्य ही समझना चाहिये, तथा हर एक नयको आगमके अनुसार यथायोग्य (जहां जैसी अपेक्षा हो) घटाना चाहिये।



ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सुबोधिनी हिंदी भाषाटीका सहित

पञ्चाध्यायी।

उत्तरार्द्ध या दूसरा अध्याय-

सामान्य सद्गुण द्रव्य पर्यय व्ययोत्पाद ध्रौव्यकी,
व्यवहार निश्चय नय कथनकी अनेकान्त प्रमाणकी।
अतिविशदव्याख्या हो चुकी पूर्वार्द्धमें अब ध्यानसे,
सम्यक्त्वकी व्याख्या पढ़ो भव हरो सम्यग्ज्ञानसे॥

सिद्धं विशेषवद्वस्तु वस्तुसामान्यं स्वतो यथा।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्तुका सामान्य धर्म स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका विशेष धर्म भी स्वतः सिद्ध है। जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसीमें विशेष धर्म भी पाया जाता है यह बात असिद्ध नहीं है। जिस प्रकार किसी वस्तुकी "धातु" संज्ञा स्वतः सिद्ध है यह तो सामान्य है, चांदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है इसलिये धातु शब्द तो सामान्य है परन्तु कोई धातु पीली है और कोई सफेद है। यह पीले और सफेदका जो कथन है वह विशेषकी अपेक्षासे है।

भावार्थ—संसारमें जितने पदार्थ हैं सभीमें सामान्य धर्म भी पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है। वस्तुको केवल सामान्य धर्मवाली मानना अथवा केवल विशेष धर्मवाली मानना यह मिथ्या है। यदि सामान्य तथा विशेष दोनों धर्मोंसे युक्त वस्तुका स्वरूप माना जाय, परन्तु निरपेक्ष माना जाय, तो वह भी मिथ्या ही है। इसलिये वास्तवमें एक दूसरेकी अपेक्षा लिये हुए सामान्य विशेषात्मक उभयात्मक ही वस्तु है। इसी बातको प्रमाणका विषय बतलाते हुए स्वामी माणिक्यनन्दि आचार्यने भी कहा है कि "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इसका आशय यह है कि द्रव्य पर्याय स्वरूप उभयात्मक (सामान्य विशेषात्मक) ही वस्तु प्रमाणका विषय है केवल द्रव्य रूप या केवल पर्याय रूप पदार्थ नयका विषय है और वह नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको विषय करता है, इसलिये वस्तुका पूर्ण रूप द्रव्य पर्यायात्मक है। इसी कारण इस दृष्टिसे वस्तु स्वतः सिद्ध है उसका कोई कर्ता नहीं है

परन्तु पर्याय दृष्टिसे वस्तुका नाश हो जाता है क्योंकि पर्यायें सदा एकसी नहीं रहतीं उ
त्तर बदलती रहती हैं। द्रव्यपर्यायकी अपेक्षासे ही वस्तु कथंचित् नित्य और कथं
अनित्य है।

सामान्य विशेषमें अंतर—

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य बहुत वस्तुओंमें रहता है। क्योंकि अनेक वस्तुओंमें रहनेवाले स
धर्मको ही सामान्य कहते हैं। विशेष बहुत वस्तुओंमें नहीं रहता, किंतु [illegible]
जुदा जुदा रहता है। जो बहुत देशमें रहे उसे व्यापक कहते हैं और जो थोड़े देशमें रहे
व्याप्य कहते हैं। सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है।

भावार्थ—सामान्य दो प्रकारका है। एक तिर्यक् सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वता सामा
वस्तुओंके समान परिणाम (आकार) को ही तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार [illegible]
[illegible], [illegible], [illegible], चितकबरी, मण्डी, मुण्डी आदि सभी तरहकी गौओंमें सबका ए
ही सदृश परिणमन है इसलिये सभीको गौ कहते हैं। [illegible] देखा जाय तो [illegible]
परिणमन [illegible] ही है। पीलीका पीलीमें ही है। इसीतरह सभी गौओंका परिणमन जु
दा है। परन्तु जुदा जुदा होकर भी समान है इसलिये उस समानताके कारण सभीको
एकसी कहते हैं। इसीका नाम तिर्यक् सामान्य है। समान परिणामको छोड़कर गौ न
और कोई वस्तु नहीं है।

पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जिस प्र
[illegible] हो जाते हैं। [illegible]
[illegible] हो जाती है। [illegible]
[illegible]

[illegible]

घटसे भिन्न पदार्थ भी घट कहलाने लगेंगे इसी प्रकार उसके नित्य माननेसे उसका कभी नाश नहीं होना चाहिये। इसी तरह और भी अनेक दोष आते हैं इसलिये वस्तुके सदृश परिणमनको छोड़कर उससे भिन्न सामान्य नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है।

बिना व्यक्तिके सामान्यसे कोई प्रयोजन भी तो नहीं निकलता है। गौसे ही दूध दुहा जाता है। गोत्वसे दूध कोई नहीं दुह सकता है। इसी बातको स्वामी विद्यानंदिने अष्टसहस्रीमें लिखा है कि " न खलु सर्वात्मना सामान्य वाच्यं तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात् नहि गोत्वं वाहदोहादौ उपयुज्यते " इसलिये स्वतन्त्र गोत्व जाति कोई चीज नहीं है, केवल समान धर्मको ही सामान्य समझना चाहिये।

इसी प्रकार विशेष भी दो प्रकार है एक पर्याय दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यमें क्रमसे होने वाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार आत्मामें कभी हर्ष होता है कभी विषाद होता है कभी दुःख होता है, कभी सुख होता है।

एक पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थमें जो विलक्षण परिणाम है उसे व्यतिरेक कहते हैं। जिस प्रकार गौसे भिन्न परिणाम भैंसका होता है। पुस्तकसे भिन्न परिणाम चौकीका है, इसी लिये गौसे भैंस जुदी है तथा पुस्तकसे चौकी जुदी है

जिस प्रकार * सामान्य स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार विशेष भी वस्तुके परिणमन विशेषको छोड़ कर और कोई वस्तु नहीं है। जो लोग सर्वथा विशेषको द्रव्यसे भिन्न ही मानते हैं वे भी युक्ति और अनुभवसे शून्य हैं।

विशेष द्रव्योंका स्वरूप—

जीवाजीवविशेषोऽस्ति द्रव्याणां शब्दतोऽर्थतः ।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोऽप्यचेतनः ॥ ३ ॥

अर्थ—द्रव्यके मूलमें दो भेद हैं जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। ये दोनों भेद शब्दकी अपेक्षासे भी हैं और अर्थकी अपेक्षासे भी हैं। जीव और अजीव ये दो वाचक रूप शब्द हैं। इनके वाच्य भी दो प्रकार हैं एक जीव और दूसरा अजीव। इस प्रकार शब्दकी अपेक्षासे दो भेद हैं। अर्थकी अपेक्षासे भी दो भेद हैं। जिसमें ज्ञान दर्शनादिक गुण पाये जाय, वह जीव द्रव्य है और जिसमें ज्ञान दर्शन आदिक गुण न पाये जाय वह अजीव द्रव्य है।

भावार्थ—" [illegible] " जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके वाच्य रूप अर्थ भी होते हैं। जीव, अजीव ये दो शब्द हैं इसलिये [illegible]

* सामान्य और विशेषका विशेष वर्णन " अष्टसहस्री " [illegible] किया है।

अजीव रूप द्रव्य इनके अर्थ हैं । सामान्य रीतिसे दो ही द्रव्य हैं एक जीव और दूसरा अजीव, परन्तु विशेष रीतिसे अजीवके ही पांच भेद हैं–पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इस प्रकार कुल छह द्रव्य हैं । इनमें जीव द्रव्य तो ज्ञानदर्शन वाला है बाकीके द्रव्य ज्ञान दर्शन रहित (जड) हैं । इसीलिये जीवको छोड़कर सब अजीवमें ग्रहण कर लिये जाते हैं ।

जीव अजीवकी सिद्धि—

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव और अजीव अथवा चेतन और अचेतन ये दो पदार्थ हैं यह बात असिद्ध नहीं है प्रसिद्ध दृष्टान्तसे जीव और अजीव दोनोंकी सिद्धि हो जाती है । यदि जीव और अजीव दोनोंको जुदे जुदे न मानकर एक रूप ही मान लिया जाय तो जीते हुए शरीर में और घट पट आदिक जड पदार्थोंमें प्रगट अन्तर दीखता है वह नहीं दीखना चाहिये इस दृष्टान्त देनेसे ही जीव और अजीवकी भिन्न भिन्न सिद्धि हो जाती है ।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अनन्त गुणात्मक अमूर्त पदार्थ है । इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । तथापि अनादिकालसे मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध होनेसे संसारी आत्मा शरीरमें [illegible] प्रमाण और [illegible] माना जाता है । प्रत्येक संसारी आत्मा जैसा शरीर पाता है उसी प्रमाण [illegible] है । जिस शरीरमें आत्मा है वही शरीर जीवित शरीर कहलाता है । [illegible] जो जो क्रियायें होती हैं वे ही क्रियायें आत्माकी सिद्धिमें प्रमाण हैं । किसी [illegible] ठीक ठीक [illegible] मिलेंगी तथा [illegible] काम करेंगी, [illegible] इसी प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर विशिष्ट आत्मा मुर्दा [illegible] है [illegible] जड पदार्थ [illegible] है ।

[illegible] सिद्धिमें अनुमान—

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोऽस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ५ ॥

अर्थ—[illegible]

भावार्थ—[illegible]

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः।
साध्यो जीवस्त्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अर्थ—"जीवः अस्ति स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्" पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार इस अनुमानसे जीवकी सिद्धि होती है। ऊपरके अनुमान वाक्यमें स्वसंवेदन हेतु प्रत्यक्षरूप है। जीवका अस्तित्व (सत्ता) साध्य है। जिसमें पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नहीं है वह जीवसे भिन्न अजीव पदार्थ है।

मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यका विवेचन-

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अर्थ—छहों द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं द्रव्योंमें यह मूर्त और अमूर्तका भेद स्वभावसे ही है किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है। जो इन्द्रियोंसे जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके गोचर न हो उसे अमूर्त कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त व्यवस्था स्वाभाविक है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाया जावे उसे ही मूर्त कहते हैं। इसी लिये दूसरी रीतिसे मूर्तका लक्षण यह बतलाया है कि जो इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सके वही मूर्त है मूर्तद्रव्यके उपर्युक्त दोनों लक्षण अविरुद्ध हैं। वास्तवमें वही इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है जिसमें कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जाता है। क्योंकि इन्द्रियोंके ही विषय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पड़ते हैं। चक्षुका रूप विषय है, रसनाका रस विषय है, नाकका गन्ध विषय है, स्पर्शनेन्द्रियका स्पर्श विषय है। कर्णेन्द्रियका विषय शब्द भी रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है। इसलिये विषय विषयीकी अपेक्षासे ही मूर्तका लक्षण इन्द्रिय विषय कहा गया है। जो इन्द्रियगोचर है वह तो मूर्त अवश्य है परन्तु जो इंद्रियगोचर नहीं है वह भी मूर्त है जैसे कि पुद्गलका एक परमाणु। इंद्रियगोचर होनेमें स्थूलता कारण है परमाणु सूक्ष्म है इसलिये वह इंद्रियगोचर नहीं है। परंतु वही परमाणु स्थूल स्कंधमें मिल जानेसे स्थूल रूपमें परिणत होकर इंद्रियगोचर होने लगता है। हां स्पर्शनादि प्रत्यक्ष परमाणु अवस्थामें भी हो सकता है। इसलिये इंद्रियगोचरता मूर्तमात्रमें व्यापक है जो इंद्रियगोचर नहीं है वह अमूर्त है।

मूर्तकी तरह अमूर्त भी यथार्थ है-

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम्।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥ ८ ॥

अर्थ—मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे सब पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आ जायगा।

भावार्थ—कितने ही पुरुष प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थोंको ही मानते हैं ... ोंको

नहीं मानते । परंतु परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किये विना पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती परोक्ष पदार्थोंकी सत्ता अनुमान और आगमसे मानी जाती है । अविनाभावी हेतुसे अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुभवन, अखंडयुक्ति तथा अबाधकपनेसे आगम प्रमाण माना जाता है ।

मूर्तका लक्षण—

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः ।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥ ९ ॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, वर्णका नाम ही मूर्ति है । जिसमें मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है ।

भावार्थ—पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध वर्णरूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है । बाकी द्रव्योंमें उपर्युक्त मूर्ति नहीं पाई जाती इसलिये वे अमूर्त हैं ।

मूर्तका ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है—

नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ॥ १० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंका *रूपादिकके साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थोंके साथ नहीं होता यह बात असंभव नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभवसे सिद्ध है ।

अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ?

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥ ११ ॥

अर्थ—यहां पर शङ्काकार कहता है कि अमूर्त पदार्थ भी हैं इसमें क्या प्रमाण है, क्योंकि जितने पदार्थ हैं उन सबका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होता है । अमूर्त पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है इसलिये उनका मानना ऐसा ही है जिस प्रकार कि आकाशके पुष्पोंका मानना ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशके पुष्प वास्तवमें कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं होता । इसी प्रकार सब अमूर्त पदार्थ भी कोई वास्तविक पदार्थ नहीं हैं, यदि अमूर्त पदार्थ वास्तवमें होता तो घट पट आदि पदार्थोंकी तरह उसका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता ।

* मूर्तिमान् पदार्थ ।

यहाँपर शङ्काकारका आशय यही है कि जिन पदार्थोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है वे ही तो वास्तवमें हैं उनसे अलग कोई पदार्थ नहीं है ।

शङ्काकारका उत्तर—

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किन्त्वसिद्धं रसादिमत् ॥ ११ ॥

अर्थ—अमूर्त पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा शङ्काकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सुख दुःखादिकका स्वसंवेदन होनेसे आत्मा भले प्रकार सिद्ध है सुख दुःखादिकका प्रत्यक्ष करनेवाला आत्मा असिद्ध नहीं है परन्तु उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मानना असिद्ध है ।

वास्तवमें इन्द्रियज्ञान मलिन ज्ञान है और इसीलिये यथार्थ दृष्टिसे वह परोक्ष है । उसका विषय भी बहुत थोडा और मोटा है । सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही होता है । इसलिये जिनका इन्द्रिय ज्ञान होता है वे ही पदार्थ ठीक हैं बाकी कुछ नहीं, ऐसा मानना किसी तरह युक्ति सङ्गत नहीं है । *

आत्मा रसादिकसे भिन्न है—

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

अर्थ—ऊपरके श्लोकमें रसादिक आत्मासे भिन्न ही बतलाये हैं । उसी बातको यहाँपर खुलासा करते हैं । आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होनेसे ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस पुद्गलका गुण है वह जीवमें किस तरह आसकता है । यदि रस भी आत्मामें पाया जाता तो जिस प्रकार ज्ञान, सुख, दुःखका अनुभव होनेसे ज्ञानी सुखी दुःखी आत्मा बन जाता है उसी प्रकार रसमयी भी होजाता परन्तु ऐसा नहीं है ।

सुखदुःखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है—

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदिक जो भाव हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप हैं । क्योंकि चेतन भावों में ही सुख दुःखका अनुभव होता है ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं हो सकता ।

* जो लोग इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही मानते हैं उनके परलोक तथा सर्वज्ञादिककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है उनका दिक्की सिद्धताके अन्यत्र सम्बन्ध भी नहीं बनता ।

सुखादिक अजीवमें नहीं हैं—

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वतन्त्रतासे व्याप्त रहें। किन्तु ये भाव जीवके ही हैं। वर्णादिकमें इन भावोंका होना असंभव है।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो प्रकारके गुण होते हैं सामान्य और विशेष। सामान्य गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणोंमें यह बात नहीं है। वे जिस द्रव्यके होते हैं उसीमें असाधारण रीतिसे रहते हैं दूसरेमें कदापि नहीं पाये जाते। सुख दुःखादिक जीव द्रव्यके ही असाधारण वैभाविक तथा स्वाभाविक भाव हैं। इसलिये वे जीव द्रव्यको छोड़कर अन्य पुद्गल आदिक में नहीं पाये जा सकते।

सारांश—

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत्।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न माननेसे स्वानुभव सिद्ध सुखदुःख आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

शङ्काकार—

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत्।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है। जैसे रसका ज्ञान होता है वह रस स्वरूप ही है क्योंकि वह ज्ञान रसवाला है इसी तरह सुखादिकमें मूर्तता सिद्ध हो जाने पर विना कारण उनमें अमूर्तता किस तरह आ सकती है! अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है ऐसा न्यायका सिद्धांत है।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय है कि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान उसी रूप हो जाता है। जिस समय ज्ञान रूप, रस, गन्ध स्पर्शको जान रहा है उस समय ज्ञान भी रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है।

उत्तर—

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम्।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का उठाई गई है वह ठीक नहीं है । क्योंकि जो रसादि पदार्थोंका ज्ञान होता है वह स्वयं रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह अमूर्त ही है । यदि उस ज्ञानको मूर्त कहा जाता है तो उस समय केवल उपचारमात्र ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—यदि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह स्वयं उसी रूप होजाय तो देव या मनुष्य जिस समय नारकियोंके स्वरूपका ज्ञान करते हैं तो क्या उस समय वे नारक स्वरूप हो जाते हैं ? इसलिये ज्ञान परपदार्थको जानता है परन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं नहीं होजाता । जो क्षयोपशम ज्ञान है वह भी वास्तव दृष्टिसे अमूर्त ही है । क्योंकि आत्मा-का गुण है । ज्ञान मूर्त पदार्थोंको विषय करता है इसलिये उसे मूर्त मानना यह केवल मूर्त-का उपचार है । ज्ञानमें कोई मूर्तता नहीं आती है ।

ज्ञानको मूर्त माननेमें दोष—

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमग्रतः ।
स्वसंवेद्याद्य भावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ २० ॥

अर्थ—ज्ञान उपचार मात्रसे तो मूर्त है परन्तु वास्तवमें मूर्त नहीं है । वह वर्णादिकको विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है । यदि वास्तवमें ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गलकी तरह ज्ञानमें जडपना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्थामें स्वसंवेदन आदिकका अभाव ही हो जायगा ।

भावार्थ—जहांपर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु कुछ प्रयोजन या निमित्त हो वहांपर उस मुख्यका उपचार किया जाता है । जिसप्रकार लोग बिल्लीको सिंह कह देते हैं । बिल्ली यद्यपि सिंह नहीं है तथापि क्रूरता, आकृति आदि निमित्तवश बिल्लीमें सिंहका उपचार कर लिया जाता है । उसी प्रकार वर्णादिके आकार ज्ञान हो जाता है इसी लिये उस ज्ञानको उपचारसे मूर्त कह देते हैं, वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं है अन्यथा वह जड़ हो जायगा ।

निश्चित सिद्धान्त—

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान् ।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—इसलिये वर्णादिकसे रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त हैं ऐसा उपर्युक्त प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभवसे स्वीकार करना चाहिये । आगम भी इसी बातको बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गलके गुण हैं और बाकी जीवादिक पांच द्रव्य अमूर्त हैं ।

लोक और अलोकका भेद—

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्योंके लक्षणकी अपेक्षासे ही लोक और अलोकका विभाग होता है। जहां पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं। और जहां छह द्रव्य नहीं पाये जाँय उसे अलोक कहते हैं।

भावार्थ—लोक शब्दका यही अर्थ है कि "लोक्यन्ते षड्पदार्था यत्र असौ लोकः" अर्थात् जहांपर छह पदार्थ पाये जाँय या देखे जाँय उसे लोक कहते हैं। जहांपर छह पदार्थ नहीं किन्तु केवल आकाश ही पाया जाय उसे अलोक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्योंका आश्रय आकाश द्रव्य है। जिस आकाशमें अन्य पांच द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और जहां केवल आकाश ही है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। एक आकाशके ही उपाधिभेदसे (निमित्त भेदसे) दो भेद हो गये हैं।

अलोकका स्वरूप—

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अलोक है वह भी छह द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है। अलोकमें भी छह द्रव्योंमेंसे एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है।

भावार्थ—अलोक भी द्रव्य शून्य नहीं है किन्तु आकाश द्रव्यात्मक है।

पदार्थोंमें विशेषता—

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ २४ ॥

अर्थ—उन छहों द्रव्योंमें दो भेद हैं। कोई द्रव्य तो भावात्मक ही हैं और कोई भावात्मक भी हैं तथा क्रियात्मक भी हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ सदा एकसे रहते हैं जिनमें हलन चलन क्रिया नहीं होती वे पदार्थ तो भावरूप हैं, और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते हैं और कभी क्रिया भी करते हैं वे भावस्वरूप भी हैं और क्रिया स्वरूप भी हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति है उनमें क्रिया होती है, जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है उनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती है। वे केवल भाववती शक्तिवाले कहलाते हैं।

कोई महाशय जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है केवल भाववती शक्ति है उन्हें अपरिणामी न समझ लेवें। परिणमन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता है परन्तु परिणमन दो तरहका होता है, जिसमें वस्तुके प्रदेशोंका एक देशसे दूसरा देश हो अर्थात् स्थानसे स्थानान्तर हो उसे तो क्रियारूप परिणमन कहते हैं और जिसमें प्रदेशोंका तो हलन चलन न हो परन्तु उन्हीं अवस्थामें दूसरी अवस्था हो जाय उसे भाव परिणाम कहते हैं, [illegible] लिये

हमारी कलमको ले लीजिये, कलमका टूट जाना तो उसका क्रियारूप परिणमन है और बिना किसी हरकतके रक्खी हुई नवीन कलमका पुराना हो जाना परिणाम है। निष्क्रिय-भावोंमें इसी प्रकारका परिणमन होता है।

भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थोंके नाम—

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं। तथा जीव, पुद्गल और शेष चारों द्रव्य भाव सहित हैं।

भावार्थ—जीव और पुद्गलमें तो क्रिया और भाव दोनों शक्तियां हैं परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्ति वाले ही हैं। इन चारोंमें क्रिया नहीं होती, ये चारों ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भावका लक्षण—

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

अर्थ—प्रदेशोंके हिलने चलनेको क्रिया कहते हैं और भाव परिणामको कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही (बराबर) से होता रहता है।

भावार्थ—प्रदेशोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना आना तो क्रिया कहलाती है और वस्तुमें जो निष्क्रिय भाव हैं उन्हें भाव कहते हैं। इसका खुलासा चोबीसवें श्लोकमें कर चुके हैं।

परिणमन सदा होता है—

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। उसी परिणमनमें कभी २ किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके प्रदेश भी हलन चलन करते हैं।

भावार्थ—सभी पदार्थ निरन्तर एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था तो बदलते ही रहते हैं परन्तु कभी जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रिया भी होती है।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशना स्यपने मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि अब हम चेतन द्रव्यके विषयमें ही व्याख्यान करेंगे।

रूप है इसका कभी भी नाश नहीं होता है केवल अवस्था भेद होता रहता है ।

फिर भी जीवका ही निरूपण—

साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोऽप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है । विश्व (जगत्) रूप है परन्तु विश्वमें ठहरा नहीं है । सबसे उपेक्षा रखनेवाला है, तो भी सबका जाननेवाला है ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने साहित्यकी छटा दिखाते हुए जीवका स्वरूप कहा है । विरोधालङ्कारमें एक बातको पहले दिखलाते हैं फिर उससे विपरीत ही कह देते हैं परन्तु वास्तवमें वह विपरीत नहीं होता । केवल विपरीत सरीखा दिखता है । जैसे यहांपर ही जीवका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि वह साधारण धर्मवाला है तो भी असाधारण धर्मवाला है, जो साधारण धर्मवाला होगा वह असाधारण धर्मवाला कैसे हो सक्ता है ऐसा विरोध सा दिखता है परन्तु वह विरोध नहीं है केवल अलंकारकी झलक है । यहां पर साहित्यकी न मुख्यता है और न आवश्यकता है इसलिये उसे छोड़कर श्लोकका आशय लिखा जाता है ।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं अथवा यों कहना चाहिये कि वह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है । उन गुणोंमें कुछ साधारण गुण होते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं । जो समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जांय उन्हें साधारण गुण कहते हैं । इन्हींका दूसरा नाम सामान्य गुण भी है । और जो खास २ वस्तुमें ही पाये जांय उन्हें विशेष गुण कहते हैं । जीव द्रव्यमें सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी हैं । अस्तित्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदिक सामान्य गुण हैं । ये गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं, और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदिक जीवके विशेष गुण हैं, ये जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसलिये जीवमें साधारण गुण और विशेष गुण दोनों हैं । लोक असंख्यात प्रदेशी है और जीव भी लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशी है इसलिये यह जीव विश्वरूप है । अर्थात् लोक स्वरूप है तथापि लोकभरमें ठहरा हुआ नहीं है किन्तु लोकके असंख्यातवें भाग स्थानमें है । अथवा ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है परन्तु विश्वसे जुदा है । यह जीव सर्व पदार्थोंसे उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थसे इसका सम्बन्ध नहीं है तथापि यह जीव सब पदार्थोंको जाननेवाला है ।

फिर भी जीवका स्वरूप—

असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिये दोनोंका सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

भावार्थ—जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेषसे हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं आगे दिखलाते हैं।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोषएव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आरहा है। वह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनकपाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गलका सम्बन्ध अनादिसे न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसीको कनकपाषाण कहते हैं। कनकपाषाण खानिसे मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोनेका और पत्थरका हमेशासे सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्मका भी हमेशासे सम्बन्धहै। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। *

अन्योन्याश्रय दोष—

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यदि जीव पहले कर्मरहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकती है!

भावार्थ—आत्माका कर्मके साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्थामें होता है। यदि कर्मबन्धसे पहले आत्माको शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सका! क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इसलिये बन्ध होनेमें तो अशुद्धताकी आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धतामें बन्धकी आवश्यकता पड़ती है। बिना पूर्वबन्धके शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आ नहीं सकती। यदि बिना बन्धके शुद्ध आत्मामें भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकीं हैं अर्थात् सिद्ध हैं वे भी फिर अशुद्ध हो जांयगीं और अशुद्ध होनेपर बन्ध भी करती रहेंगीं। फिर तो संसारी और मुक्त जीवमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिये बन्धरूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारणकी आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्यके लिये पूर्वबन्ध रूप कारणकी आवश्यकता है। बिना पूर्व कर्मके बंधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नहीं आसकती

* दो पदार्थोंमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रहनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस दोषकी सत्तामें एक पदार्थकी भी सिद्धि नहीं हो पाती।

वर्गणाओंको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा *खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जलको खींचकर अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही, वर्गणायें आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) में बंध जाती हैं। बंध समयसे उन्हीं वर्गणाओंकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तरमें उन्हीं बंधे हुए कर्मोंके निमित्तसे चारित्रके विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्म बँधते हैं। उन कर्मोंके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्परमें कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंमें पुष्ट करते हैं—

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥ ४२ ॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः ।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना ॥ ४३ ॥

अर्थ—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष-भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्मोंका संचय होता है, उन आये हुए कर्मोंके पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्बन्धका नाम संसार है, अर्थात् जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह संसार विना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नहीं छूट सक्ता है।×

---

* कर्मके खींचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोंके स्थिति अनुभाग बन्धमें कषाय कारण है।

×इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्व कर्म आत्माके स्वाभाविक भावोंको ढके रहता है अथवा यो कहना चाहिये कि वह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणमा देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परंतु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किंतु अपने स्वभावमें ही बने रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बंद हो जाता है और संचय किये हुए कर्म भी धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे ही संसार छूटता है।

भावार्थ—"संसरणं संसारः" परिभ्रमणका नाम संसार है। चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको संसार कहते हैं। इस परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं। उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने संसार कहा है। यह संसार तभी छूट सक्ता है जब कि संसारके कारणोंको हटाया जाय। संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच हैं। इन पांचोंके प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामें प्रगट हो जाते हैं तो फिर इस जीवका संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः ।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकारका होता है। एक तो दो वस्तुओंके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटोंको परस्पर मिलानेसे होता है। सूखी ईंटोंका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटोंका ही वह सम्बन्ध जो कि चूनेके लगानेसे वे सब ईंटें एकरूपमें हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक देशमें घनिष्ट सम्बन्धमें घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंके एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्धमें कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव-इन दोनोंमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमें परस्पर कार्य कारण भाव है।

बन्धका मूल कारण—

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें सुईको खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोंमें परस्पर बन्धका कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार लोहेमें खिंचि जानेकी शक्ति है। यदि दोनोंमें खींचने और खिंचि जानेकी शक्ति न मानी जाय तो

चुम्बक पत्थरके सिवा पीतल चांदी आदिसे लकड़ी पत्थर भी खिंचने चाहिये। इ
मानना पड़ता है कि दोनोंमें क्रमसे खींचने और खिचनेकी शक्ति है । उसी प्रकार
कर्मके बांधनेकी शक्ति है और कर्ममें जीवके साथ बंधनेकी शक्ति है। जब जीव और
दोनोंमें क्रमसे बांधने और बंधनेकी शक्ति है तब दोनोंका आत्मक्षेत्रमें बंध हो जाता
आत्मामें ही बांधनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामें ही कर्म आकर बंध जाते हैं। जीव
पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थामें क्यों आते हैं?
अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते । इसका यही कारण है कि वैभाविक
गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योंमें ही पाया जाता है इसलिये इन दोमें ही
होता है, शेष द्रव्योंमें नहीं होता।

बन्ध तीन प्रकारका होता है—

अर्थतास्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ॥
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका है । भावबंध द्रव्यबंध और उभयबंध ।
भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयब
वह जीव आदि पुद्गल दोनोंके मेलसे होता है ।

भावार्थ—बन्धका लक्षण है कि " अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धो
बन्धः " अर्थात् अनेक पदार्थोंमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम बन्ध
यहांपर बंध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल
इन दोनोंके सम्बन्ध होनेसे होता है । बाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज
है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है। भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक (अशुद्ध) भ
और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है। इन दोनों प्र
अलग अलग बन्धोंमें भी एकत्व बुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाता ही है। व
रागात्मा जो भावबंध है वह भी वास्तवमें जीव और पुद्गलका ही विकार है यह राग
जीव और पुद्गल दोनोंके योगसे हुई है । आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी क
जाती है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है। रागपर्याय दो
है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीव
हो जाता है किन्तु दोनोंके अंशोंके मेलसे रागपर्याय होती है । जो द्रव्य बन्ध है वह
अनेक परमाणुओंका समुदाय है तथा उभय बन्धमें तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है ।

ऊपर कहे तीनों प्रकारके बन्धोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगेके श्लोकोंसे प्रगट करते

भावबन्ध और द्रव्य बन्धका स्वरूप—

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावबन्ध कहलाता है । उसीको जीवबन्ध भी कहते हैं । 'द्रव्यबन्ध' इस पदमें पड़ा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्गल पिण्ड है । उस पुद्गल पिण्डमें जो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति है वही बन्ध शब्दका अर्थ है ।

भावार्थ—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भावबन्ध है । और संसारमें भरी हुई वे पुद्गल वर्गणायें जो कि आत्माके साथ बँध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य बन्ध कहलाती हैं । सभी पुद्गलोंमें आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति नहीं है । पुद्गलके तेईस भेद बतलाये गये हैं । उनमें पांच वर्गणायें ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्बन्ध है बाकी पुद्गलसे नहीं । वे वर्गणायें आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माण वर्गणा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं । ये ही पांचों आत्माके साथ बँध होनेकी शक्ति रखती हैं । रागद्वेष क्या वस्तु है इस विषयको स्वयं ग्रन्थकार आगे लिखेंगे ।

उभय बन्ध—

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

अर्थ—भावबन्धके निमित्तसे पुद्गल-कर्म और जीवके प्रदेशोंका जो परस्पर बन्ध्य-बन्धक भाव अर्थात् एक रूपसे मिल जाना है वही उभय बन्ध कहलाता है ।

भावार्थ—जो बांधनेवाला है वह बन्धक कहलाता है । और जो बंधनेवाला है वह बन्ध्य कहलाता है । जब बांधनेवाला आत्मा और बंधनेवाला कर्म, दोनों मिल जाते हैं तभी बन्ध्य बन्धक भाव कहलाता है । इसीका नाम उभय बन्ध है । आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनों एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपमें मिल जाते हैं उसीको उभय बन्ध कहते हैं । यह बन्ध भी राग द्वेष रूप भाव बन्धके निमित्तसे ही होता है ।

जीव और कर्मकी सत्ता—

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीव और कर्मकी सत्ता भी असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है । जीव भी स्वतः सिद्ध है और कर्म भी स्वतः सिद्ध है । अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें अनेक युक्तियां हैं जो कि अपने अनुभवमें आती हैं, अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें प्रत्यक्ष प्रमाण भी है ।

हैं इसी लिये उन दोनोंका मिलकर द्व्यणुक कहलाता है। परन्तु मूर्तिवाले कर्मसे अमूर्त-आत्माका बन्ध कभी नहीं हो सक्ता ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥ ५३ ॥

अर्थ—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नहीं हो सक्ता है ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि जीव–कर्मका बंध अनादिसे स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यों न हो, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती। जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध जीवात्मासे संयुक्त हो जाता है तथा जीवकी अशुद्धता अनादि कालसे है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमें आक्षेप करना व्यर्थ है। यदि कोई इस बातकी (जीव–कर्मका बंध कैसे हुआ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादि-कालीन बंधरूप स्वभावकी परीक्षा भी हो सकती है।

स्वभावका उदाहरण -

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका उष्ण लक्षण है। वह किसीने पहलेसे लाकर नहीं रक्खा है। इस प्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है। यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यों गर्म है ? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। "ऐसा स्वभाव क्यों है" यदि ऐसी तर्कणा उठाई जाय तो यही कहना पड़ेगा कि नहीं मानो हो तो छूकर देखलो, स्पर्श करनेसे हाथ जलने लगता है इस लिये अग्नि गर्म है। यह निर्णीत अग्निका स्वभाव ही है।

दार्ष्टान्त -

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमें स्वयं सिद्ध उष्णता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मका भी अनादिसे स्वयं सिद्ध बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अग्निकी उष्णतामें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती है उसी प्रकार जीव और कर्मके बन्धमें भी किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती है। फिर यह बन्ध कहांसे हुआ ? किसने किया ? कहां किया ? आदि

प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है। जिस प्रकार आकाशके पुष्प नहीं ठहरते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं ठहरता।

चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है? है तो किस प्रकार है? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो।

भावार्थ—जिस समय आत्मामें स्वानुभव होने लगेगा, उस समय इन बातोंका स्वयं परिज्ञान हो जायगा।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाता है—

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों ही ज्ञान अमूर्त हैं, परन्तु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोंका परिणमन बदल जाता है।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं। आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई आदमी मदिरा भंग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है। यह बेहोशी उसी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है। इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बंध हो जाता है? इस प्रश्नका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है।

उसीका स्पष्टार्थ—

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मंद हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्योंकि मदिरा आदिके बिना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नहीं होते।

भावार्थ—बिना मदिराके ज्ञान निर्मल रहता है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाता इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पूरा असर पड़ता है।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है—

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत्।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथंचित् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनों ज्ञानोंमें मू

ना उपचारसे है, वास्तवमें नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और अमूर्त ज्ञान मूर्त कभी नहीं हो सकता है क्योंकि वस्तुकी सीमाका उल्लङ्घन कभी नहीं हो सकता है। जो मूर्त है वह सदा मूर्त ही रहता है और जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहता है। इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान आत्माके गुण हैं वे वास्तवमें अमूर्त ही हैं केवल उपचारसे मूर्त कहलाते हैं।

ज्ञान मूर्त भी है—

नासिद्धोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च ।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥ ६० ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञानको वास्तवमें अमूर्त कहा गया है और उपचारसे मूर्त कहा गया है, उस उपचारको कुछ न समझ कर या असिद्ध समझ कर जो कोई उक्त ज्ञानोंको सर्वथा अमूर्त ही समझते हों उनके लिये कहा जाता है कि जिस उपचारसे उक्त ज्ञानोंको मूर्त कहा गया है वह उपचार भी असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। दूसरी तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि वास्तवमें भी उक्त ज्ञान मूर्त है। यहां पर कोई शंका करे कि वास्तवमें अमूर्त पदार्थ मूर्त कैसे हो गया? इसके लिये आचार्य उत्तर देते हैं कि वस्तुओंकी शक्तियां विचित्र हैं किसी शक्तिका वैसा ही परिणमन होता है और किसीका वैसा ही। आत्माका ज्ञान गुण अमूर्त है वह मूर्त कैसे हो गया और वस्तुशक्तिका ऐसा विपरिणमन क्यों हुआ? इसमें किसीका दोष नहीं है, स्वयं आत्माने अपना अपराध किया है जिससे उसे मूर्त बनना पड़ा है।

भावार्थ—" मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते " जहां पर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु किसी प्रकारका प्रयोजन उसमें सिद्ध होता हो अथवा वह किसी कार्यमें निमित्त पड़ता हो तो ऐसे स्थल पर उपचारसे उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। जैसे किसी बालकमें तैजस्व गुण देख कर उसे अग्नि कह देते हैं वास्तवमें वह अग्नि नहीं है क्योंकि उसमें उष्णता आदि गुण नहीं हैं तथापि तैजस्व गुणके प्रयोजनसे उसे अग्नि कहते हैं इसलिये यह अग्निका उपचार बालकमें सर्वथा व्यर्थ नहीं है किन्तु किसी प्रयोजन वश किया गया है। इसी प्रकार यहां पर निमित्त वश उपचार होता है। ज्ञानको जो मूर्त उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्तसे है। इसी—कर्मका आत्माके साथ अनादि कालसे अति घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे आत्माका विकार ही ऐसा होने लगा है, इसलिये कहा जाता है कि आत्मा मूर्त है। मूर्तताके लिये हेतु यह भी है कि आत्माने अपना निज स्वरूप खो दिया है।

जीवका परिणमन—

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ६१ ॥

अर्थ—अनादि सिद्ध सत्ता रखनेवाले इस जीवात्माके दो प्रकारकी क्रिया होती है। एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया। यह दोनों प्रकारकी क्रिया शक्तियोंके परिणमनशील होनेसे होती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण शक्तियां परिणमनशील हैं, एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करती रहती हैं। परिणमनके कारण ही जीवात्मामें स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन—दोनों प्रकारका परिणमन होता है।

वैभाविकी शक्ति आत्माका गुण है—

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि कोई वैभाविक शक्तिको पराधीन ही समझे, तो उसके लिये आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति आत्माका ही निज गुण है क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं है वह दूसरोंसे नहीं आ सक्ता।

भावार्थ—आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविक गुण भी है उसी वैभाविक गुणका विभाव परिणमन और स्वभाव परिणमन होता है। यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभाव-स्वभावरूप परिणमन भी नहीं हो सकता।

शङ्काकार—

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि यदि वैभाविक नामकी शक्ति ही परिणमन शील है तो उसीका विभाव और स्वभाव परिणमन होगा। फिर स्वभावकी शक्तिमें क्या विशेषता बाकी रहेगी!

फिर भी शङ्काकार—

अपि चार्थपरिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि पदार्थोंको जाननेवाला जो ज्ञान है वह इस आत्माका निज लक्षण है। उस ज्ञानमें जो ज्ञेयके आकार क्रिया होती है वह क्रिया वैभाविकी कैसे कही जा सकती है?

भावार्थ—इस श्लोकमें शंकाकारने वैभाविक शक्तिको अनुपयोगी समझकर उड़ा ही दिया है। वह कहता है कि वैभाविक उसे ही कहते हैं कि जो पर निमित्तसे हो, ज्ञान भी ज्ञेय पदार्थके निमित्तसे उस ज्ञेयके आकारको धारण करता है, परन्तु ज्ञेयाकारको धारण करनेवाला ज्ञान वैभाविक किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

यस्मात्तथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः ।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जिस समय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है, वह ज्ञेय नहीं हो जाता। दृष्टान्तके लिये घटज्ञानको ही लीजिये। जिस समय ज्ञान घटाकार होता है उस समय घटज्ञान ज्ञान ही तो है, वह घट ज्ञान घट नहीं बन जाता। इसी प्रकार मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान मद्याकार अर्थात् मलिन तथा मूर्छित हो जाता है, वह भी ज्ञान ही है, ज्ञान मदिरामय (विकारी) कभी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—शंकाकारकी दृष्टिमें वैभाविक परिणमन कोई चीज नहीं है। वह कहता है कि जिस समय मदिराके निमित्तसे ज्ञान मालिन्य रूपमें आता है उस समय वह ज्ञान ही तो है, चाहे वह किसी रूपमें क्यों न हो। शंकाकारने ज्ञेयके निमित्तसे बदलनेवाले ज्ञानमें कुछ भी अन्तर नहीं समझा है इस लिये उसके कथनानुसार स्वाभाविक शक्ति ही मानना चाहिये। वैभाविक शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो पहले शंकाकारकी तरफसे यह कहा गया था कि मदिराके निमित्तसे बदला हुआ ज्ञान भी ज्ञान ही है और ज्ञेयाकार होनेवाला भी ज्ञान ही है, ज्ञानपना दोनोंमें समान है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि बिना किसी अन्य निमित्तके (केवल ज्ञेयके निमित्तसे) ज्ञेयाकार होनेवाले ज्ञानमें और मदिराके निमित्तसे बदलने वाले ज्ञानमें बहुत अन्तर है। मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदला है वह ज्ञान मलिन है, उस ज्ञानमें यथार्थता नहीं है। यथार्थता उसी ज्ञानमें है जो कि वस्तुको यथार्थ रीतिसे ग्रहण करता है। जो ज्ञान केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार होता है वह वस्तुको यथार्थ ग्रहण करता है इसलिये दोनों ज्ञानोंमें बड़ा अन्तर है।

इसी प्रकार जीवोंका ज्ञान दो प्रकारका है, एक बद्ध ज्ञान दूसरा अबद्ध ज्ञान। जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे ढका हुआ है अर्थात् जिसके साथ मोहनीय कर्म लगा हुआ है उसे बद्ध अर्थात् बँधा हुआ ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे रहित हो चुका है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है। बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें बड़ा अन्तर है।

उसी अन्तरको नीचे दिखलाते हैं—

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ६७ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत हो रहा है वह जिस २ पदार्थको जानता है उसी २ पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होनेसे स्वयं रागद्वेष करता है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक पदार्थको क्रम २ से जानना ऐसी योग्यता ज्ञानमें ज्ञानावरणीयके निमित्तसे होती है, परन्तु इष्टरूप या अनिष्टरूप जैसे पदार्थ मिलते हैं, उन पदार्थोंमें रागद्वेष रूप बुद्धिका होना यह बात ज्ञानमें मोहनीय कर्मके निमित्तसे आती है।

अबद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा ।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिस ज्ञानके साथ मोहनीय कर्मका सम्बन्ध नहीं रहा है वह अबद्ध ज्ञान कहलाता है। ऐसा ज्ञान परम शुद्ध क्षायिक ज्ञान है वही ज्ञान लोक अलोकका जाननेवाला है।

भावार्थ—चार घातिया कर्मोंका नाश करनेवाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त भगवानके जो जगत्का प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान है वही अबद्ध ज्ञान है।

क्षायिक ज्ञान अबद्ध क्यों है सो बतलाते हैं—

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः ।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥

अर्थ—क्षायिक ज्ञान अबद्ध है, उसमें इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नहीं होती है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है। हम शीत और गर्मीका अनुभव करते हैं, अर्थात् हमें ठण्ड भी लगती है और गर्मी भी लगती है, परन्तु दूसरा मनुष्य जो कि हमारे शीत उष्णका परिज्ञान करता है वह शीत उष्णका अनुभव नहीं करता है।

भावार्थ—हम किसी कष्टको भोग रहे हों तो दूसरा मनुष्य यह तो जानता है कि यह कष्ट भोग रहा है परन्तु उसे कष्ट नहीं है। कष्टका होना और कष्टका ज्ञान होना इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। सिद्धोंका ज्ञान संसारिक पदार्थोंको तथा सांसारिक जीवों

मानता है परन्तु उन पदार्थोंमें किसी प्रकारकी रुचि अथवा अरुचिका उत्पादक नहीं हो सक्ता है । क्योंकि रुचि अथवा अरुचिका होना मोहनीयके निमित्तसे है वहां पर मोहनीयका सर्वथा अभाव हो चुका है इससे भले भांति सिद्ध होता है कि जो मोहनीय कर्मसे सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान है वही बद्ध है और उससे रहित अबद्ध है ।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा ।
अस्त्यमूर्तोपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ७० ॥

अर्थ—इस लिये इतने कथनसे तथा मदिराके स्वरूप उदाहरणसे यह बात भले प्रकार सिद्ध हो गई कि जिस प्रकार मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान अमूर्त होने पर भी मूर्त हो जाते हैं । उसी प्रकार अमूर्त भी जीवात्मा मूर्तिमान् कर्मोंसे बँध जाता है अर्थात् मूर्त कर्मोंके निमित्तसे अमूर्त आत्मा भी कथंचित् मूर्त हो जाता है ।

प्रश्न—

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः ।
वावदूकोथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥ ७१ ॥

अर्थ—ऊपर कहा गया है कि जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है । यहां पर यह बतलाइये कि बद्धता क्या वस्तु है ? तथा अशुद्धता भी वास्तवमें क्या वस्तु है ? जिस किसी अधिक बोलनेवालेको इस विषयमें संदेह है उसके संदेहको दूर कर उसे यथार्थ बोध करा दीजिये ?

बन्धका स्वरूप—

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी ।
तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥ ७२ ॥

अर्थ—आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविक नामा शक्ति भी है । वह शक्ति जब उपयुक्त अवस्थामें आती है तब आत्माके गुणोंकी संक्रान्ति (च्युत) होती है । गुणोंका अपने स्वरूपसे च्युत होना ही बन्ध कहलाता है और वह बन्ध दूसरेके कारणसे होता है ।

भावार्थ—रागद्वेषके निमित्तसे वैभाविक शक्तिका परिणमन विभावरूप होता है । जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन है वही परिणमन वैभाविक शक्तिकी उपयोगी अवस्था है । उसी अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपसे गिर जाता है यही बन्धका यथार्थ स्वरूप है । इसी बातको नीचे स्पष्ट किया जाता है—

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिर्वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—आत्माके गुणोंकी च्युति होने रूप बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति ही कारण नहीं है अथवा उसका केवल उपयोग भी कारण नहीं है किन्तु पराधीनता ही प्रयोजक है ।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण वैभाविक शक्ति ही हो तो वह शक्ति नित्य है-सदा आत्मामें रहती है इस लिये आत्मामें सदा बन्ध ही होता रहेगा, आत्मा मुक्त कभी न होगा । अथवा मुक्त आत्मा भी बंध करने लगेगा इस लिये केवल शक्ति ही बंधका कारण नहीं है । तथा केवल उपयोग भी नहीं है । उपयोग नाम शक्तिके परिणमनका है । वह उपयोग शक्तिकी स्वभाव अवस्थामें भी होता है और विभाव अवस्थामें भी होता है । यदि शक्तिका शुद्ध उपयोग भी बन्धका कारण हो तो भी वही दोष आता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है । इस लिये पुद्गलके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभाव रूप उपयोग है वही बन्धका कारण है । इस कारणसे बन्ध–कारणमें पुद्गलकी भी मुख्यता ली गई है । इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥ ७४ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गलका वैभाविक उपजीवी गुण है यदि वही बन्धका कारण हो तो जीवकी कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—जो गुण भाव रूप होते हैं उन्हींको उपजीवी गुण कहते हैं । ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण सभी उपजीवी गुण हैं ये गुण अपनी सत्ता रखते हैं । इसी प्रकारका गुण वैभाविक भी है । जो गुण भावरूप न हों केवल कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाका अभाव हो जानेसे प्रगट हुए हों उन्हें प्रतिजीवी गुण कहते हैं । जैसे गोत्र कर्मके निमित्तसे आत्मा उच्च नीच कहलाता था । गोत्र कर्मके दूर हो जानेसे अब उच्च नीच नहीं कहलाता इसीका नाम अगुरुलघु है । वास्तवमें यह * अगुरुलघु गुण नहीं है किन्तु गुरु और लघुपनेके अभावको ही अगुरुलघु कहा गया है । यह भी आत्माका अभावात्मक धर्म है । वैभाविक आत्माका भावरूप गुण है इसलिये यह बन्धका हेतु नहीं हो सकता ।

उपयोग भी बन्धका कारण नहीं है—

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—शक्तिकी स्वकार्यमें व्यक्तताका नाम भी उपयोग है । यदि वही उपयोग बन्धका हेतु हो तो सभी बंध नित्य हो जायगा ।

* [illegible]

भावार्थ—वैभाविक शक्तिका अपने स्वरूपको लिये हुए प्रगटपना शुद्ध अवस्थामें होता है। वह उक्त शक्तिका स्वभाव परिणमन कहलाता है। यह स्वभाव परिणमन बन्धका कारण नहीं है किन्तु दूसरा ही है। उसे ही बतलाते हैं।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—इसलिये बन्धका कारण कलाप मिलनेपर यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बँध जाता है उसी समय आत्माके निज गुणोंका स्वरूप अपनी अवस्थाको छोड़कर विभाव (विकार) अवस्थामें आ जाता है।

आत्माकी पराधीनता भी असिद्ध नहीं है—

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

अर्थ—संसारी आत्मा कर्मोंके परतन्त्र है यह बात भी असिद्ध नहीं है। प्रसिद्ध दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध है। जिस समय यह आत्मा ठण्ड या गरमीका अनुभव करने लगता है उस समय यह मूर्ख आत्मा अपनी आत्माको ही ठण्ड या गरम समझने लगता है। यह मूर्खता इसकी कर्मोंकी परतन्त्रतासे ही होती है।

शीत और उष्ण क्या है ?

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥ ७८ ॥

अर्थ—शीत और उष्ण दोनों मूर्तद्रव्य (पुद्गल)के + गुण हैं। इन गुणोंका × कहीं २ अमूर्त आत्मामें भी अनुभव होता है।

भावार्थ—आत्मा यद्यपि अमूर्त है उसके न शीत है और न उष्ण है तथापि कर्मकी परतन्त्रतासे यह आत्मा अपने आपको ही ठण्डा और गरम मानता है।

शंकाकार—

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

अर्थ—क्या वैभाविक शक्तिका विभाव रूप परिणमन दूसरेके निमित्तसे ही होता है ? दूसरेके बिना निमित्तके नहीं ही होता ? अथवा वैभाविक शक्ति आत्मामें है या नहीं है ?

+ स्पर्शगुणकी पर्याय। × संसारी आत्मामें।

उत्तर—

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥ ८८ ॥

अर्थ—शंकाकारका यह कहना कि वैभाविक शक्ति बिना कर्मोदयके [illegible] [illegible] शून्य हो जाती है, सर्वथा युक्ति-आगम शून्य है। क्योंकि [illegible] [illegible] है सब परिणमन शील है। पदार्थमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो [illegible] अपनी अवस्थाको न बदलती हो। फिर वैभाविकी शक्ति परिणमन शील क्यों न होवे [illegible] परिणमन शील है तो " कर्मोंके अनुदयमें किसी तरह परिणाम रहित हो [illegible] [illegible] शंकाकारकी शंका निर्मूल क्यों है।

और ऐसा भी नहीं है कि कोई शक्ति परिणमनशाली हो और कोई [illegible] [illegible] परिणमन शील हैं, इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

शक्तिको परिणाम रहित माननेमें कोई प्रमाण नहीं है—

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपरिणामिनी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्सोदृष्टान्ततः ॥ ८९ ॥

अर्थ—द्रव्यकी जितनी शक्तियां हैं सभी प्रतिसमय परिणमन करती रहती हैं। [illegible] परिणमन शील माना जाय और किसीको नहीं माना [illegible] [illegible] [illegible], इसमें कोई प्रमाण नहीं है और न कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—[illegible] [illegible] प्रकारकी पर्यायें होती हैं, एक व्यंजन पर्याय, दूसरी अर्थ [illegible] [illegible] [illegible] पर्याय कहते हैं, अर्थात् समस्त वस्तुके [illegible] [illegible] है। [illegible] इसमें [illegible] [illegible] गुणोंकी पर्यायों [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] पर्याय [illegible] प्रति समय हुआ करती हैं।

[illegible]—

[illegible] वैभाविकी शक्तिः [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ ९० ॥

[illegible]

समय उस वैभाविकी शक्तिका परिणमन स्वभावरूप होता है। इस प्रकार केवल एक वैभाविक शक्तिके ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दो अवस्था भेद हैं।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं यतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपदनयोः ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि पदार्थमें [illegible] भेदसे दो शक्तियां हैं। यह द्वैत अवस्था भेदसे ही है, स्वाभाविक और वैभाविक इन दोनों [illegible] दोनोंकी अपेक्षासे युगपत् द्वैत नहीं है।

भावार्थ—वस्तुमें एक समयमें एक ही पर्याय होती है इस नियमसे वैभाविक शक्तिकी क्रमसे होनेवाली दोनों अवस्थायें वस्तुमें रहती हैं। परन्तु कोई कहे कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों एक साथ रह जांय यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि एक समय एक कालमें दोनों रह जांय तो वे दो गुण कहे जावेंगे, पर्याय नहीं कही जा सकतीं। पर्याय तो एक समयमें एक ही होती है। इसलिये अवस्थाभेदसे क्रमसे ही स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थायें पायी जाती हैं। एक कालमें नहीं।

दोनोंको एक कालमें माननेमें दोष—

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वैतस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥ ९२ ॥

अर्थ—यद्यपि वैभाविक शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें क्रमसे होती हैं यह सिद्धान्त है। तथापि अवस्था भेदसे भी द्वैत है अर्थात् वैभाविक शक्तिके स्वाभाविक और वैभाविक दो भेद हैं इन भेदोंको एक साथ ही कोई स्वीकार करे तो [illegible] ठीक नहीं है। ऐसा माननेसे अनेक दोष आते हैं। एक तो कार्य कारण भाव इनमें नहीं [illegible] वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है। [illegible] होती है। इस लिये [illegible] अवस्थाके [illegible] स्वाभाविक अवस्था भी नहीं हो सकती है। [illegible] कार्यकारणभाव नहीं बनेगा। दूसरे बन्ध और मोक्षकी भी [illegible] वैभाविक अवस्थाको पहले माननेसे तो [illegible] सिद्ध होता है। [illegible] दोनों अवस्थाओंको [illegible] बन्ध और मोक्ष एक साथ [illegible] कारणके नाश होते हुए [illegible] नहीं होगी। इसी बातको आगे भी दिखाते हैं—

नैकशक्ते र्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—यद्यपि एक शक्ति (वैभाविक) के ही दो भेद होते हैं अर्थात् एक ही शक्ति दो रूप धारण करती है । परन्तु एक साथ ही एक शक्तिके दो भेद नहीं हो सके। यदि दोनों भेद बराबर एक साथ ही होने लगें तो वैभाविक अवस्था भी नियमसे सदा बनी रहेगी और वैभाविक अवस्थाकी नित्यतामें आत्माका मोक्ष-प्रयास व्यर्थ हो जायगा । इसलिये इस गुणकी वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थायें क्रमसे ही होती हैं । एक कालमें नहीं होती।

शङ्काकार—

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥ ९४ ॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जडात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥ ९७ ॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥ ९८ ॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा बतेति चेत् ॥ ९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सभी पदार्थ अनादि सिद्ध हैं । पदार्थोंको पैदा करने वाला कोई कारण नहीं है, वे सभी अपने आप ही अनादि सिद्ध हैं । उसी प्रकार उनके नाम भी अनादि सिद्ध हैं । यद्यपि एक वस्तुका पहले कुछ नाम और पीछे कुछ नाम रख दिया जाय परन्तु वाच्यवाचक सम्बन्ध सदा ही रहता है । इसलिये जिस प्रकार पदार्थ अनादि हैं उसी प्रकार उनके वाचक नाम भी अनादि हैं । यह पदार्थों और उनके नामोंकी [illegible] बिना कारण अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है । यदि ऐसा न माना जाय तो " सर्व सङ्कर " और " शून्यता " आदिक अनेक दोष आते हैं जो कि पदार्थोंके नाशके कारण हैं । इसलिये यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि जो कोई भी चेतन या जड़ वस्तु है सभी अपने अपने स्वरूपमें स्थिर हुए हैं । उनके स्वरूपका परिवर्तन ([illegible]) कभी नहीं हो सकता । उन्हें [illegible] यह निकला कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके एक देशको भी [illegible]

नहीं बिगाड़ सकता है । सभी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने २ स्वरूपमें ही स्थित हैं, यदि इन चारोंमेंसे किसी एककी अपेक्षासे भी पदार्थ दूसरे रूपमें आजाय तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जाँय । कोई भी पदार्थ क्यों न हो अपनी सीमाका उल्लङ्घन कभी किसी अंशमें नहीं कर सकता । जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होनेपर भी मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्य जीवके वैभाविक भावोंमें कारण हो जाता है । यदि बिना किसी प्रकारके सम्बन्धके भी पुद्गलकर्म जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो उसी स्थलपर रहनेवाला धर्मादिक अपर द्रव्यभी जीवके विकारका कारण क्यों न माना जाय ? इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि सन्निकर्ष—सम्बन्ध विशेष होनेसे पुद्गलद्रव्य ही जीवके विभावका कारण होता है, धर्मादिक नहीं होते, तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थानपर रहनेवाला सन्निकर्ष सम्बन्ध विशिष्ट विस्रसोपचयरूप पुद्गलपिण्ड जीवके विकारका कारण क्यों नहीं हो जाता है ?

उत्तर—

> सत्यं चाबद्धबद्धं स्यात्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
> स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥
> बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
> तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अर्थ—आपने जो शंका उठाई है सो ठीक, परन्तु बात यह है कि सभी जीव पुद्गल बद्ध तथा अबद्ध नहीं होते किन्तु कोई बद्ध होते हैं और कोई अबद्ध होते हैं । संसारी जीव पुद्गल कर्मोंसे बँधे हुए हैं, मुक्त नहीं । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी ज्ञानावरणादि आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्य ही जीवसे बँधे हुए हैं, अन्य (पाँच प्रकारकी वर्गणाओंको छोड़कर) पुद्गल नहीं । और भी जो बन्ध योग्य जीव व पुद्गल द्रव्य हैं, उनमें भी सर्व जीव संसारकी समस्त कर्मवर्गणाओंसे एक साथ नहीं बँध जाते, और न समस्त कर्मवर्गणायें ही प्रत्येक जीवके साथ प्रतिसमय बँध जाती हैं, किन्तु जिस समय जिस जीवके जैसी कषाय होती है उसीके योग्य कर्मोंसे जीव बँध जाता है अन्य प्रकारकी कषायसे बँधने योग्य कर्मोंके साथ नहीं बँधता । इसलिये कोई पुद्गलद्रव्य जीवमें विकार करता है कोई नहीं करता । ऐसा भी नहीं है कि सांख्यदर्शनकी तरह पुरुष (जीवात्मा) को सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय और बन्धको केवल प्रकृति (कर्म)का ही धर्म मान लिया जाय तथा बद्धत्व और अबद्धत्वके वास्तवमें कुछ अन्तर ही न माना जाय । और ऐसा भी नहीं है कि किसी द्रव्यके दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विकार सर्वथा होता ही नहीं माना । ऐसा माननेसे कार्यकारण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ही उठ जाता है । और निमित्त नैमित्तिक भावके अभावमें सभी कार्योंका

सिद्धि नहीं हो सकती है। इस लिये बद्ध जीव और मुक्त जीवमें वास्तविक भेद है। तथा जीव और पुद्गलमें विजातीयपना होने पर भी परस्पर इस प्रकारका निमित्त नैमित्तिक भाव है जिससे कि संसारी जीवोंकी कषायका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीवोंके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है, और उन बंधे हुए कर्मोंके परिपाक कालमें जीवोंमें कषायादि रूप विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

बद्ध और मुक्तका स्वरूप—

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः॥ १०२॥

अर्थ—बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषको बद्ध कहते हैं। इसी प्रकार नहीं बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्थाको अबद्ध कहते हैं। बन्ध वहीं होता है जहां पर कि अनुकूलता होती है। प्रतिकूल पदार्थोंका बन्ध नहीं होता है।

भावार्थ—जहां अनुकूल योग्य सामग्री जुट जाती है वहीं पर बन्ध होता है, जहां योग्य सामग्री नहीं मिलती वहां बन्धकी योग्यता भी नहीं है।

बन्ध-भेद—

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना॥ १०३॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका होता है इसी लिये उन तीनोंके जुदे जुदे तीन लक्षण भी हैं। तीनों प्रकारोंके बन्धोंमें दो बंधोंका स्वरूप तो एक एक स्वतन्त्र है। परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दो के मिलनेसे होता है कहा जाता है—

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध, इस प्रकार बन्धके तीन भेद हैं। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध में तो मोटी रीतिसे एक एक ही पदार्थ पड़ता है। क्योंकि राग द्वेषादि भावही भाव बन्ध कहलाते हैं इन भावोंमें आत्मा की ही मुख्यता रहती है। कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणके विकारको राग द्वेष कहते हैं। द्रव्य बन्धमें केवल पुद्गल ही पड़ता है। इस लिये ये दोनों बन्ध तो प्रत्येक स्वतन्त्र हैं परन्तु तीसरा बन्ध जो उभय बन्ध है वह आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धसे होता है। इस लिये उसीका स्वरूप कहा जाता है।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्॥ १०४॥

अर्थ—परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध है वही उभयबन्ध कहलाता है। जीव तो कर्मोंसे बँधा हुआ है और कर्म जीवसे बँधे हुए हैं।

बन्धके कारणपर विचार—

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जीवके गुणोंका अपने स्वरूपसे बदलकर दूसरे रूपमें आ जाना, इसीका नाम वैभाविक भाव है । यही जीवका भाव कर्मके बन्ध करनेमें कारण है, और वैभाविक भावके निमित्तसे होनेवाला वही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करनेकी सामर्थ्यका कारण है ।

भावार्थ—कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली रागद्वेष रूप आत्माकी अवस्थाका नाम ही वैभाविक है । वही अशुद्धभाव पुद्गलोंको कर्मरूप बनानेमें कारण है, और वह कर्म भी उस वैभाविक भावकी उत्पत्तिका कारण है इसलिये इन दोनोंमें परस्पर कारणता है । इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही आशय है कि जिस कर्मका यह वैभाविक भाव कार्य है, उसी कर्मका कारण भी है । इसलिये एक तो भाव और एक कर्म इन दोनोंसे ही उभय बन्ध होता है ।

भावार्थ—यहांपर यह शङ्का उपस्थित हो सकती है कि एक ही कर्मका वैभाविक भाव कार्य है और उसी एक कर्मका कारण भी है । उसीका कार्य और उसीका कारण यह बात एक असम्भव प्रतीत होती है । परन्तु समानीयताको ध्यानमें रखनेसे यह शङ्का सर्वथा निर्मूल हो जाती है । वैभाविक भावको जिस कर्मने पैदा किया है उसी कर्मका कारण वैभाविक भाव नहीं है किन्तु नवीन कर्मके लिये वह कारण है । अर्थात् वैभाविक भावसे नवीन कर्म बंधते हैं और उन कर्मोंसे नवीन २ भाव पैदा होते हैं । समजातीयताकी अपेक्षासे ही " उसी कर्मका कारण उसीका कार्य " ऐसा कहा गया है ।

यदि कोई दूसरे समजातीय कर्मोंकी भी कर्मत्व धर्मकी अपेक्षासे एक ही कर्म समझकर शङ्का उठावे कि कर्मही स्वयं कार्य और कर्मही स्वयं कारण कैसे हो सकता है ? इस शङ्काका उत्तर भी एक ही पदार्थमें कार्य कारण भाव दिखाते हुए दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—

तथाऽऽदर्शो यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणसे मुख देखनेसे चक्षुका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है । उस

अपने प्रतिबिम्बमें कारण स्वयं चक्षु है, प्रतिबिम्ब कार्य है । परन्तु वही चक्षुके
धारण करनेवाला चक्षुका प्रतिबिम्ब अपने दिखानेमें कारण भी है ।

भावार्थ—जब चक्षुसे दर्पण देखते हैं तब चक्षुका आकार दर्पणमें पड़ता है
तो वह आकार चक्षुका कार्य हुआ, क्योंकि चक्षुसे पैदा हुआ है । परन्तु
जब चक्षुसे देखते हैं तब अपने दिखानेमें वह आकार कारण भी होता है । इसि
पदार्थमें कार्य कारण भावभी उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा सुघटित हो जाता है ।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
*** .... ॥ १०८ ॥**

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म जो जीवके भावोंके विकारका
और उस द्रव्य कर्मका कारण वह वैभाविक भाव है । यह परस्पर कारणता
कि मानों एक दूसरेके उपकारका परस्पर बदला ही चुकाते हों ।

इन दोनोंमें क्यों कारणता हुई ?

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अर्थ—जीवकी शुद्ध अवस्थासे बिगड़कर जो विकार अवस्था है वही
विक भाव है उसी वैभाविक भावके निमित्तसे जीवसे सर्वथा भिन्न भी पुद्गल द्रव्य
भावके लिये निमित्त कारण होता है ।

भावार्थ—यद्यपि पुद्गलकार्माण द्रव्य जीवसे सर्वथा भिन्न जड पदार्थ है,
अशुद्ध भावोंसे वह खिचकर कर्मरूप हो जाता है । फिर वही जडकर्म चेतनके
इनेमें कारण होता है । इसमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है ।

ऐसा होनेमें भी उभयबन्ध ही कारण है—

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाच्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्थाप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥

अर्थ—वह कर्म चेतन-भावोंके बिगाड़नेका कारण हो जाता है इसमें
ही कारण है । क्योंकि जब तक वह पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत न होगा तब त
भावोंको विकारी बनानेमें कारण नहीं हो सकता है । यदि बिना कर्मरूप अ
किये ही पुद्गल द्रव्य जीवके विकार भावोंका कारण हो जाय तो जीवके साथ
चिरकालसे लगे हुए विस्रसोपचय भी कारण हो जायंगे, परन्तु विस्रसोपचय

* मूल पुस्तकमें भी इस श्लोकके दो चरण नहीं मिले ।

हीं, किन्तु कर्म ही कारण है और कर्म-अवस्था पुद्गलकी तभी होती है जब कि वह न्ध रूपमें परिणत हो जाता है ।

भावार्थ—विस्रसोपचय उन्हें कहते हैं कि जो पुद्गल परमाणु (कार्माण स्कन्ध) कर्मरूप तो नहीं हुए हों किन्तु आत्माके आसपास ही कर्मरूप परिणत होनेके लिये सन्मुख हों। न परमाणुओंकी बन्धरूप अवस्था नहीं है । जिस समय आत्मा रागद्वेषादि भाव गे धारण करता है उसी समय अन्य संसारमें भरी हुई कार्माण वर्गणायें अथवा ये पचय संज्ञा धारण करनेवाले परमाणु सट आत्माके साथ बंध जाते हैं । बंधनेपर ही कर्म संज्ञा हो जाती है । उससे पहले १ कार्माण (कर्म होनेके योग्य) संज्ञा है । ये पचय आत्मासे बंधे हुए कर्मोंसे भी अनन्त गुणे हैं और जीव राशिसे भी अनन्त गुणे क्योंकि पहले तो आत्माके साथ बंधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त हैं । उन कर्मरूप णुओंमेंसे प्रत्येक परमाणुके साथ अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु (विस्रसोपचय) लगे हुए हैं ।

अशुद्धता—

तद्बद्धस्याविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्याद्द्वैतात्स्वतोन्यतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—आत्माकी बद्धताकी अविनाभाविनी अशुद्धता भी उसी समय आ जाती है । अशुद्धताका यही लक्षण है कि स्वयं अद्वैत आत्मा अन्य पदार्थके निमित्तसे द्वैत हो है ।

भावार्थ—जिस समय आत्मा कर्मोंसे बद्ध होता है उसी समय अशुद्ध भी है । अशुद्धताके बद्धता आ ही नहीं सकती है । इसी प्रकार बिना बद्धताके अशुद्धता भी आ सकती । इसलिये बद्धता और अशुद्धता ये दोनों अविनाभाविनी हैं । एकके बिना न होवे इसीका नाम अविनाभाव है । यद्यपि आत्मा स्वयं (अपने आप) अद्वैत अर्थात् एक है । तथापि अशुद्धताको धारण करनेसे (पर पदार्थके निमित्तसे) वही आत्मा द्वैत दो रूपधारी (दुरंगा) बना हुआ है ।

आत्माके द्विरूपता किस प्रकारसे है—

तत्राद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ११९ ॥

अर्थ—आत्मा अशुद्ध अवस्थामें द्विरूपता धारण करता है अर्थात् उसमें दो प्रकारका भेद हो जाता है । यह दोनों ही प्रकारका भेद औपचारिक (उपचारसे) है । उन अंशोंमें एक अंश तो स्वयं आत्मामें ही है, और दूसरा उपाधिसे होनेवाला अपेक्षित है ।

भावार्थ—आत्मा और कर्म, इन दोनोंके स्वरूपका जब विकाररूप परिण है, दोनों ही जब अपने स्वरूपको छोड़ देते हैं उसीका नाम अशुद्धता है। यह व्यवहार दृष्टिसे है। वास्तव दृष्टिसे आत्मा अमूर्त है। अशुद्धता कर्म और आत्मा दोनों हीके मेलसे होती है, इसलिये अशुद्धतामें दो भाग होते हैं। उन दोनों भागों विचार करें तो एक भाग तो आत्माका है। क्योंकि अशुद्धता आत्माके ही गुणकी अवस्था है परन्तु दूसरा भाग कर्मका है। इसी लिये रागद्वेषादि वैभाविक अवस्थायें और पुद्गल कर्म दोनोंकी हैं।

शंकाकार—

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः ॥ ११४ ॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥ ११५ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि हर एक पदार्थकी दो अवस्थायें होती हैं। ए सामान्य अवस्था, दूसरी विशेष अवस्था। सामान्य रीतिसे पदार्थ एक ही है, और विशे रीतिसे दो प्रकार है। ऐसा विशेष खुलासा होने पर भी सोपाधि और निरुपाधि भेद कैसा और ऐसा अनुभव भी होता है कि जो ज्ञान रस रूपको जानता है वह ज्ञान कहीं रूप, र रूप स्वयं नहीं हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञान ही है और रूप, रस पुद्गल ही हैं।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि सामान्य और विशेषात्मक उभय पदार्थ है। सामान्य दृष्टिसे एक है और विशेष दृष्टिसे उसमें द्विरूपता है, अर्थात् द्रव्यार्थि नयसे पदार्थ सदा एक है और पर्यायकी अपेक्षासे वही पदार्थ अनेक रूप है। जब ऐस सिद्धान्त है तो फिर अशुद्ध-आत्मामें जो द्विरूपता है वह पर निमित्तसे क्यों मानी जा ऊपर जो यह कहा गया है कि एक अंश आत्माका है और दूसरा पुद्गलका है यह व्यर्थ है। अशुद्ध आत्माकी जो द्विरूपता है वह आत्माकी ही विशेष अवस्था है इस लिये आत्मामें सोपाधि और निरुपाधि, ऐसे दो भेद करना ठीक नहीं है। हम जानते भी हैं कि रूप रसादिको जाननेवाला ज्ञान उन रूपादि पदार्थोंसे मिला हुआ है, जाननेसे ज्ञानमें किसी प्रकारकी अशुद्धता नहीं आती है। शङ्काकारका अभिप्राय है कि अशुद्धता कोई चीज नहीं है।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोऽस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥ ११६ ॥

अर्थ—शङ्काकारका यह कहना कि ज्ञानमें अज्ञानता आती ही नहीं है। अथवा अशुद्धता कोई चीज ही नहीं है सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि पदार्थके सामान्य और विशेष ये भेद होनेपर भी कुछ और भी विशेषता है। वह विशेषता अन्वय, व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध होती है। किस प्रकार ! सो नीचे दिखाते हैं—

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वह्नियोगाद्धि वारिवत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—" यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः " जिसके होनेपर जो हो इसीका नाम अन्वय है। पदार्थकी निमित्ततासे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह अन्वय यहां पर ठीक घटता है। जिस प्रकार ठण्डा जल अग्निके सम्बन्धसे गरम हो जाता है।

यह बात असिद्ध भी नहीं है—

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमास्त्वतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—यह दृष्टान्त असिद्ध भी नहीं है। जिस समय ज्ञान अज्ञानरूपसे आता है उस समय पदार्थकी यथार्थ प्रमिति नहीं हो पाती है किन्तु अवस्थान्तर ही हो जाता है।

व्यतिरेक—

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यात्तत्रयं शुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानमें अन्वय घटता है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटता है। व्यतिरेक उसे कहते हैं कि जिसके न होने पर जो न हो। जिस प्रकार आत्माका ज्ञान दूसरेके निमित्तसे मिथ्या-अवस्था सहित हो जाता है उसी प्रकार उस परहेतुके बिना शुद्ध ही है। अर्थात् कर्मके निमित्तसे ज्ञान अज्ञानरूप, और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। इसीका नाम अन्वय व्यतिरेक है।

भावार्थ—इस अन्वय व्यतिरेकसे आत्मामें अशुद्धता पर निमित्तसे होती है यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है। जो बात अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है वह अवश्यंभावी अथवा नियमितरूपसे सिद्ध स्वीकार की जाती है। इस लिये आत्माकी अशुद्धता अवश्य माननी पड़ती है।

शुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला जो क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) है वह

शुद्धज्ञान है। क्योंकि उसमें परनिमित्तता नहीं है। वह केवल स्वस्वरूप मात्र ही है। इ ज्ञानं अबद्ध भी है। क्योंकि उसमें किसी पर पदार्थरूप उपाधिका सम्बन्ध नहीं है।

अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥

अर्थ—सर्व घाति कर्मोका उदयाभावी क्षय होनेसे और उन्हीं सर्व घाति कर्मों उदय होनेसे क्षायोपशमिक कहलाता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्म सहित है, क्यों सत्कर्मोंका अभी क्षय नहीं हुआ है। इसलिये यह ज्ञान अपने स्वरूपसे च्युत है अतः ब कहलाता है तथा अशुद्ध भी है।

शुद्धता तथा अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं—

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि ज्ञान न तो शुद्ध ही है, और न अशुद्ध ही है जैसा है वैसा ही है। तो उसके उत्तरमें यही कहा जा सक्ता है कि आत्मामें बन्ध भी न है, और न उसका फल ही है। क्योंकि बन्धका कारण ही कोई नहीं है।

भावार्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुक है। यदि अशुद्धताको न माना जावे तो बन्ध भी नहीं ठहरता, और बन्धके अभावमें बन्ध फल भी नहीं बनता।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चविशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥

अर्थ—यदि अशुद्धताके विना ही बन्ध हो जाय तो फिर बन्ध ही रहेगा। ब अबन्ध अवस्थामें कभी नहीं आ सक्ता। ऐसी अवस्थामें कोई भी जीव सम्पूर्ण रीतिसे मु नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण अशुद्धता मानी जाय तब तो यह बात नहीं बन कि बन्ध ही सदा रहेगा, अबन्ध हो ही नहीं सक्ता। क्योंकि कारणके सद्भावमें ही का होता है। कारणके न रहने पर कार्य भी नहीं रह सक्ता। जब तक अशुद्धता है तभी त बन्ध रहेगा। अशुद्धताके अभावमें बन्धका भी अभाव अवश्यंभावी है। इसलिये अशुद्ध माननी ही चाहिये।

यदि ऊपरके श्लोक द्वारा ही अशुद्धताकी सिद्धि हो चुकी ऐसा कहा जाय तो श श्लोकका दूसरा अर्थ शुद्धता—वाचक भी हो जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि अशुद

ही मानी जावे, शुद्धता नहीं मानी जावे, तो सदा बन्ध ही रहेगा, अबन्ध कभी होगा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें सभी आत्मायें बद्ध ही रहेंगी। मुक्त कोई भी कभी न होगा। इस लिये शुद्धता भी माननी ही पड़ती है।

सारांश—शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं। पहले आत्मा अशुद्ध रहता है। फिर तप आदि कारणों द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करने पर शुद्ध हो जाता है। इसी बातको नीचेके श्लोकमें बतलाते हैं—

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः।
नाप्यबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः॥ १२४॥

अर्थ—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है।

अबद्धका दृष्टान्त—

अस्तिचिदर्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक्।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात्॥ १२५॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो क्षायिक ज्ञान–केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त—

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः॥ १२६॥

अर्थ—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है, इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहां कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि संसारियोंके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नहीं बन सकता।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत्॥ १२७॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

इस उपाधिका सम्बन्ध इन नौ पदार्थों (अशुद्ध जीवकी पर्यायों) में ही है। जीवकी पर्यायोंमें नहीं है। क्योंकि जीवकी शुद्ध पर्यायमें इसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है।

उपाधि मानना आवश्यक है—

नोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते।
कः पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोऽनुभूयते ॥ १४१ ॥

अर्थ—व्यवहार दृष्टिसे जीव उपराग-उपाधिवाला है। यदि उपाधि होनेसे उसका अनादर किया जाय अर्थात् उसे न माना जाय, तो ये जीवकी नौ अवस्थायें भी नहीं बन सकती हैं। सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिये। अथवा नौ पदार्थोंके अभिन्न होनेसे शुद्ध जीवका भी अनुभव नहीं हो सकता है।

भावार्थ—शुद्धता प्राप्त करनेके लिये अशुद्धता कारण है। यदि अशुद्धताको स्वीकार न किया जाय तो शुद्धता भी नहीं हो सकती। इसलिये व्यवहार नयको मानते हुए ही निश्चय मार्गका बोध होता है। जिन्होंने व्यवहारको सर्वथा कुछ नहीं समझा है वास्तवमें वे निश्चय तक भी नहीं पहुंच सके हैं। व्यवहार और निश्चय नयके विषयमें पहले अध्यायमें इस ग्रन्थमें बहुत खुलासा किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप यही पड़ता है कि व्यवहार नयका जो विषय है उसमेंसे यदि सभी विकल्पजालोंको दूर कर दिया जाय तो वही निश्चय नयका विषय हो जाता है।

जिस प्रकार तृणकी अग्नि, कण्डेकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, पत्तोंकी अग्नि, ये सभी विकल्प व्यवहार नयका विषय है। इनमेंसे सभी विकल्पोंको दूर कर शुद्ध अग्नि स्वरूप निश्चय नयका विषय हो जाता है। इसलिये व्यवहारको सर्वथा मिथ्या समझना मिथ्या भूल है। हां अन्तमें निश्चय ही उपादेय आदरणीय है।

शंकाकार—

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः।
उभयं नोभयं किंवा तत्कथं वा क्रमेण किम् ॥ १४२ ॥
अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः।
नास्तीति चेदसत्त्वेऽस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १४३ ॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥ १४४ ॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतपरिणामस्य दर्शनात् ॥ १४५ ॥

उभयं चेत्क्रमेणेह सिद्धं न्यायादविवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥
यौगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥ १४७ ॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि निश्चयनयसे (वास्तवमें) उपराग इस जीवात्मामें है या नहीं है ? अथवा उपराग और अनुपराग (शुद्धता) दोनों हैं ? अथवा क्या दोनों ही नहीं हैं ? दोनों हैं तो क्रमसे हैं या एक साथ ? यदि वास्तवमें उपराग है तो फिर उसमें अनादर (अग्राह्यता) क्यों किया जाता है ? यदि वास्तवमें व्यवहारनयका विषय भूत उपराग कोई वस्तु नहीं है, तो उसमें अनादर भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि अनादर उसीका किया जाता है जो कि कुछ चीज हो । जब निश्चय नयसे उपराग कोई चीज ही नहीं है तो अनादर किसका ? दूसरी बात यह है कि यदि उपराग माना भी जाय तो भी नौ पदार्थोंमें मान्यता नहीं आती, क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरी जगह नयका अधिकार ही नहीं है ? (शङ्काकारकी यह शङ्का केवल शुद्ध नयको ध्यानमें रखकर ही की गई है) यदि उपराग नहीं माना जाय तब तो ये जीवके नौ स्थान किसी प्रकार भी नहीं बन सके हैं क्योंकि जिसका कारण ही नहीं है उसका कार्य भी नहीं हो सक्ता है ।

यदि शुद्धता और अशुद्धता (उपराग) दोनोंहीको माना जावे, परन्तु क्रमसे माना जावे तो भी न्यायसे शुद्ध मात्र ही उपादेय (ग्राह्य) सिद्ध होगा, और शुद्धसे भिन्न अशुद्ध त्याज्य होगा !

यदि शुद्धता और उपराग जन्य अशुद्धता, इन दोनोंको एक साथ ही माना जावे तो भी दोनोंसे हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा, उस समय भी शुद्ध ही ग्राह्य होगा और अशुद्ध अग्राह्य होगा !

एक बात यह भी है कि एक पदार्थके एक स्थानमें दो क्रियायें अथवा दो कर्म रह भी नहीं सकते हैं इसलिये जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नहीं बन सकी, फिर " दोनोंमेंसे शुद्ध ही ग्राह्य होगा " इत्यादि द्वैताद्वैतकी कथा तो पीछे है ।

इसलिये अनन्य गति न्यायसे अर्थात् अन्यत्र गति न होनेसे अथवा घूम फिरकर वहीं

आजानेसे शुद्ध ही एक पदार्थ मानना चाहिये, वही सम्यग्दर्शनका विषय है। उसी पदार्थका कहनेवाला यदि कोई नय है तो केवल शुद्धनय (निश्चयनय) है ?

भावार्थ—उपर्युक्त कथनसे शङ्काकारका अभिप्राय केवल शुद्धनयको मानकर शुद्ध द्रव्यकी मान्यतासे है। उसकी दृष्टिमें व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है, इसी लिये उसकी दृष्टिमें नव पदार्थ अर्थात् जीवकी अशुद्धता भी कोई वस्तु नहीं है। आचार्य इसका खण्डन करते हैं—

उत्तर—

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोंमेंसे किसी एकको न माना जाय अथवा इन दोनोंका कार्य कारण भाव न माना जाय तो काम नहीं चल सका। ये दोनों ही अनन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् दोनों ही आवश्यक हैं। दोनोंके माननेमें अशुद्धता पक्षमें जो शङ्काकारने विरोध बतलाया है सो भी अविरोध ही है। पदार्थ परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए हैं इसलिये विरोध नहीं रहता किन्तु अपेक्षाकृत भेदसे दोनों ही ठीक हैं।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः ।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥

अर्थ—शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही आवश्यक हैं यह बात भी असिद्ध नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु तो पड़ती हैं। उक्त दोनों ही भेद जीवकी अवस्था विशेष ही तो हैं। इन भेदोंकी अपेक्षासे जीव अनेक होनेपर भी सामान्य रीतिसे केवल एक ही प्रतीत होता है।

इसीका खुलासा—

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥

अर्थ—वास्तवमें विचार किया जाय तो ये नौ भी पदार्थ (अशुद्ध-आत्मा) केवल जीव और पुद्गल दो द्रव्य रूप ही पड़ते हैं, और कर्ता तथा कर्म ये वास्तवमें अपने द्रव्यादिकसे अभिन्न होते हैं।

भावार्थ—पहले शङ्काकारने यह कहा था कि एक वस्तु ही कर्ता और कर्म कैसे हो सकती है ? इसीका यह उत्तर है कि जीव कर्ता है और पुद्गल कर्म है। कर्तृत्व भावसे भिन्न है और कर्मत्व पुद्गलसे अभिन्न है। तथा इन दोनोंके मेलसे ही नौ पदार्थ होते हैं इसलिये दोनोंकी मिली हुई एक अवस्थामें कर्ता, कर्म रहनेमें कोई विरोध नहीं रहता।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किंचिद्द्रव्यान्तरं पृथक्।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर नव पदार्थ और कोई दूसरे द्रव्य नहीं है। अर्थात् नौ ही पदार्थ जीव, पुद्गलकी अवस्था विशेष हैं इनमें अन्य किसी द्रव्यका मेल नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि ये नौ ही पदार्थ केवल शुद्ध जीवके ही हों अथवा केवल पुद्गलके ही हों। किन्तु दोनों ही के योगसे हुए हैं। इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

जीव और पुद्गल इन दोनोंके ही नौ पदार्थ हैं—

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम्।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अर्थ—नैमित्तिक जीव और निमित्तकारण पुद्गल, इन दोनोंके ही परस्पर सम्बन्धसे ये नौ पदार्थ हो गये हैं।

जीवकी ही नौ अवस्थायें हैं—

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते।
तदात्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यही निकलता है कि यह जीव ही नौ पदार्थ रूप होकर ठहरा हुआ है। यद्यपि पहले श्लोकों द्वारा जीव और पुद्गल दोनों ही की अवस्था नौ पदार्थ रूप बतलाई है। परन्तु यहां पर जीवके ही अवस्था भेद नौ पदार्थोंको बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि यहां पर निमित्तकारणको विवक्षित नहीं रक्खा है। पुद्गलके निमित्तसे जीवके ये नौ भेद होते हैं। अर्थात् अवस्था तो ये जीवकी हैं परन्तु पुद्गल निमित्तकारण है इस लिये यहांपर निमित्त कारणको अविवक्षित रखकर " जीव ही नौ पदार्थ रूप है " ऐसा कहा है।

यद्यपि इन अवस्थाओंसे यह जीव अशुद्ध है तथापि इन अवस्थाओंसे रहित विचारनेसे केवल शुद्ध जीवका ही प्रतिभास होता है।

भावार्थ—अशुद्धताके भीतर भी शुद्ध जीवका प्रतिभास होता ही है।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है यह बात असिद्ध नहीं है। किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है। परन्तु अयथार्थ उपाधिका सम्बन्ध हो जानेके कारण उस शुद्धताका दर्शन नहीं होता है।

भावार्थ—पुद्गलके निमित्तसे जो आत्मामें अशुद्धता-मलिनता आ गई है इसमें इस

आत्माका शुद्धरूप ढक गया है । तो भी उपाधि रहित अवस्थाका ध्यान करनेसे अशुद्धके भीतर भी शुद्धात्माका अवलोकन होता ही है ।

दृष्टान्तमाला—

सन्त्यनेकेऽत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥ १५७ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्धताका ज्ञान होता है इस विषयमें अनेक उदाहरण हैं उनमेंसे कितने ही दृष्टान्त तो ये हैं—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक पत्थर, ज्ञान, समुद्र और नमक (लवण) ।

सोनेका दृष्टान्त—

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—जैसे सोना दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे अनेक रूपोंको धारण करता है । [illegible] दूसरे ही रूपको धारण करता है, कभी [illegible] [illegible] दूसरे ही रूपको धारण करता है इसी प्रकार तांबा, लोहा, [illegible] [illegible] आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे अनेक प्रकार दीखता है, तथापि उन पदार्थोंको [illegible] [illegible] उनकी उपेक्षा कर दें तो केवल सोनेका स्वरूप ही दृष्टिगत होगा ।

भावार्थ—दूसरे पदार्थोंके मेलसे अनेक रूपमें परिणत होनेपर भी सोनेमें [illegible] [illegible] सोनेका स्वरूप विचार करनेसे पीतत्व आदिरूप [illegible] [illegible] ही प्रतिभास होता है ।

पद्म—

[illegible] ।
[illegible] ॥ १५९ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १६० ॥

स्फटिक पत्थरमें विकार हो जाता है अर्थात् वह स्फटिक भी लाल मालूम होने लगता है। परन्तु यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो स्फटिकमें कोई प्रकारका लाली आदि विकार नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ प्रकार दीखने लगता है, परन्तु यथार्थमें वह ऐसा नहीं है।

ज्ञानका दृष्टान्त—

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोऽयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १७० ॥

अर्थ—जिस समय ज्ञान घटको जानता है उस समय वह स्वयं घट ज्ञान कहलाता है। परन्तु वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता है। किन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और घट, घट ही रहता है।

भावार्थ—ज्ञानका यह स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है, उसी पदार्थके आकार हो जाता है। ऐसा होने पर भी वह ज्ञान पदार्थ रूप परिणत नहीं होता है, वास्तवमें वह तो ज्ञान ही है। इसी प्रकार जीवात्मा भी वास्तवमें रागद्वेषादि विकार मय नहीं है।

समुद्रका दृष्टान्त—

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं सदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥ १७१ ॥

अर्थ—वायुके निमित्तसे प्रेरित होता हुआ समुद्र ऊंची ऊंची तरङ्गोंको धारण करता है। परन्तु ऐसा होने पर भी समुद्र और वायुमें अभिन्नता नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओंको धारण करता है, वास्तवमें वह पुद्गलसे अभिन्न नहीं है।

सैन्धवका दृष्टान्त—

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यथानेकरसं पुनः ॥ १७२ ॥

अर्थ—वास्तवमें नमकका स्वाद एक रस स्वरूप है, उसका [illegible] होता है। परन्तु भिन्न भिन्न प्रकारके व्यंजनोंमें पहुंचनेसे भिन्न भिन्न रीतिसे स्वाद आता है। लेकिन नमक तो नमक ही रहता है। वह किसी भी वस्तुमें क्यों न मिला दिया जाय, नमकका दूसरा स्वाद नहीं बदलेगा।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गल सम्बन्धसे अनेक अवस्थाओंमें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आत्मा शुद्ध स्वरूप एक रसमें ही प्रतीत होता है।

कमलका दृष्टान्त—

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत्।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः॥ १६५॥

अर्थ—यद्यपि कमल जलमें मग्न है तथापि वह जलमें नहीं है। वास्तव दृष्टिसे जलमें कमल नहीं है। क्योंकि उसका जलसे भिन्न रहनेका स्वभाव है।

भावार्थ—उसी प्रकार जीवात्माका स्वभाव भी वास्तवमें पुद्गलसे भिन्न है जिस प्रकार कि जलमें डूबे रहने पर भी कमल जलसे भिन्न है।

जलका दृष्टान्त—

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम्।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत्॥ १६६॥

अर्थ—जो जल कीचड़में मिला हुआ है, उस जलमें भी यदि तुम जलका स्वभाव देखो, कीचड़का न देखो तो तुम्हें मिली हुई अवस्थामें भी कीचड़से भिन्न शुद्ध जलकी ही प्रतीति होगी। इसी प्रकार जीवात्मा भी पुद्गलसे भिन्न प्रतीत होता है।

अग्निका दृष्टान्त।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन्।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम्॥ १६७॥

अर्थ—जिस समय अग्नि तिनकेको जला रही है, उस समय उस अग्निको तिनकेके निमित्तसे-उपचारसे तिनकेकी अग्नि कह देते हैं। परन्तु वास्तवमें तिनकेकी अग्नि क्या है? अग्नि ही अग्नि है। अग्नि तिनका नहीं है। और न तिनका अग्नि है। अग्नि, अग्नि ही है और तिनका, तिनका ही है।

दर्पणका दृष्टान्त—

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी॥ १६८॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें मयूरके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब (छाया) पड़ता है। परन्तु वास्तवमें छाया पड़ने पर भी वहां मयूर नहीं है। केवल दर्पण ही है। उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे आत्मा अशुद्ध प्रतीत होता है वास्तवमें वह शुद्ध निजात्मा ही है।

स्फटिकका दृष्टान्त—

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि।
अर्थात्सोऽपि विकारश्चावास्तवस्तत्र वस्तुतः॥ १६९॥

अर्थ—जपापुष्प जबतक रहता है, उस समय स्फटिक पत्थरके नीचे रहनेसे

प्रकाशका उपदेश भी कैसे हो सकता है ? जो पुरुष अन्धकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है । जिसने कभी अन्धकारमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा ?

आशङ्का—

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर (कुछ प्रयोजनकी पूर्ति नहीं) हैं इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य सार्थक (कुछ प्रयोजन रखता है) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन—

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनसे अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी बिना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नहीं होता । क्योंकि कारणसामग्रीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

शङ्काकार—

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि उन नौ पदार्थोंसे जीवका भिन्न स्वरूप है, वह शुद्ध है, नित्य उद्योतशील है, निरोग है, और वही शुद्ध स्वरूप सम्यक्त्वका विषय है । परन्तु उस शुद्ध स्वरूपको जगत् तब तक नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिथ्यात्वरूप अंधेरेसे व्याप्त (अन्धा) हो रहा है । जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही शीघ्र उस शुद्ध जीवात्माको देखने लगता है ।

उत्तर—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वेस्तः शुद्धाशुद्धे क्रियार्थतः ॥ १८१ ॥

फलितार्थ—

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक दृष्टांतोंसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हो चुका। वह अभीष्ट यही है कि ये आत्माकी नौ अवस्थायें (नव पदार्थ) अवश्य कहने चाहिये।

भावार्थ—अनेक लोगोंका इस विषयमें विवाद था कि नौ पदार्थ कहने चाहिये अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिये। इस विषयमें उपर्युक्त दृष्टान्तोंद्वारा आचार्यने नौ पदार्थोंकी आवश्यकता भी बतला दी है। विना नौ पदार्थोंके स्वीकार किये शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं होती है। इसलिये नव पदार्थ भी कहने योग्य हैं।

एकान्त कथन और उसका परिहार—

केचित्तु कल्पयते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १७४ ॥
तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी तीव्रतासे भूले हुए कोई तो कहते हैं कि ये नव पदार्थ नहीं कहना चाहिये। क्योंकि ये सर्वथा त्याज्य हैं। इन नवों पदार्थोंसे आत्माका शुद्ध निराला सर्वथा भिन्न ही है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है। इन नव पदार्थोंको सर्वथा ही न कहा जाय अथवा ये सर्वथा ही त्यागने योग्य हैं यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती है। और उन नौ पदार्थोंके छोड़नेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती है।

भावार्थ—अशुद्धताके माननेपर ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं। इसलिये व्यवहार नयसे ये नव पदार्थ भी ठीक हैं और निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।

नौ पदार्थोंके नहीं माननेमें और भी दोष—

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥

अर्थ—इन नौ पदार्थोंको निन्द्य तथा त्यागने योग्य बतलाया है और शुद्धात्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य बतलाया है। यदि इनको सर्वथा ही छोड़ दिया जाय तो इनमें त्याग करनेका उपदेश भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? और शुद्ध आत्मा

प्रकाशका उद्देश भी कैसे हो सकता है ? जो पुरुष अन्धकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है । जिसने कभी अन्धकारमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा ?

आशङ्का—

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर (कुछ प्रयोजनभी भूत नहीं) हैं इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य सार्थक (कुछ प्रयोजन रखता है) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन—

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनसे अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी बिना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि कारणसामग्रीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

शङ्काकार—

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योतं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि उन नौ पदार्थोंसे जीवका निज रूप भिन्न ही है, वह शुद्ध है, नित्य उद्योतशील है, निरोग है, और वही शुद्ध रूप सम्यक्त्व गोचर है । परन्तु उस शुद्ध रूपको जगत् तब तक नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिथ्यात्व रूपी अँधेरेसे व्याप्त (अन्धा) हो रहा है । जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही शीघ्र उस शुद्ध जीवात्माको देखने लगता है ?

उत्तर—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वेस्तः शुद्धाशुद्धे क्रियार्थतः ॥ १८१ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही विरोधी धर्म हैं। और विरोधी पदार्थ एक स्थानमें रह नहीं सकते। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों एक स्थानमें कैसे रह सकती हैं ? क्यों नहीं रह सकतीं ? इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अर्थ—यदि वास्तवमें जीवमें शुद्धता ही मानी जाय तो अशुद्धता किस प्रकार हो सकती है ? यदि हो सकती है तो वह फिर नित्य क्यों नहीं ?

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८३ ॥

अर्थ—यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तो बन्धका अभाव कभी नहीं हो सकता, यदि वह अशुद्धता नित्य है तो इस जीवात्माकी मुक्ति ही असंभव हो जायगी।

भावार्थ—आचार्यने सर्वथा शुद्ध तथा सर्वथा अशुद्ध पक्षमें दोष बतलाकर कथंचित् दोनोंको ही स्वीकार किया है। इससे शङ्काकारका जीवको सर्वथा शुद्ध मानना अयुक्त ठहरता है।

फलितार्थ—

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए तीनों श्लोकोंसे यह परिणाम निकालना चाहिये कि जिस समय आत्मा जिस भावसे सहित है उस समय वह उसी भावमें तल्लीन हो रहा है। उस समय उसकी और कोई गति नहीं है।

इसीका खुलासा—

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदास्ति तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिस समय आत्मा शुभ भावोंको धारण करता है उस समय आत्मा शुभ है, जिस समय अशुभ भावोंको धारण करता है, उस समय आत्मा अशुभ है, जिस समय शुद्ध भावोंको धारण करता है, उस समय वही आत्मा शुद्ध है। ऐसा होनेमें कारण यह है कि जिस समय वह आत्मा जिन भावोंको धारण करता है उस समय उन्हीं भावोंसे तन्मय आत्मा हो जाता है।

सारांश—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—इसलिये अशुद्धतासे विलक्षण जो शुद्ध जीव है वह उन नौ पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न है । सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है । ऐसा भी कह सकते हैं कि विकारके दूर हो जानेपर वे नौ पदार्थ ही शुद्ध स्वरूप हैं ।

भावार्थ—जीवकी ही नव रूप विकारावस्था है इस लिये उस विकारावस्थाके हटा देनेपर वही जीव शुद्ध हो जाता है ।

पहले शंकाकारने शुद्ध जीवको नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न बतलाया था, परन्तु इस कथनसे कथंचित् अभिन्नता सिद्ध की गई है ।

सूत्रका आशय—

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम् ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

अर्थ—श्रीमद्भगवान् उमास्वामीने " तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् " इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही सूत्रका आशय उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता है । अब उन्हीं जीवादिक नव तत्त्वों (पदार्थों) को क्रमसे बतलाते हैं—

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥
सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—वे नव पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप । ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं अर्थात् इन्हींका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी है और ये पदार्थ वास्तविक हैं ।

आचार्यकी नयी प्रतिज्ञा—

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

अर्थ—पूर्वापर विचार करनेमें अति चतुर कविवर (आचार्य) अब जीवके विषयमें व्याख्यान करते हैं—

भावार्थ—आचार्यने इस श्लोक द्वारा कई बातोंको सिद्ध कर दिखाया है । प्रतिज्ञा तो इस बातकी की है कि अब वे जीवका निरूपण सबसे पहले करेंगे । अपनेको उन्होंने कवि

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥
यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेत्तत् सुखादिवत् ॥२०७॥

अर्थ—यह आत्मा सुख दुःख आदि विकारोंके होनेपर स्वयं तन्मय हो जाता है। सांसारिक सुख मिलनेपर समझता है कि मैं सुखी हूं, दुःख होनेपर समझता है कि दुःखी हूं इस प्रकार सब वस्तुओंमें ऐसी ही बुद्धि इसकी हो रही है। कभी कभी ऐसा भाव भी करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रुको अवश्य ही मार डालूंगा तथा अपने मित्रको कभी नहीं मारूंगा। इन बातोंसे यह बात सिद्ध होती है कि यह जगत् सुख दुःखादिका वेदन करनेवाला है।

उपलब्धि प्रत्यक्षात्मक है—

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अर्थ—यहां पर स्वयं जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष ही समझना चाहिये वही समझ सकता है कि यह सुख दुःखकी जो आत्मामें उपलब्धि होती है वह स्मृतिज्ञान नहीं है किन्तु उससे भिन्न ही है।

उपलब्धिका अनुभव होता है—

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ २०९ ॥

अर्थ—आत्मामें सुख दुःखका अनुभव होता है इसलिये इसकी उपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। क्योंकि यह आत्मा विना किसीके कहे हुए संस्कारके ही कभी सुखका और कभी दुःखका अनुभव करता है यह सुप्रतीत है।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ २१० ॥

अर्थ—इस सुख दुःखके स्वादुसंवेदनकी तरह प्रत्यभिज्ञान अथवा केवलज्ञान की ऐसा नहीं है। प्रत्यभिज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुका ज्ञान मात्र तो करते हैं, परन्तु वस्तुके स्वादका अनुभव नहीं करते। इसलिये यह उपलब्धि उक्त दोनों ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारकी ही है।

भावार्थ—वस्तुके स्वयं अनुभव करनेमें और दूसरेको उसका ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष
न्तर है। शास्त्रज्ञ नारकियोंके दुःखका केवल ज्ञान रखते हैं परन्तु नारकी उस दुःखका
नुभव करते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भी वस्तुका ज्ञान मात्र करते हैं उसका
वाद नहीं लेते।

क्योंकि—

***व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।**
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥ २११ ॥

अर्थ—जिसका जिसके साथ व्याप्य व्यापक भाव (सम्बन्धविशेष) होता है उसीका
के साथ अनुभव घटता है। व्याप्य व्यापक भाव अपने सुख दुःखका अपने साथ है। दूसरेके
नहीं। क्योंकि व्याप्य व्यापकपना सर्वत्र वस्तुओंमें भिन्न २ हुआ करता है।

भावार्थ—हरएक आत्माके गुणका सम्बन्ध हरएक आत्माके साथ जुदा है। इसलिये
आत्माके सुख दुःखका अनुभव दूसरा आत्मा कभी नहीं कर सकता है। हां उसका उसे
हो सकता है। किसी बातके जाननेमें और स्वयं उसका स्वाद लेनेमें बहुत अन्तर है।

अशुद्धोपलब्धि बन्धका कारण है—

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

र्थ—यह जो सुख दुःखादिककी उपलब्धि होती है वह अशुद्ध-उपलब्धि है तथा
परिणामको लिये हुए है अर्थात् वह उपलब्धि कर्मोंके उदयसे होनेवाली है। इसी
होना ही फल बतलाया गया है।

अशुद्धोपलब्धि ज्ञान चेतना नहीं है—

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाचिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

अर्थ—वह उपलब्धि, अशुद्ध-उपलब्धि कहलाती है। उस उपलब्धिमें यथार्थ ज्ञान
नहीं होता, किन्तु मिथ्या स्वादुसंवेदन रूप ज्ञानाभास होता है। इसलिये उसे ज्ञानचेतना
नहीं कह सकते। किन्तु अशुद्ध ज्ञानका संस्कार लिये हुए ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी और
कर्मफलके भोगनेकी प्रधानता होनेसे उसे कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान चेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है। इसलिये वह कथका

---

* अल्प देशवृत्ति पदार्थ व्याप्य कहलाता है, अधिक देशवृत्ति व्यापक कहलाता है परन्तु
भी स्थूल कथन है। समानतामें भी व्याप्य व्यापक भाव होता है। यह एक सम्बन्ध विशेष
। जैसे वृक्ष और शिंशपाका होता है।

कारण नहीं है, और वही शुद्धोपलब्धि है। अशुद्धोपलब्धिमें कर्मजनित उपाधियोंकी प्रधानता है। उन्हींका स्वादुसंवेदन होता है। वहां ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अथवा अज्ञान रूपमें कर्मफल भोगनेकी प्रधानता है इसलिये उसे कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना कहते हैं। ये ही दोनों कर्मबन्धकी मुख्यता रखती हैं। अब इन्ही दोनों चेतनाओंके स्वामियोंको बतलाते हैं।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

अर्थ—यह कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना सामान्यरीतिसे सभी संसारी जीवोंके होती है। यह सम्यक्त्व पूर्वक नहीं होती है, किन्तु साधारण रीतिसे हरएक संसारी आत्मामें पाई जाती है।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥२१५॥

अर्थ—यह भी नियम नहीं है कि आत्मोपलब्धि मात्र ही सम्यग्दर्शन सहित होती है, यदि वह उपलब्धि शुद्ध हो तबतो सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। यदि वह उपलब्धि अशुद्ध हो तो सम्यग्दर्शन भी नहीं समझना चाहिये।

भावार्थ—आत्मोपलब्धि शुद्ध भी होती है तथा अशुद्ध भी होती है। शुद्धोपलब्धिके साथ सम्यग्दर्शनकी व्याप्ति है, अशुद्धोपलब्धिके साथ नहीं है। इस कथनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि सभी उपलब्धियां सम्यक्त्व सहित नहीं हैं।

शङ्काकार—

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि पूर्वोक्त आत्मोपलब्धि अशुद्ध ही है। अथवा किसी रूपसे अशुद्ध है? क्या सदा बन्ध करनेवाली है? अथवा कभी बन्धका कारण नहीं भी है?

उत्तर—

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना।
अस्त्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥

अर्थ—हां ठीक है, सुनो। यदि वह उपलब्धि सम्यग्दर्शनके होनेपर हो, तो शुद्ध है और बिना सम्यग्दर्शनके वही अशुद्ध है। सम्यग्दर्शनके होनेपर वह बन्धका कारण नहीं है और सम्यग्दर्शनके अभावमें बन्धका कारण है।

पुनः शङ्काकार—

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शन तो शुद्ध है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध है और दोनोंका विषय एक ही है। ऐसी अवस्थामें एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध कैसे हो सकता है?

उसीकी दूसरी शङ्का—

यथा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीकी नव तत्त्वों (नव पदार्थो) के विषयमें आत्मोपलब्धि होती है। यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है, तब नौ पदार्थ कहांसे हो सकते हैं।

भावार्थ—शङ्काकारका आशय है कि सम्यग्दृष्टि नव तत्त्वोंका अनुभव करता है। यदि वह अनुभव शुद्ध है तो नौ तत्त्व कैसे हो सकते हैं, क्योंकि नौ तत्त्व तो कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले हैं, शुद्ध नहीं है, इसलिये यातो वह उपलब्धि शुद्ध नहीं है, अथवा वह शुद्ध है तो नव तत्त्व नहीं ठहरते,

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वेधाभावसद्भावतः पृथक् ॥२२०॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त दोनों शङ्कायें ठीक नहीं हैं क्योंकि वस्तु एक होनेपर भी उसमें किसी जनानेवाले अभिव्यञ्जक (सूचक) के द्विधाभाव होनेसे भिन्न २ निरन्तर स्वाद भेद हो जाता है।

भावार्थ—जैसा सूचक होता है वैसी ही वस्तुकी प्रतीति होने लगती है, सूचक दो प्रकार है। इसलिये वस्तु एक होनेपर भी उसमें दो प्रकार ही स्वादुभेद होजाता है।

इसी बातका स्पष्टीकरण—

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥

अर्थ—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें अशुद्धता समझी जाती है। सद्वस्तुका बोध करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको वस्तुका सामान्यरूपसे स्वाद आता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिपुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्यरीतिसे जानते हैं

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीकी क्रियामें बड़ा भारी अन्तर है। मि की क्रिया तो बन्धका कारण है और सम्यग्दृष्टीकी क्रिया, बन्धका कारण तो दूर रहो, पूर्व बँधे हुए कर्मोंकी निर्जराका कारण है।

ऐसा होनेमें हेतु—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥२३१॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंके ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानस्वरूप भाव ही सदा होते हैं सम्यग्दृष्टियोंमें अज्ञानसे होनेवाले अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है।

भावार्थ—बन्धके कारण अज्ञानमय भाव हैं। वे सम्यग्दृष्टियोंके होते नहीं है लिये सम्यग्दृष्टीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है किन्तु शुद्ध ज्ञानकी मात्रा होनेसे नि हेतु है।

ज्ञानीका चिह्न—

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनतारूप ज्ञान तथा अपनी आत्माका अ स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिन्ह सम्यग् हैं और वही ज्ञानी नियमसे जीवन्मुक्त है।

ज्ञानीका स्वरूप—

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥ २३३ ॥

अर्थ—ज्ञानी, ज्ञानका ही अद्वितीयपात्र है। वही आत्माको जाननेवाला है, ज्ञ अपनी आत्माको देखता है। वही ज्ञानी, कर्मोंसे बँधनेका तथा अन्य पदार्थोंसे मि स्थान नहीं है। क्योंकि कर्मोंसे बँधना और मिलना आदि भाव उसके स्वरूप नहीं है।

और भी—

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष जैसा अपने आपको प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकारका स्वा लेता है। अर्थात् वैसा ही अनुभव करता है। वह अपनेको सदा सबसे अमिल, असम्ब और निश्चल समझता है।

सम्यग्ज्ञानीका स्वात्मावलोकन—

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसङ्गं व्योमवत् सदा ॥ २३५ ॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ २३६ ॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चेच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥ २३७ ॥

अर्थ—ज्ञानी सदा अपनी आत्माको इस प्रकार देखता है कि आत्मा कर्मोंसे नहीं बँधा है, वह किसीसे नहीं मिला है, शुद्ध है सिद्धोंकी उपमा धारण करता है, शुद्ध स्फटिकके समान है, सदा आकाशकी तरह परिग्रह रहित है, अतीन्द्रिय-अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्यकी मूर्ति है और अतीन्द्रिय सुख आदिक अनन्त स्वाभाविक गुणवाला है। इस प्रकार ज्ञानकी ही अद्वितीय मूर्ति-वह ज्ञानी अपने आपको देखता है। प्रसङ्गवश दूसरे पदार्थकी भले ही इच्छा करे, परन्तु वास्तवमें वह समस्त पदार्थोंसे कृतार्थ-सा ही है। दूसरे सांसारिक पदार्थोंके विषयमें भी वह इस प्रकार चिन्तवन करता है

सम्यग्दृष्टिके विचार—

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जो सांसारिक (इस लोक सम्बन्धी) सुख है वह सब पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंसे होनेवाला है। वास्तवमें वह सुख नहीं है, किन्तु सुखका आभासमात्र है, निश्चयसे वह दुःख ही है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अर्थ—इसलिये वह सुखाभास छोड़ने योग्य है। वह स्वयं दुःख स्वरूप है। और दुःखरूप फलको देनेवाला है, उस सदा अनिष्ट करनेवाले वैषयिक सुखका कारण कर्म है इसलिये उस कर्मका ही नाश करना चाहिये।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥ २४० ॥

अर्थ—वह सम्पूर्ण पौद्गलिक कर्म सर्वथा आठ प्रकार है, उसी कर्मका आत्मासे विपरीत होनेसे सभी फल दुःखरूप ही होता है।

* [illegible] दुःखरूप ही [illegible] है।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २६६ ॥

अर्थ—इन्द्रियार्थ सेवियोंकी विषय-रति देखनेमें भी आती है, वे लोग उन्हीं पदार्थोंको जैसे सुहित सा मानने लगते हैं। जिस प्रकार खराब रक्त (लोहू) के पीनेमें ही जोंक (जलजन्तु) हित समझती है और उसीसे प्रेम करती है। उसी प्रकार इन्द्रियार्थ सेवियोंकी अवस्था समझनी चाहिये। यह उनका प्रेम तृष्णाका बीज है अर्थात् उस रीतिसे तृष्णाकी वृद्धि ही होती जाती है।

देवेन्द्र, नरेन्द्रोंको भी सुख नहीं है—

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥ २६७ ॥

अर्थ—केवल पुण्यको धारण करनेवाले जो इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक बड़े पुरुष हैं उनके भी तृष्णाका बीजभूत विषय-लालसा है, इसलिये उनको भी सुखकी प्राप्ति कहां रक्खी है।

भावार्थ—संसारमें सर्वोपरि पुण्यशाली इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक हैं वे भी इस विषय-रतिसे दुःखी हैं, इस लिये सच्चे सुखका स्वाद वे भी नहीं ले सके।

ग्रन्थान्तर—

*** जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहाव ।**
जदि तं णत्थि सहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ २ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंकी विषयोंमें तीव्र लालसा है, उन्हें स्वाभाविक दुःखी समझना चाहिये। क्योंकि बिना उस दुःख-स्वभावके विषयसेवनमें उनका व्यापार ही नहीं हो सकता।

भावार्थ—पहले पीडा उत्पन्न होती है, उसीका प्रतीकार विषयसेवन है। परन्तु विषयसेवन स्वयं पीडाका उत्पादक है। इस लिये विषय सेवीको दुःखधारा सदा प्रवाहित ही रहती है।

सारांश—

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद्दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २६८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका समस्त सारांश यह निकला कि जितने संसारमें सुख माना वह दुःख ही है और दुःख आत्माका धर्म नहीं है। इसी लिये सम्यग्दृष्टी पुरुषको विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती।

* यह भी क्षेपक गाथा है।

है। वहां पर जो उसे इष्ट प्रतीत होता है उसीसे वह रुचि भी करता है। फिर उसकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं, ऐसा किस प्रकार कह सक्ते हैं ?

उत्तर—

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह बात ठीक है कि जब तक सम्यग्दृष्टी जघन्य श्रेणी (नीचे दरजे) में है, तब तक वह पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करता है तथा उनसे रुचि भी करता है। उस जघन्य श्रेणीका कारण भी चारित्र मोहनीय कर्म है।

भावार्थ—अन्तरात्माके तीन भेद शास्त्रकारोंने बतलाये हैं—जो महाव्रतको धारण करनेवाले मुनि हैं वे तो उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, देशव्रतको धारण करनेवाले पञ्चम गुणस्थानवर्ती जो श्रावक हैं वे मध्यम-अन्तरात्मा हैं, और जो व्रत विहीन (अव्रती) केवल सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं वे जघन्य-अन्तरात्मा हैं।

इस जघन्यतामें कारण चारित्र मोहनीयका प्रबल उदय है। उसीकी प्रबलतासे पंचेन्द्रिय के विषयोंमें रुचि करते हैं और त्रस, स्थावर हिंसाके भी त्यागी नहीं हैं। इतना अवश्य है कि वे विषयोंकी निःसारताको अच्छी तरह समझे हुए हैं इसी लिये उनमें उनसे मिथ्यादृष्टियोंकी तरह गाढ़ता और हित रूपा बुद्धि नहीं होती है परन्तु सब कुछ जान करके भी [illegible] सम्यग्दृष्टी पुरुष त्याग नहीं कर सक्ते। त्याग रूपा उनकी बुद्धि तभी हो सकती है जब कि चारित्र मोहनीयका उदय कुछ मन्द हो और वह मन्दता भी तभी आ सकती है जब कि अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो। बिना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम हुए नियमसे नहीं रहा जा सकता है, [illegible] [illegible] है उसीका नाम देशव्रत है। इस लिये पञ्चम गुणस्थानवर्तीको ही [illegible] [illegible] कहते हैं।

[illegible] उक्त सभी पदार्थोंमें आसक्त रहने पर भी वह सम्यग्दर्शन गुणके कारण [illegible] [illegible] [illegible] है। उनका [illegible]-विनोद पदार्थोंमें उनका [illegible] [illegible] है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

चारित्रमोहनीय ही बंधका कारण है—

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥ २६८ ॥

अर्थ—इष्ट पदार्थोंमें यह जीव चारित्रमोहनीयके उदयसे ही रत होता है, [illegible] चारित्रमोहनीयके विना सर्वदा शुद्ध है, वीतराग है और अतीन्द्रिय है।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके दूर होनेसे पहले ही पदार्थोंमें राग भाव है, इन्द्रिय [illegible]न्य पदार्थोंकी लालसा है, और उससे होनेवाली मलिनता भी है। सम्यग्दृष्टी इसी [illegible]रित्रमोहनीयसे बाध्य होकर विषयोंमें फंस जाता है।

भोगोंमें प्रवृत्तिका कारण चारित्रमोहनीय है—

दृङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छतः ।
हेतुसद्भावतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ २६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेसे भोगोंकी इच्छा निश्चयसे नहीं होती वह भोगोंको नहीं चाहता, परन्तु हेतुकी सत्तासे अवश्य ही बलित होकर उसे उप[illegible]भोग क्रिया करनी पड़ती है। हेतु, वही चारित्र मोहनीय है।

फिर भी सम्यग्दृष्टी वीतरागी है—

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोऽनिच्छितोप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दृष्टी उपभोग क्रिया करता है अर्थात् भोग, उपभोगका सेवन [illegible]करता है, तथापि वह वीतराग है। क्योंकि उसके भोगोपभोगकी क्रिया मात्र देखी जाती है, [illegible]चाहना नहीं है, और चाहना नहीं होनेपर भी उसे ऐसा करना पड़ता है। संसारमें कोई नहीं [illegible]चाहता कि मेरे पास दरिद्रता आजाय, अथवा मेरी मृत्यु होजाय। ऐसा न चाहनेपर भी [illegible]के उदयसे दारिद्र्य आता ही है और आयुकी क्षीणतासे मृत्यु होती ही है। उसी प्रकार [illegible]रित्रमोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टिको सांसारिक वासनाओंकी इच्छा न होनेपर भी उसे [illegible]बुद्धिके लिये बाध्य होना पड़ता है। *

* [illegible] आशाधरने भी सागारधर्मामृतमें कहा है—
भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं [illegible]
[illegible] चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्, शर्माक्षं भजते [illegible]
—जैसे कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ चोर [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ १३ ॥

दृष्टान्त—

व्याधिपीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥

अर्थ—कोई आदमी जिसको कि रोग सता रहा है रोगका प्रतीकार (नाश) करता है। रोगका प्रतीकार करने पर भी वह रोगी रहना नहीं चाहता, तो क्या वह कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे रोग हो जाय।

भावार्थ—जिस आदमीको दाद हो गया हो वह उस दादका इलाज करता है। इलाज करनेसे उसका दाद चला जाता है, तो क्या दादके चलेजानेसे वह ऐसा भी कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे दाद हो जावे ? कभी नहीं।

दार्ष्टान्त—

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी भी चारित्रमोहनीय कर्मसे पीडित होकर उस कर्मसे उत्पन्न होनेवाली क्रियाको करता है। परन्तु उस क्रियाको करता हुआ भी वह उस स्थानको (उसी क्रियाको) पसन्द नहीं करता है। तो फिर उसके अभिलाषा (चाहना) है, ऐसा किस नयसे कहा जा सकता है ?

अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया है—

चारित्रोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥ २७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके इच्छाके बिना भी क्रिया होती है यह बात असिद्ध नहीं है। जो रोगी है वह वेदनाका प्रतीकार करता है, परन्तु वह उसका प्रतीकार करना रोगादिके होनेका कारण नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार रोगके दूर करनेका उद्योग रोगका कारण कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टीकी बिना इच्छाके होनेवाली क्रिया अभिलाषाको पैदा नहीं कर सकती।

सम्यग्दृष्टी भोगी नहीं है—

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥

[illegible]

अर्थ—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन भी करता है, तो भी उनका सेवक नहीं समझा जाता क्योंकि राग विहीन पुरुषका इच्छाके बिना किया हुआ कर्म उसके रागके लिये नहीं कहा जा सकता ।

सम्यग्दृष्टीकी चेतना—

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

अर्थ—किसी किसी सम्यग्दृष्टीके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी होती है, परन्तु वास्तवमें वह ज्ञान चेतना ही है । (१) ×

ज्ञानचेतना क्यों है—

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

अर्थ—चाहे कर्मचेतना हो अथवा कर्मफलचेतना हो, दोनोंका ही फल बन्ध है अर्थात् दोनों ही चेतनायें बन्ध करनेवाली है । सम्यग्दृष्टीके रागका (अज्ञानभावका) अभाव होचुका है, इस लिये उसके बन्ध नहीं होता, इसी लिये वास्तवमें उसके ज्ञानचेतना ही है ।

भावार्थ—कोई यह शङ्का कर सकते हैं कि बन्ध तो दशवें गुणस्थान तक होता है क्योंकि वहां भी सूक्ष्म लोभका उदय है, फिर सम्यग्दृष्टीके लिये रागके अभावसे बन्धका अभाव क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दृष्टीके राग होनेसे बन्ध होता है, परन्तु जिन मोहित अज्ञान परिणामोंसे मिथ्यादृष्टीके बन्ध होता है वैसा सम्यग्दृष्टीके नहीं होता । सम्यग्दृष्टीका राग, मिथ्यात्वमिश्रित नहीं है इसी लिये उसके उसका अभाव बतलाया गया है ।

साक्ष और आभास—

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है । इन दोनों ही प्रकारोंमें आदिके दो

× सम्यग्दृष्टिके पहले ज्ञान चेतना ही बतलाई है, परन्तु यहांपर उसके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी बतलाई है । आगे भी कर्म और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टिके बतलाई है । कारण ऐसा है कि उसके चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ये दो चेतनायें कही गई हैं । वास्तवमें तो उसके राग न होनेसे ज्ञानचेतना ही है । सम्यग्दृष्टिके उपचारसे कर्मचेतना ही कही गई है और कर्म चेतनायोंका स्वामित्व मिथ्यादृष्टि बतलाया है ।

अर्थात् इंद्रियजन्य सुख और ज्ञान ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और पीछेके दो अर्थात् न्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अच्छी तरह ग्रहण करने योग्य हैं। इन्द्रियजन्य विषयमें तो पहले कह चुके हैं अब इन्द्रियजन्य ज्ञानमें दोष बतलाते हैं—

इन्द्रियज ज्ञान—

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत्॥ २७८॥

अर्थ—जो ज्ञान पर (इन्द्रिय और मन) की सहायतासे होता है वह एक पदार्थमें क्रमसे परिगमन करता है। इसी लिये वह निश्चयसे व्याकुल है, मोहसे मिला है, दुःख स्वरूप है और अनर्थ करनेवाला है।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थका ग्रहण पूरी तौरसे नहीं होता है, कि एक एक पदार्थका, सो भी स्थूलतासे पदार्थके एक देशांशका होता है। बाकी अंश पदार्थान्तरोंके जाननेके लिये वह सदा व्याकुल (चञ्चल) रहता है। साथमें वह मोहनी कर्मके साथ मिला हुआ है इसलिये पदार्थका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सका, इसलि वह अनर्थकारी है। वास्तवमें वह दुःख देनेवाला ही है इससे दुःख स्वरूप है। उस ज्ञान आत्मा सन्तुष्ट (सुखी) नहीं होता।

दुःख रूप क्यों है ?

सिद्धं दुःखत्वमस्यांचेव्याकुलत्वोपलब्धितः।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात्॥ २७९॥

अर्थ—जो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं होता है अथवा एक ही पदार्थका जो अंश नहीं जाना जाता है उसी सबके जाननेके लिये वह ज्ञान उत्कण्ठित, तथा अधीर रहता है, इसलिये वह व्याकुलता पूर्ण है। व्याकुलता होनेसे ही वह ज्ञान (इन्द्रियज) दुःखरूप है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम्॥ २८०॥

अर्थ—शेष पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रखनेवाला मन (इन्द्रियां भी) अज्ञानसे व्याकुल है, यह तो है ही, परन्तु जिन यथार्थ पदार्थोंमें वह उपयुक्त (लगा हुआ) है। उनके विषयमें भी वह दुःखप्रद ही है। किस प्रकार ? सोई बतलाते हैं—

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात्॥ २८१॥

अर्थ—इन्द्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान, मोह सहित है इसलिये प्रमत्त है

[illegible]

होता है इस लिये बीच बीचमें रुक जाता है, और पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रह होता है, फिर ईहा फिर अवाय, फिर धारणा, इस तरह बहुतसे ज्ञान होने पर तब कहीं पूरा ज्ञान होपाता है इसलिये कठिन साध्य है।

और भी दोष—

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ २८२ ॥

अर्थ—वह पराधीन होता है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियोंसे होता है इसलिये य जन्य (एक देश) ज्ञान कहलाता है। फिर भी उसमें संशय विपर्ययादिक अनेक आते हैं इसलिये वह ज्ञान सदोष है।

और भी दोष।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥

अर्थ—इन्द्रियज ज्ञान बन्धका कारण है इसलिये वह विरुद्ध है, वह बन्धका '' है इसलिये वह ज्ञान आत्मीय नहीं कहलाता, किन्तु कर्मसे होने वाला है, वह आत्माका धर्म नहीं है इसलिये आत्माको हानिकारक है और वह मलिन है इसलिये वह स्वय अपवित्र है।

और भी दोष—

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—वह ज्ञान मृगीरोगकी तरह कभी बढ़ जाता है और कभी घट जाता है, कभी दीखता है कभी नहीं दीखता इसलिये वह मूर्छित है।

और भी दोष—

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसंस्थितेः ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो कर्म आत्माका शत्रु है, और जो क्षणमात्रके लिये शान्त भी हो है, परन्तु अपनी सत्ता रखनेके कारण अवश्य ही अपने रसको देनेवाला है, ऐसे कर्मसे हुई आत्मासे वह ज्ञान रक्षा नहीं कर सकता।

इन्द्रियज ज्ञानकी अक्षमता—

दिग्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ २८६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियजन्य ज्ञान छह द्रव्योंमें केवल मूर्त (पुद्गल) द्रव्यको ही थि (थोड़ासा) जानता है। उस पुद्गल द्रव्यमें भी सूक्ष्म पदार्थोंको तो जानता ही नहीं, स्थूलोंको जानता है, सो भी सबोंको नहीं, किन्तु किन्हीं किन्हीं पदार्थोंको ही जानता

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥ २८७॥

अर्थ—उन किन्हीं किन्हीं स्थूल पदार्थोंमें भी जो ग्राह्य हैं अर्थात् इन्द्रियद्वारा करने योग्य हैं उन्हींको जानता है, जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जानता। ग्राह्य पदार्थों जो सामने मौजूद हैं उन्हींको जानता है, जो होचुके हैं अथवा जो होनेवाले हैं उन्हें नहीं जानता।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥ २८८॥

अर्थ—जो सामने मौजूद पदार्थ हैं उनमें भी जिन पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सन्नि (अत्यन्त निकटता) और सन्निकर्ष (संयोग) है उन्हीका ज्ञान होता है, उनमें भी अवग्रह आदिकके होने पर ही ज्ञान होता है अन्यथा नहीं।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि।
कदाचित्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९॥

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंके मिलने पर भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, भि भिन्न भिन्न पदार्थोंका होता है, वह भी तभी होता है जब कि ऊपर ऊपर कुछ शु बढ़ती जाती है, सो भी सदा नहीं होता किन्तु कभी कभी होता है।

ज्ञानमें शुद्धता विचार—

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तथानन्ताश्च शक्तयः ॥ २९०॥

अर्थ—ऊपर ऊपर ज्ञानमें शुद्धता जिस प्रकार आती है, इसी बातको कहते मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं और उन भेदोंमें भी अनन्त शक्तियां हुई हैं।

[illegible]

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोऽथवा।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ २९१॥

अर्थ—[illegible]

कर्मोंके भेद हैं उन आवरण करनेवाले कर्मोंकी भी सन्तान बराबर चलती रहती है।

भावार्थ—ज्ञानको ढकने वाले कर्मकी अपेक्षासे ही ज्ञानके भेद होते हैं। जितने भेद उस ढकनेवाले कर्मके हैं, उतने ही भेद ज्ञानमें हो जाते हैं। आवरण करनेवाले कर्मके असंख्यात भेद हैं। ये भेद स्कन्धकी अपेक्षासे हैं परन्तु प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको रोकनेकी शक्ति है इस लिये प्रत्येक परमाणुकी शक्तिकी अपेक्षासे उस कर्मके भी अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हैं। जैसा जैसा आवरण हटता जाता है वैसा वैसा ही ज्ञान प्रकट होता जाता है। इसी बातको नीचे बतलाते हैं—

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥ २९२ ॥
अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥ २९३ ॥

अर्थ—जिस आलाप (भेद–पटल) के जितने कर्मके अंशका क्षयोपशम होजाता है, ...ो ही ज्ञानकी अवस्था दूसरी होजाती है अर्थात् उतना ही ज्ञान प्रकट रूपमें आता है। ...प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है। उक्त दोनों कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें विशुद्धि होती है वही एक आलाप (ज्ञान–भेद) कहलाता है और शक्तिकी अपेक्षा भी उतना ही अंश (ज्ञान विशुद्धि) कहलाता है। भावार्थ—इसी प्रकार जितना २ ज्ञानावरण और वीर्या...न्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही ज्ञानांश प्रकट होता जाता है। ...आवरण क्रमसे हटते हैं इसीसे विशेष ज्ञान भी क्रमसे ही होता है। वे ही क्रमसे हटनेवाले ...आवरण और क्रमसे होनेवाले ज्ञान भिन्न भिन्न कहलाते हैं इसीका नाम आलाप है। यह ज्ञान ...ब्धि रूप है। अब उपयोगात्मक ज्ञानको बतलाते हैं—

उपयोगात्मक ज्ञान—

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २९४ ॥

अर्थ—जितना २ आवरण हटता है उतना २ ज्ञान प्रकट होता है यह ऊपर कह चुके ...न्तु इतना होनेपर भी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, आत्माके परिणाम जिस तरफ उन्मुख ...ते हैं उसीका ज्ञान होता है इसीका नाम उपयोग है। इसी उपयोगकी विशदतामें पञ्चे...न्द्रिय ना...म कर्म और मानस कर्म, ये दोनों हेतु हैं।

पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मका उदय होना चाहिये—

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्कचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥ २९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकारका कर्म (पञ्चेन्द्रिय, मानस) दैव योगसे कहीं किसीके प्रकार बँधता है और बन्ध होनेपर भी उसका उदय तभी होता है जब कि संक्रमणादिक

भावार्थ—कर्म बंधने पर भी यह नियम नहीं हैं कि उसका उदय हो ही होय, क कर्मोंमें फेरफार भी हुआ करते हैं। कोई कर्म भिन्न२ भावोंके अनुसार बदलता भी रहत एक कर्म दूसरे रूप होजाता है। जैसे कि अनन्तानुबन्धिकषाय द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बदल कर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, इनमेंसे किसी रूप होजाती फिर जो उसका उदय होगा वह इन्हीं तीनमेंसे किसी रूप होगा। अनन्तानुबन्धि रूपमें होसका। इसी प्रकार यहां बतलाते हैं कि जिस पुरुषके पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म बं बँधे, फिर भी वे अपने रूपमें तभी उदय होंगे जब कि उनमें किसी प्रकार परिवर्तन न हो परिवर्तनका नाम ही संक्रमण है। संक्रमणके भी अनेक भेद हैं। कोई पूर्ण प्रकृतिका परि करता है, कोई कुछ अंशोंका। इसीके अनुसार उसके उद्वेलन, संक्रमण, अधःप्रवृत्त, वि आदि नाम भी हैं। यदि इसका खुलासा जानना हो तो गोम्मटसार कर्मकाण्डको देखिये।

पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना चाहिये—

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥ २९६ ॥

अर्थ—आगे उस पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मके उदयमें दूसरा कारण भी बतलाते हैं। उपर्युक्त दोनों कर्मोंके साथ पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना आवश्यक है। बि पर्याप्तियोंके हुए शरीरादिक पूरे भी नहीं होपाते, बीचमें ही मृत्यु होजाती है। इस लि पर्याप्त कर्मका उदय भी अवश्य होना चाहिये।

इन्द्रिय और मनकी रचना—

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

अर्थ—पर्याप्त कर्मके उदय होने पर जो कर्म वर्गणायें भी आने लगती हैं वह स्वयं सिद्ध है उन नोकर्म वर्गणाओंके निमित्तसे मन और शरीरमें इन्द्रियोंका आकार बनता है।

उपयोगमें जड़ इन्द्रियां भी कारण हैं—

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥ २९८ ॥

अर्थ—उन इन्द्रियादिकोंकी रचनाकी भी दैवयोगसे समाप्ति हो जावे। फिर वहीं कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे स्वपर पदार्थका उपयोग हो। उसमें भी बाह्य हेतु द्रव्येन्द्रियां हैं।

उपयोगमें अन्यकारणकलाप—

अस्ति तथापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—इतना सब कुछ होने पर भी यदि सूर्य और दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान नहीं हो सक्ता है। इसलिये प्रकाशका होना आवश्यक है। और भी—पहले किसी स्थानमें किये हुए ज्ञानके संस्कार भी कारण हैं। फिर भी परम्परासे अवलोकन (प्रत्यक्ष) होता है।

हेतुकी हीनतामें ज्ञान भी नहीं हो सक्ता है—

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्ज्ञानसंभवात्।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अर्थ—इन ऊपर कहे हुए पञ्चेन्द्रियकर्म, मानस कर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिककी रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार आदि समग्र हेतुओंके होने पर ही वस्तुका ठीक २ भान (ज्ञान-प्रत्यक्ष) होना संभव है। यदि इन कारणोंमेंसे कोई भी कम हो तो पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता।

अस्ति तत्र विशेषोयं विना बाह्येन हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—यहां पर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञानके होने पर भी विना बाह्य कारणके मिले पदार्थोंका ज्ञान (उपयोग रूप) नहीं हो सक्ता है।

क्षयोपशमका स्वरूप—

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात्।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—देशघातिस्पर्धकोंका उदय होने पर सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयक्षय (उदयाभावी क्षय) होने पर क्षयोपशम होता है। ऐसी क्षयोपशम-अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदिकमें क्षयोपशमका कुलासा स्वरूप इस प्रकार है—" सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिस्पर्धकानामुदयात् क्षायोपशमिको भावः " जो कर्म आत्माके सम्पूर्ण रीतिसे गुणोंको घातें उन्हें घातिक कहते हैं, और जो गुणोंको एक देशसे घातें उन्हें देशघातिक कहते हैं।

अबुद्धि पूर्वक दुःख ही साध्य है—

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—जो छिपा हुआ—अबुद्धिपूर्वक दुःख है वही सिद्ध करने योग्य है। सिद्धि दो ही प्रकारसे हो सक्ती है, यातो कार्यको देखकर हेतु कहना चाहिये, अथवा आगमसे उसकी सिद्धि माननी चाहिये।

भावार्थ—किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके जाननेके लिये दो ही उपाय हैं। यातो कार्य देख कर उसका अनुमान करना, अथवा आगमप्रमाणसे उसे मानना।

अनुमानमें दृष्टान्त—

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अर्थ—कहीं पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान होजाता है। जिस प्रकार नाले (छोटी नदी) के बढ़े हुए प्रवाहको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि ऊपरकी ओर मेघ वर्षा हैं। विना मेघके बरसे नदका प्रवाह नहीं चल सक्ता। इसी प्रकार कार्यसे उसके कारणका अनुमान कर लिया जाता है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिका अनुमान—

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ ३१४ ॥

अर्थ—आत्माका सुख गुण स्वाभाविक है, वह स्वतः सिद्ध है और नित्य है, घातिया कर्मोंके घातसे नष्टसा होगया है अर्थात् अदृश्य होगया है। वही सुखका अदर्शन (अभाव) कार्य रूप हेतु है। वह हेतु सुखके विपक्षी दुःखका (जो कि आत्मामें है) अनुमान कराता है।

भावार्थ—आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे सुख गुणका अभाव दीखता है। उस सुखके अभावसे ही अनुमान करलिया जाता है कि आत्मामें दुःख है। क्योंकि सुखका अभाव ही दुःख है। जब सुख नहीं है तब दुःखकी सत्ताका अनुमान कर लिया जाता है। यदि दुःख न होता तो आत्मीक सुख प्रकट होजाता। वह नहीं दीखता इसलिये दुःखकी सिद्धि होता है बस यही कार्य—कारणभाव है। सुखका अदर्शन कार्य है उससे दुःखका का बोध होता है।

उसीका खुलासा वाक्य—

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके अबुद्धि पूर्वक दुःख है । क्योंकि सुखका अदर्शनरूप वाभाविक हेतु दीखता है ।

हेतुकी सिद्धता—

नासौ हेतुरसिद्धोस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त हेतु असिद्ध नहीं है । इस विषयमें बहुतसे प्रसिद्ध दृष्टान्त मौजूद हैं । सुखका जहां अभाव है वहां दुःख अवश्य है ऐसा फलितार्थ निकालनेमें व्यतिरेक व्यातिका सद्भाव है । जहां पर दुःख नहीं है वहां सुखका भी अदर्शन नहीं है जैसे कि अनन्तचतुय धारी अर्हन् सर्वज्ञ । अर्हन्त देवके दुःख नहीं है इसलिये अनन्त सुखकी उनके उपलगई है । यदि ऐसा कार्य–कारण भाव न माना जाय तो व्याप्ति भी नहीं बन सकती ।

व्याप्तिमें दृष्टान्त—

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अर्थ—व्याप्ति इस प्रकार है–जैसे किसी मूर्छितकी तरह चेष्टा विहीन पुरुषको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसने मदिरापान किया है । यद्यपि मदिरा–पान प्रत्यक्ष नहीं है तो भी उसका कार्य बेहोशी देखकर उस मदिरापान–कारणका अनुमान कर लिया जाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें जानना ।

दृष्टान्तका फल—

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ—संसारी जीवके निश्चयसे अबुद्धि पूर्वक दुःख है । यदि दुःख नहीं होता तो (आत्मीक) सुखका सर्वथा अदर्शन कैसे होजाता ।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—इस कर्मोंसे बंधे हुए आत्माके निरन्तर कर्मोंका उदय, उदीरणा आदि होनेसे अबुद्धि पूर्वक दुःख है ऐसा अनुमान होता है ।

घातिकर्मकी शक्ति—

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते र्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—सुख गुणके अभावमें होनेवाली जो आकुलता है, वह घातिया कर्मोंकी शक्ति है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्मोंका फल दीखता है। यदि वह कर्म-शक्ति नहीं है तो आत्माकी शक्तिका बाधक कर्म कैसे होता है?

सारांश—

न्यायात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२९ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध होचुकी कि कर्मसे बँधे हुए आत्माके जब तक कर्मोंका उदय होरहा है तब तक उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कम्प (कँपानेवाला) करनेवाला दुःख है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ ३३० ॥

अर्थ—यहां पर एक ऐसा दृष्टान्त भी है [illegible] वायुसे ताडित (प्रेरित) समुद्र व्याकुल होता है। [illegible] समुद्र है तब व्याकुलता रहित है, [illegible] है।

यहां पर 'स्वाधिकारप्रमत्तवान्' यह समुद्रका विशेषण तीन प्रकारसे [illegible] है। [illegible] है उस समय वह व्याकुल है। [illegible] है। [illegible] आत्मामें [illegible] [illegible] है। [illegible] है।

[illegible]—

न च वाच्यं सुखं [illegible] विद्यमानमिवास्ति तत् ।
[illegible] हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥ ३३१ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ ३३२ ॥

अर्थ—यदि सुखं गुण सदा विद्यमान ही माना जावे तो अवश्य दोष आते हैं। जो दोष आते हैं उनकी युक्ति पहले ही कही जा चुकी है। जो संसारी जीव है उसके वास्तवमें व्याकुलता यहां हो सकती है? और संसारी जीवके व्याकुलता है, इस लिये जाना जाता है कि सुखका अभाव है।

उसीको दूसरी शङ्का—

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत्।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनेकान्तवादी (जैन) एक पदार्थमें एक ही स्थानमें दो धर्म मान लेते हैं, इसलिये एक आत्मामें ही सुख व्यक्ति और उसीमें दुःख व्यक्ति मानलेना चाहिये अर्थात् एक ही आत्मामें एक समयमें सुख और दुःख दोनों मानना चाहिये। ऐसा माननेसे जैनियोंका अनेकान्तवाद भी घट जाता है? सो यह कहना भी असमझका है।

अनेकान्तका स्वरूप—

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अर्थ—एक वस्तुमें होनेवाला जो अनेकान्त है वह प्रमाण अवश्य है, परन्तु सब जगह नहीं। जहां पर गुण, पर्यायके कथनमें एकको मुख्य कर दिया जाता है और दूसरेको उस समय गौण कर दिया जाता है, वहीं पर अनेकान्त प्रमाण है और वहीं पर द्वैत घटता है।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—परन्तु सुख, दुःखकी व्यक्ति (प्रगटता) तो पर्याय स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें द्वैत नहीं घट सकता। द्वैत यदि कहीं पर होगा तो द्रव्यकी अपेक्षासे ही होगा।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शङ्कायें उठाई गई हैं, उनमें पहली तो यह थी कि सुख सदा ही रहता है? इसका यह उत्तर दे दिया गया कि यदि सुख सदा ही रहता है तो जीव व्याकुल क्यों होता है? सुख गुणकी प्रगटतामें व्याकुलता नहीं रह सकती। इसलिये सुख सदा प्रगट नहीं रहता।

दूसरी शङ्का इस प्रकार थी की-एक आत्मामें सुख और दुःख थोड़ा २ दोनों ही साथ मानो? और यही अनेकान्त है? इसका यह उत्तर है कि एक पदार्थमें दो धर्म एक साथ अवश्य रहते हैं। परन्तु रहते वे ही हैं जिनमें एकके कथनमें मुख्यता पाई जाती है और दूसरेकमें गौणता, तथा यह बात वहीं घट सकती है जहां कि एक ही द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका कथन किया जाता है। सुख दुःख दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते। क्योंकि इनकी

कल्पना पर्यायकी अपेक्षासे है। एक समयमें एक ही पर्याय होसक्ती है दो नहीं। ये दो एक (सुख) गुणकी पर्यायें हैं। दुःख वैभाविक पर्याय है और सुख स्वाभावि[क] स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायें क्रमसे ही होती हैं। इस लिये एक समयमें सुख और [दुःख की] कल्पना ठीक नहीं है।

सारांश—

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः॥ ३३६॥

अर्थ—अब अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन! हमारा साध्य "कर्मबद्ध आत्मा [दुःखी] है" अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो चुका, और जैनागमसे भी आत्मामें दुःखकी सत्ता सि[द्ध हो] चुकी। स्वतः आगममें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है, आगम स्वयं प्रमाणरूप है।

आगमकथन—

यत्स्याद[illegible]माज्ञामात्रं तदागमः।
पाककर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम्॥ ३३७॥

अर्थ—[illegible] वचनोंको आज्ञारूप समझना चाहिये, वह उसीका नाम आग[म] [illegible]

[illegible]

[illegible]—

[illegible]
[illegible] दुःखिनोमताः॥ ३३८॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]—

[illegible] दुःखमेव [illegible]।
[illegible]॥ ३३९॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]

[illegible] यतः [illegible]।
[illegible]॥ ३४०॥

अर्थ—[illegible] दुःखी [illegible]

उपाय ही नहीं है क्योंकि कर्मोंको दुःखका कारण न माननेसे अनेक दोष आते हैं, यदि केवल संज्ञी जीवोंके ही दुःख होता है, असंज्ञी जीवोंके नहीं ऐसा कहाजाय ?

और भी—

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि बहुत भारी दुःख संज्ञियोंके ही होता है और थोड़ा असंज्ञियोंके होता है ? तोभी यह सब कथन ठीक नहीं है । क्योंकि नीच स्थानसे उच्चस्थान सदा अच्छा माना गया है ।

भावार्थ—संज्ञी और असंज्ञी जीवोंमें संज्ञियोंका दर्जा कई गुणा उत्तम है । इसलिये क प्रकारसे नीचे ही दुःख अधिक होना चाहिये । और प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि एकेन्द्रिय वोंमें ज्ञानकी कितनी हीनता है, उनको अपनी सत्ताका पता भी नहीं होपाता । क्या उन्हें ानजन्य कम दुःख है ? वही उनको अनन्त काल तक भटकानेवाले कर्मबन्धका कारण है ।

यदि यह कहाजाय—

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि एकेन्द्रियादिक सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर और स्पर्शनादिक इन्द्रियां हैं । इसलिये उनको भी शारीरिक और ऐन्द्रियिक दुःख ही उठाना पड़ता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि—

दोषापत्ति—

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—यदि शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जावे, और कोई दुःख (कर्मय) न माना जावे तो जो जीव विग्रहगतिमें हैं, जहां केवल कार्मण अवस्था है, शरीर, इयादि (के कारण) नोकर्म नहीं है, वहां दुःख है या नहीं ?

भावार्थ—विग्रह गतिमें संसारावस्था होनेसे दुःख तो है परन्तु शरीर, इन्द्रियादिक है । जो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक (मानसिक) दुःख ही मानते हैं उनके अव्याप्ति दोष दिया गया है ।

यदि यह कहा जाय—

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि विग्रहगतिमें भी कर्मोंका समूह रूप कार्माण शरीर है इसलिये शरीरजन्य दुःख वहां भी है ? तो इस कथनसे कर्मजन्य दुःख ही सिद्ध हुआ। इस लिये कर्म ही दुःख देनेवाला है यह बात भली भांति सिद्ध हो गई।

वास्तविक सुख क्याहर है !

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल स्वरूप है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्माके कर्म और नोकर्मके छूट जानेपर (सिद्धावस्थामें) होता है। (यहांपर नो-कर्म शब्दसे कर्म और नोकर्म दोनोंका ग्रहण है।)

शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयते कथम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि परमात्मामें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है, यह बात प्रसिद्ध है। परन्तु बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान किस प्रकार भली भांति सिद्धि को प्राप्त होते हैं ?

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख, ज्ञानसे है। उसकी दृष्टिमें शरीर और इन्द्रियोंके बिना सुख और ज्ञान होते ही नहीं।

उत्तर—

न यथतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और सुखके सिद्ध करनेमें इन्द्रिय और शरीर प्रमाण नहीं है किन्तु प्रसिद्ध, अतीन्द्रिय और अशरीर ही हेतु उनकी सिद्धिमें साधन है।

सिद्धि प्रयोग—

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं यत स्तयोः ॥ ३४८ ॥

अर्थ—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख (आत्मीक)का थोडासा स्वाद हमलोगोंमें भी किसी किसीके पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि किसीके शुद्ध ज्ञान और सुख सम्पूर्णतासे भी है।

…या जाता है वह अन्वयकी अपेक्षा रखने वाले व्यञ्जककी अपेक्षासे है। …वाला कोई भी साधन बिना अन्वयके नहीं हो सका।

…—शरीरादिक ज्ञानसुखको जतलाते हैं इसलिये वे ज्ञान सुखके प्रति व्यञ्जक हैं। वे तभी जतलासकते हैं जब कि मूलमें आत्माका अन्वय (सम्बन्ध) हो। …कि वे शरीरादिक ज्ञान सुखको कहीं पर पटमें तो जतलावें, इस लिये शरीरादिक ज्ञान सुखको जतला सकते हैं क्योंकि ज्ञान सुख आत्माके ही गुण हैं। जिस… पदार्थोंका व्यञ्जक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी जतला सकता है जबकि पदार्थ… बिना पदार्थोंके रहते हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नहीं दिखा सका। इसलिये …राने वाला कोई भी व्यञ्जक साधन बिना मूलके कुछ नहीं कर सका।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ १५९ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यञ्जक (प्रगट करानेवाली) है। परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, बिना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नहीं हो …। अगुरु द्रव्यके रहते हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धिको विदित करा देती है।

दार्ष्टान्त—

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्यात्तेषां चिदात्मकाः ॥ १६० ॥

अर्थ—इसी प्रकार (आत्माके रहते हुए ही) देह इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान …र सुखके व्यञ्जक (विदित करानेवाले) हैं। परन्तु देहादिक स्वयं ज्ञान, सुख स्वरूप नहीं …। ऐसा तो एक आत्मा ही है।

उपादानके अभावमें व्यञ्जक कुछ नहीं करता—

…पादानशून्येऽपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम्।
…था सत्र सर्वत्र हेतुरन्यानुपङ्गतः ॥ १६१ ॥

…उपादान शून्यतामें व्यञ्जक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नहीं होसकते। … …था ज्ञान हो जाय तो सर्वत्र हेतु-… [illegible] … …से कहेगा। बिना पदार्थके रहते हुए भी [illegible] … …कारण—आत्माके रहते हुए ही ज्ञान, सुख हो सकते हैं।

अर्थ—स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त होकर यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान और सुख रूप होता है। उस ज्ञान और सुखके विषयमें ये स्पर्शादिक पदार्थ—जड़ विचारे क्या कर सके हैं।

जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं—

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ३५४ ॥

अर्थ—यदि स्पर्शादिक अचेतन पदार्थ ही स्वयं ज्ञानको पैदा करदेते तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोंमें क्यों नहीं उत्पन्न करते ? अर्थात् आत्मामें ही ज्ञान क्यों होता है ? *

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जावे कि स्पर्शादिक ज्ञानको पैदा करते हैं, परन्तु चेतन द्रव्यमें ही पैदा करते हैं ? तो चेतन द्रव्य तो स्वयं ज्ञान रूप है, वहां उन्होंने पैदा क्या किया ?

सारांश—

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि शरीर और पांचों ही इन्द्रियां आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् कुछ नहीं कर सक्ते।

पुनः शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मनुष्योंके शरीर इन्द्रिय और पदार्थके रहते हुए ही ज्ञान और सुख होता है। विना शरीरादिकके ज्ञान और सुख नहीं होता। फिर शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान और सुखके प्रति अकिञ्चित्कर (कुछ भी नहीं करने वाले) क्यों हैं ?

उत्तर—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यञ्जकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरादिकको जो ज्ञानादिकके

---

* बौद्ध सिद्धान्त ज्ञानोत्पत्तिमें पदार्थको ही कारण मानता है, उसीका खण्डन इस श्लोकद्वारा किया गया है। कोई२ तो जड़ पदार्थको ही ज्ञानोत्पादक मानते हैं उनका भी खण्डन समझना चाहिये।

प्रति हेतु बतलाया जाता है वह अन्वयकी अपेक्षा रखने वाले व्यञ्जककी अपेक्षासे है। कार्यका बतलाने वाला कोई भी साधन विना अन्वयके नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—शरीरादिक ज्ञानसुखको बतलाते हैं इसलिये वे ज्ञान सुखके प्रति व्यञ्जक हेतु हैं। परन्तु वे तभी बतलासक्ते हैं जब कि मूलमें आत्माका अन्वय (सम्बन्ध) हो। विना आत्माके वे शरीरादिक ज्ञान सुखको कहीं घट पटमें तो बतलावें ? इस लिये शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान सुखको बतला सक्ते हैं क्योंकि ज्ञान सुख आत्माके ही गुण हैं। जिस प्रकार दीपक पदार्थोंका व्यञ्जक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी बतला सकता है जबकि पदार्थ मौजूद हों, विना पदार्थोंके रहते हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नहीं दिखा सक्ता। इसलिये कार्यको बतलाने वाला कोई भी व्यञ्जक साधन विना मूलके कुछ नहीं कर सक्ता।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत् ।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यञ्जक (विदित करानेवाली) है। परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, विना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नहीं हो सक्ती। अगुरु द्रव्यके रहते हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धिको विदित करा देती है।

दार्ष्टान्त—

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

अर्थ—इसी प्रकार (आत्माके रहते हुए ही) देह, इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान और सुखके व्यञ्जक (विदित करानेवाले) हैं। परन्तु देहादिक स्वयं ज्ञान, सुख स्वरूप नहीं हैं। ऐसा तो एक आत्मा ही है।

उपादानके अभावमें व्यञ्जक कुछ नहीं करसक्ता—

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—उपादान शून्यतामें व्यञ्जक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नहीं होसक्ते। यदि विना उपादानके भी सुख अथवा ज्ञान हो जाय तो सर्वत्र हेतुशून्यताका प्रसङ्ग होगा अर्थात् फिर हेतुके विना भी कार्य होने लगेगा। विना पदार्थके रहते हुए भी दीपक पदार्थका प्रकाश कर देगा। इसलिये उपादान कारण—आत्माके रहते हुए ही ज्ञान, सुख हो सक्ते हैं।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख जीवके ही गुण वह जीव संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, गुणोंका उल्लंघन कहीं नहीं होता ।

ज्ञानसुखकी पूर्णता मुक्तिमें है—

किञ्च साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—संसार पर्यायमें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होते हैं और मु पर उसी आत्माके निरावरण सुख और ज्ञान होते हैं ।

कर्मोंका नाश होनेसे गुण निर्मल होते हैं—

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अर्थ—कर्मोंके नाश होने पर निश्चयसे आत्माके गुणोंकी क्षति (हानि) उल्टी निर्मलता आती है । जिस प्रकार कीचड़के दूर होने पर जल आदिकमें आजाती है । (कर्म आत्मामें कीचड़की तरह समझने चाहिये) ।

कर्मके नाश होनेसे विकार भी दूर होजाता है—

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः ।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥ ३६५ ॥

अर्थ—कर्म रूपी मलके नाश होने पर आत्मामें होने वाले विकारका जाता है । क्योंकि विकार कर्मसे होनेवाला परिणाम है । वह सदा नहीं रहता होता है इसलिये वह गुण नहीं है पर्याय है ।

गुणका नाश कभी नहीं होता—

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्यास्ति नित्यत्वात्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अर्थ—आत्माकी अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर उसके नाशका भ्रम नहीं चाहिये क्योंकि ज्ञान और सुख इस आत्माके नित्य गुण हैं, वे परमात्मामें पूर्णतासे

दृष्टान्त—

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥ ३६७

अर्थ—यदि वह वास्तवमें सोना है तो अग्निके निमित्तसे पाषाण (किट्टिकालिमा) आदि मलके दूर होने पर सोनेके पीतत्वादि गुणोंका नाश कभी नहीं होता।

भावार्थ—सोनेका पीला गुण नित्य है उसका नाश कभी नहीं होता। परन्तु उस सोनेमें जो मल है वह उसका निजी गुण नहीं है इसलिये वह अग्नि द्वारा दूर किया जाता है। इसी प्रकार आत्माके ज्ञान, सुख गुण हैं। वे नित्य हैं, परन्तु कर्म मल उसके निजी नहीं हैं, उनका नाश होजाता है।

नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप—

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसत्सर्वाविगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—"एकविंशतिदुःखेभ्यो मोक्षः" इस गौतमसूत्रके अनुसार नैयायिक लोग कहते हैं कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इक्कीस दुःखोंका नाश होना ही मोक्ष है। यह उनका कहना ठीक नहीं है ऐसे कथनसे जीवके गुणोंकी शून्यता सिद्ध होती है।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले मुक्तात्माको ज्ञान, सुखादिकसे रहित जड़वत् मानते हैं सो उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। मोक्ष सुखका स्थान है या आत्माकी ज्ञानादिक गुणोंकी सम्पत्तिका अभाव होनेसे महा दुःखका स्थान है? जब मोक्षमें सुख गुण ही नष्ट हो जाता है तो फिर ऐसे मोक्षका प्रयत्न क्यों किया जाता है? इससे तो संसार ही अच्छा, जहां पर दुःख भले ही हो परन्तु निज गुणका नाश तो नहीं होता। इसलिये नैयायिक सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। कहीं आत्माके गुणोंका भी नाश होता है? वह वास्तवमें नैयायिक (न्याय जाननेवाला) ही नहीं है। क्योंकि वह स्वयं अपने दर्शनमें यह बात मानता है कि "समवाय सम्बन्ध गुण गुणीमें होता है और वह नित्य होता है।" जब वह नित्य है तब मोक्षमें गुण नाश कैसा? क्या नैयायिक दर्शन ऐसे स्ववचन स्वागम बाधित नहीं होता? इसलिये मोक्षका लक्षण जैनसिद्धान्तानुसार "कर्मोंके सर्वथा नाशसे आत्मीक गुणोंका प्रकट होना ही मोक्ष है" यही ठीक है।

निजगुणका विकाश दुःखका कारण नहीं है—

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥ ३६९ ॥

अर्थ—आत्मामें निज गुणोंका प्रकट होना दुःखका साधन कभी नहीं हो सकता। जहां पर सुखका जड़ मूलसे नाश माना जाता है, वहीं अति दुःखका प्रसंग अवश्य होता है।

भावार्थ—सुख और दुःख दोनों प्रतिपक्षी हैं। एक समयमें सुख और दुःखमेंसे एक

कोई आत्मामें अवश्य रहेगा । जब मोक्षमें सुखका नाश होजाता है तो दुःखका ग्र[illegible] अवश्यंभावी है । ऐसी अवस्थामें नैयायिककी मानी हुई मोक्ष दुःखोत्पादक ही होगी।

सारांश—

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ३७० ॥

अर्थ—ज्ञान स्वरूप और सुखस्वरूप परमात्मा है उसके शरीर और इन्द्रियोंके बि[illegible] भी ज्ञान और सुख हैं यह बात निश्चित हो चुकी । अथवा निश्चयसे परमात्माके ज्ञान [illegible] सुख दोनों हैं ।

सम्यग्दृष्टिका स्वरूप—

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तु स्वरूपको जाननेवाला यह सम्यग्दृष्टि अपनी आत्म[illegible] स्वरूप देखता हुआ विषयोंसे होने वाले सुख और ज्ञानमें राग द्वेष नहीं करता है।

भावार्थ—वह वैषयिक सुख और ज्ञानसे उदासीन होजाता है ।

प्रश्न—

ननूद्देशः किमेतावान् अस्ति किंवा परोऽप्यतः ।
लक्षणं येन सद्दृष्टिलक्षणेनाखिलः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—क्या सम्यग्दृष्टिके [illegible] इतना ही [illegible] है, या और भी है? [illegible] है [illegible] कि सम्यग्दृष्टी [illegible]

उत्तर—

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि [illegible] और भी बहुत लक्षण हैं, जो कि सम्यग्दर्शनके साथ [illegible] [illegible] है । [illegible] जो [illegible] सम्यग्दर्शनके बिना हो नहीं [illegible] [illegible] है ।

[illegible]—

[illegible] सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
[illegible] ॥ ३७४ ॥

अर्थ—[illegible]

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका अति सूक्ष्म गुण है वह केवलज्ञानका विषय है । तथा परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ज्ञानका भी विषय है अर्थात् इन्हीं तीनों ज्ञानोंसे जाना जाता है ।

किन्तु—

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका किंचित् भी वह विषय नहीं है और न देशावधिका विषय है । इनके द्वारा उसका बोध नहीं होता है ।

सम्यक्त्वमें विपरीतता—

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥ ३७७ ॥

अर्थ—आत्माका एक विलक्षण निर्विकल्पक गुण सम्यक्त्व है, वह [illegible] दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या-स्वादुरूप हो रहा है ।

भावार्थ—मोहनीय कर्म उसे ही कहते हैं जो मूर्छित करे । [illegible] कडुवा [illegible] डाला हुआ मीठा दूध उस तूंबीके निमित्तसे कडवा हो जाता है, [illegible] दर्शन मोहनीयके निमित्तसे यह सम्यक्त्व भी अपने स्वरूपको छोड़कर विपरीत [illegible] [illegible]) हो जाता है । यह अवस्था उसकी अनादिकालसे हो रही है ।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिका उपाय—

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (विशेष पुण्योदयसे) [illegible] [illegible] समुद्र निकट (थोड़ा) रह जाने पर और [illegible] [illegible] सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—[illegible] [illegible] [illegible]

होती है । कर्मोके क्षयोपशम होनेपर आत्मामें जो विशुद्धता होती है, उसीका नाम विशुद्धि लब्धि है । किसी मुनि आदिकके उपदेशकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं । कर्मोकी स्थिति घट कर अंतः कोटा कोटि मात्र रह जाय इसीका नाम प्रायोगिकी लब्धि है । आत्माके परिणामोंमें जो कर्मोकी स्थिति खण्डन और अनुभाग खण्डनकी शक्तिका पैदा होना है उसीका नाम करणलब्धि है । करणलब्धि तीन प्रकार है । अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ।

अधःकरणके असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं । एक समयमें रहने वाले अथवा भिन्न २ समयमें रहने वाले जीवोंके परिणामोंमें समानता भी हो सक्ती है अथवा असमानता भी हो सक्ती है परन्तु अपूर्वकरणमें एक समयमें रहनेवाले जीवोंमें तो समानता और असमानता हो सकती है, परंतु भिन्न २ समयोंमें रहनेवाले जीवोंमें समानता नहीं होसक्ती किन्तु नवीन २ ही परिणाम होते हैं । इस करणके परिणाम अधःकरणसे असंख्यात लोकगुणित हैं । अनिवृत्तिकरणमें एक समयमें एक ही परिणाम होता है । जितने भी जीव उस समयमें होंगे सबोंके एक ही परिणाम होगा । दूसरे समयमें दूसरा ही परिणाम सबोंके होगा इस करणके परिणाम उसके कालके समयोंके बराबर हैं। ये पांचो लब्धियां सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारण हैं । परन्तु इतना विशेष है कि पहली चारोंके होने पर सम्यग्दर्शनका होना जरूरी नहीं हैं लेकिन करणलब्धि तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन प्राप्तिमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहजाता है अर्थात् करणलब्धिके होनेपर अन्तर्मुहूर्त बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन होजाता है । और भी सामग्री काललब्धि आदिक सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण हैं। इन सबोंके होनेपर फिर कहीं सम्यक्त्व प्रकट होता है ।

यहां पर श्लोकके तीसरे चरणमें पड़े हुए "भव्यभावविपाकाद्वा" इस वाक्यका यह आशय है कि जिस समय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है उस समय उस भव्यत्व गुणका अपक्वपरिणमन (अशुद्ध अवस्था) रहता है । सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय उस गुणका विपक्व परिणमन होजाता है अर्थात् वह अपने परिणाममें आजाता है इसी आशयसे स्वामी उमास्वामि आचार्यवर्यने "औपशमिकादि भव्यत्वानाञ्च" इस सूत्रद्वारा मुक्तात्मामें भव्यत्वभावका नाश बतला दिया है । वास्तवमें भव्यत्वभाव पारिणामिक गुण है, उसका नाश हो नहीं सका । परन्तु उसका आशय यही है कि भव्यभावका जो मिथ्यात्व अवस्थामें अपक्व परिणमन हो रहा था उसका नाश हो जाता है अर्थात् उस भव्यत्व गुणकी मलिन पर्यायका नाश होजाता है । उसकी निर्मल पर्याय सिद्धोंमें सदा रहती है । पर्यायके नाशकी अपेक्षासे ही उक्त सूत्र कहा गया है ।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३७९ ॥

अर्थ—फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही विना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहनीयका उपशम हो जाता है। उस अवस्थामें भी गुणश्रेणीके क्रमका उल्लङ्घन नहीं होता।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके॥ ३८०॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। वह मिथ्यात्व अवस्थासे पुरुषकी दूसरी अवस्थाविशेष है। सम्यग्दर्शन आत्माका निर्विकल्पक-निराकार गुण है उसीका स्पष्ट कथन नीचे किया जाता है—

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः॥ ३८१॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे अथवा विशेष रीतिसे सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्वरूप है और आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करने वाला है।

उल्लेख—

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः॥ ३८२॥

अर्थ—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्मलता पैदा करता है, इस विषयमें सूर्यका उल्लेख है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धकारका नाश होने पर सब जगह दिशायें निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत्॥ ३८३॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होने पर सम्यग्दृष्टिका भी वही उल्लेख है अर्थात् उसका आत्मा निर्मलता धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होजाता है। उस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें शुद्धता होजाती है, और वह सम्यक्त्व तीन प्रकार (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म)से होनेवाले बन्धका नाश करनेवाला है।

दूसरा उल्लेख—

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः॥ ३८४॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई आदमी मदिरा या धतूरा पी लेता है तो उसे मूर्छा आजाती है, परन्तु कुछ काल बाद उसका नशा उतर जाता है तब वह मूर्छित आदमी मूर्छा रहित नीरोग होजाता है।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है, तथा [illegible] ठिकाने नहीं रहता है और हरएक पदार्थमें भ्रम रहता है, परन्तु उस मोहनीयके शान्त (उपशमित) होने पर मूर्छाका नाश होनेसे यह जीव नीरोग होजाता है ।

सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार—

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान, आदि गुण बतलाये हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं, क्योंकि श्रद्धानादिक सम्यक्त्वरूप नहीं हैं, किन्तु वे सब ज्ञानकी पर्याय हैं ।

भावार्थ—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवादि का श्रद्धान बतलाया है । परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेका तैसा जानना सम्यक्त्व भी यही है कि जैसेका तैसा श्रद्धान करना । इसलिये उपर्युक्त लक्षण ज्ञान [illegible] है । इसी प्रकार समन्तभद्रस्वामीने जो " श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् " इस श्लोकद्वारा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान [illegible] बतलाया है वह भी ज्ञान ही की पर्याय है । इसलिये ये सब बाह्य लक्षण हैं ।

और भी—

अपि चात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्वाह्यलक्षणम् ॥ ३८७ ॥

अर्थ—और जो [illegible] सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूतिको बतलाया है [illegible] ही रहता है क्योंकि आत्माका अनुभव (स्वाद) ज्ञानकी ही पर्याय है [illegible] होनेसे वह भी सम्यक्त्वका लक्षण नहीं होसकता, यदि माना जाय तो [illegible] है । *

* [illegible]

सम्यक्त्वकी दुर्लक्ष्यतामें दृष्टान्त—

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वा मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी रोगीकी नीरोगताका मानना बहुत कठिन है, परन्तु मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साहादिक स्थूल लक्षणोंसे उसकी नीरोगताका ज्ञान कर लिया जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एक निर्विकल्पक सूक्ष्म गुण है। तथापि उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है।

शङ्काकार—

नत्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है क्योंकि आत्मानुभव मिथ्यादृष्टिके कभी कहींभी नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभवका होना असंभव है इसलिये आत्मानुभव ही स्वयं सम्यक्त्व है।

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

अर्थ—शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, तुम सामान्य और विशेषमें कुछ भेद ही नहीं समझते, और न अनाकार, साकारका ही तुम्हें ज्ञान है इस लिये तुम सुनो हम कहते हैं—

ज्ञानका लक्षण—

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अर्थ—आकार कहते हैं अर्थ विकल्पको। अर्थ नाम है स्वपर पदार्थका। विकल्प नाम है उपयोगावस्थाका। यह ज्ञानका लक्षण है।

भावार्थ—आत्मा और इतर पदार्थोंका उपयोगात्मक भेद विज्ञान होना ही आकार कहलाता है। यही आकार ज्ञानका लक्षण है। पदार्थोंके भेदाभेदको लिये हुए निश्चयात्मक

स्पष्टता है तथा वास्तवमें भिन्नता भी नहीं है। यह जो आपको विरोधसा दीखता है वह केवल कथन शैली है, अपेक्षाका ध्यान रखने पर सभी कथन अविरोधी हो जाता है। जितना भी भिन्न कथन है वह अपेक्षा कृतभेदको लिये हुए है वह अपेक्षा कौनसी है और सम्यक्त्व कैसे जाना जाता है, इन सब बातोंका विवेचन स्वयं आगे चल कर खुल जायगा।

बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार कहलाता है। [illegible] ही स्वरूप है।

अनाकारता—

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२ ॥

अर्थ—आकारका स्वरूप ऊपर कह चुके हैं। उस आकारका न होना ही [illegible] कहलाता है। उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है। वह निर्विकल्पता [illegible] ज्ञानको छोड़ कर बाकी सभी अनन्तगुणोंका लक्षण है।

भावार्थ—जिसके द्वारा पदार्थका विचार हो सके, स्वरूप विज्ञान हो सके [illegible] त्मक कहलाता है। ऐसा ज्ञान ही है बाकीके सभी गुण न तो कथनमें ही आसके हैं, न स्वतः [illegible] स्वरूप ही उनका कहा जा सकता है। इस लिये वे निर्विकल्पक हैं। [illegible] स्वरूप निश्चायक है इस लिये वह विकल्पात्मक है और बाकीके गुण इससे उल्टे हैं।

शङ्काकार—

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तर्हि किं किंचिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत्सामान्य और सत् विशेष दोनों ही वास्तविक हैं तो [illegible] अनाकार है और कोई साकार है ऐसा क्यों?

उत्तर—

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि ज्ञान दोनों ही प्रकारका होता है। [illegible] और [illegible]। इन दोनोंमें जो सामान्य है वह अनाकार है और जो [illegible] है।

भावार्थ—[illegible]

वस्तुका बोध कहलाता है। इसलिये ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य सम्बन्धका निर्णय होता है इसलिये वह साकार है और इतर गुण निराकार हैं। तथा ज्ञान अपने स्वरूपका भी ज्ञान कराता है इसलिये साकार है, इतर गुण अपना भी स्वरूप नहीं प्रगट करसके इसलिये निराकार हैं।

यहां पर दर्शन (यह दर्शन सम्यग्दर्शनसे सर्वथा भिन्न है) का एक दृष्टान्त मात्र दिया है। वास्तवमें ज्ञानको छोड़ कर सभी गुण अनाकार हैं।

ज्ञानको छोड़कर सभी गुण निराकार हैं

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ [illegible] ॥

अर्थ—ज्ञानको छोड़कर बाकीके सभी गुण सन्मात्र हैं। [illegible] सामान्य गुण [illegible] चाहे विशेष गुण हों सभी आकार रहित हैं अर्थात् निर्विकल्पक हैं।

भावार्थ—ज्ञानके सिवा सभी गुण अपनी सत्ता मात्र रखते हैं, [illegible] जो अपनी सत्तासे अपना और दूसरोंका बोध कराता है इस लिये वही साकार है।

अनाकारताका फल—

ततो वस्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुद्देश्यं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इस लिये जो निर्विकल्पक वस्तु है, उसका [illegible] ह वचनके अगोचर है। इस लिये उसका उल्लेख ज्ञानद्वारा किया जाता है।

ज्ञानका स्वरूप—

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३९७ ॥

अर्थ—निज और अनिश्चित पदार्थ, दोनोंका ही [illegible] ग्राहक ज्ञान है, [illegible] दोनोंका ही एक समयमें निश्चय कराता है, परन्तु अनिश्चित पदार्थका [illegible] ज्ञान स्वयं उस पदार्थरूप नहीं होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और [illegible] ही रहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक [illegible] पदार्थोंको भी [illegible] है। उसी प्रकार [illegible] जाता है साथ ही पर पदार्थोंका भी बोध कराता है। परन्तु [illegible] ज्ञान स्वयं पर पदार्थ रूप नहीं है वह पदार्थोंका होते हुए भी [illegible] है [illegible] होना ज्ञानका [illegible] है।

स्वार्थ, परार्थमें भेद—

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—ज्ञान-स्वार्थ परार्थ दोनोंका निश्चय कराता है, यहां पर ज्ञानका स्वार्थ [illegible] है, और परार्थ क्या है? इसे ही बतलाते हैं—अपने स्वरूप जो पदार्थ है वही स्वार्थ [illegible] अपने स्वरूप पदार्थ ज्ञानका ज्ञान ही है। आत्माका ज्ञान रूप जो गुण है वही ज्ञान [illegible] ज्ञानका स्वार्थ है। बाकी सब परार्थ हैं। पर स्वरूप जो पदार्थ है वह परार्थ है। पर स्व[illegible] पदार्थ ज्ञानसे पर ही होगा। परन्तु परार्थ भी स्वार्थ-ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाला है। [illegible] आत्मामें जितने भी सुखादिक अनन्त गुण हैं सभी ज्ञानके परार्थ हैं, परन्तु वे सब [illegible] सम्बन्ध अवश्य रखते हैं।

भावार्थ—ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चायक है और इतर जितने भी आत्मीक गुण [illegible] उनका भी निश्चायक है। इसलिये ज्ञान, स्वार्थ, परार्थ दोनोंका निश्चायक है। [illegible] कि ज्ञान घटपटादि पर पदार्थोंका भी निश्चायक है परन्तु वह घटपटादिसे सर्वथा भिन्न है। [illegible] सुखादि गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है। सुखादिकके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है तो भी ज्ञान गुण भिन्न है और अन्य अनन्त गुण भिन्न हैं।

गुण सभी जुदे २ हैं

[illegible] सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—[illegible] सुखादि भाव, जीवके ही गुण हैं, ज्ञान उन सबका [illegible] परन्तु [illegible] नहीं है।

भावार्थ—अनन्त गुणोंका तादात्म्य होते हुए भी [illegible] सभी [illegible] गुण [illegible] हैं, परन्तु [illegible] गुणोंमें ज्ञान गुण [illegible] है। और [illegible] है और [illegible] है।

[illegible] है—

[illegible] वस्तुनः [illegible] ।
[illegible] ॥ ४०० ॥

अर्थ—[illegible] है, [illegible] है [illegible] नहीं [illegible] हैं। [illegible]

फिर सम्यक्त्व कैसे जाना जाय?—

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—इस आत्माका एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि हरएक पदार्थको मि-
राता है । सम्यग्दर्शनके जाननेके लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है, इसलिये वही मोक्ष-
तु है ।

स्वानुभूतिका स्वरूप—

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—वह आत्मानुभूति आत्माका ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्द-
साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे अविनाभाव रखता है ।

भावार्थ—जो जिसके होने पर होता है उसे अन्वय कहते हैं और जो जिसके नहीं
र नहीं होता है उसे व्यतिरेक कहते हैं । सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर ही आत्मामें
नुभव (स्वानुभूति) होता है, बिना सम्यग्दर्शनके शुद्धानुभव नहीं होता । इसलिये
व (शुद्ध) का सम्यग्दर्शनके साथ सर्वथा अविनाभाव (सहभाव) है ।

सम्यक्त्वके कहनेकी योग्यता—

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ४०३ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और स्वानुभूतिकी जब साथ २ व्याप्ति (सहभावीपना) है तो
फिर सम्यग्दर्शन भी रूपान्तरसे कहने योग्य हो जाता है । यह कहा जा सकता है कि
स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वह स्वानुभूति शुद्ध नय स्वरूप हो तो ।

भावार्थ—जब आत्मामें शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अवि-
नाभावी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका बोध हो जाता है । इसी लिये शुद्ध स्वानुभूतिको ही
सम्यक्त्व कह दिया गया है ।

व्याप्तिभेद—

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

अर्थ—विशेष इतना है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें विषम व्याप्ति है
क्योंकि उपयोगावस्थामें समव्याप्ति नहीं हो सकती । परन्तु लब्धि रूप ज्ञानके साथ ही
सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है ।

भावार्थ—जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं। जैसे जहां २ अचेतनपना है वहां २ जड़पना है। और जहां २ जड़पना है वहां २ अचेतनपना है। जो व्याप्ति एक तरफसे ही सम्बन्ध रखती है वह विषमव्याप्ति कहलाती है। जैसे जहां २ धूंआ होता है वहां २ अग्नि होती है, और जहां २ अग्नि होती है वहां २ धूंआ होता भी है नहीं भी होता। जलते हुए कोयलेमें अग्नि तो है परन्तु धूंआ नहीं है। इसलिये धूंएकी व्याप्ति तो अग्निके साथ है अर्थात् धूंआ तो अग्निके विना नहीं रहता। परन्तु अग्निकी धूंएके साथ व्याप्ति नहीं है। ऐसी व्याप्ति एक तरफा व्याप्ति (विषम) कहलाती है।

प्रकृतमें स्वानुभूतिकी दो अवस्थायें हैं एक तो क्षयोपशम ज्ञान (लब्धि) रूप अवस्था दूसरी उपयोगात्मक ज्ञान रूप अवस्था। उपयोगात्मक ज्ञान कभी २ होता है। सदा समय उपयोग नहीं होता है परन्तु क्षयोपशम रूप ज्ञान सदा रहता है। इसलिये क्षयोपशमरूप स्वानुभवकी तो सम्यक्त्वके साथ समव्याप्ति है। सम्यक्त्वके होने पर क्षयोपशमरूप स्वानुभव होता है, और क्षयोपशमरूपस्वानुभवके होनेपर सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्वके होने पर उपयोगात्मक स्वानुभव हो भी जाय और नहीं भी हो, किन्तु जहां उपयोगात्मक स्वानुभवके होते हुए अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी व्याप्तता है इसलिये यह विषम व्याप्ति है।

इसीका खुलासा—

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—जिस आत्मामें जिस कालमें स्वानुभूति है, उस आत्मामें उस समय अवश्य ही सम्यक्त्व है क्योंकि बिना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नहीं सकती।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्धात्माका उपयोगात्मक अनुभव हो भी, नहीं भी हो। परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभवावरण कर्म (मतिज्ञानावरण) का क्षयोपशम रूप (लब्धि) ज्ञान अवश्य है।

[illegible]—

हेतुस्तत्रा[illegible] सम्यक्त्वो[illegible] [illegible]:।
[illegible] स्वतः ॥ ४०३ ॥

अर्थ—[illegible] होनेपर [illegible] स्वानुभूति [illegible] होता ही है [illegible]
[illegible] होता है, [illegible]
[illegible]

छद्मस्थके उपयोग सदा नहीं रहता किन्तु लब्धि रहित है—

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८॥

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) पुरुषका उपयोग एकसा नहीं रहता, कभी किसी पदार्थ विषयक होता है और कभी किसी पदार्थ विषयक होता है, तथा कभी कभी निद्रादि अवस्थाओंमें अनुपयोगी ज्ञान भी रहता है। इसलिये छद्मस्थोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। परन्तु सर्वज्ञका उपयोगात्मक ज्ञान सदा नित्य रहता है। छद्मस्थोंका क्षयोपशम (लब्धि) रूप ज्ञान नित्य रहता है।

सारांश—

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥४०९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन भी सामान्यरीतिसे नित्य ही है इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव दोनोंमें विषम व्याप्ति है।

भावार्थ—सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोगकी तरह वह बराबर बदलता नहीं है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है। इसलिये सम्यक्त्व और लब्धि रूप-अनुभवकी तो सम व्याप्ति है। परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक-अनुभवकी विषम ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नहीं रहता है।

प्रतिज्ञा—

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अर्थ—स्वानुभूतिके साथ होनेवाले सम्यक्श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि अब उनका उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा बतलाते हैं।

उद्देश्य—

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

अर्थ—आम्नाय (शास्त्र-पद्धति)के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब कथन उद्देश्य कहलाता है।

लक्षण—

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

भावार्थ—श्रद्धादिक कहनेसे सम्यक् श्रद्धा आदिका ही बोध होता है। यदि वे सम्यक् न हों तो उन्हें श्रद्धादिक न कह कर मिथ्या श्रद्धादि कहना चाहिये।

शङ्काकार—

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः॥ ४१९॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि तत्त्वरुचिका नाम ही श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धामात्र ही है। फिर वह श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसे दो भेदरूप वास्तवमें कैसे हो जाती है?

उत्तर—

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत्॥ ४२०॥

अर्थ—शङ्काकारका उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभूति इन दोनोंमें समव्याप्ति है। अर्थात् दोनों ही साथ होनेवाली हैं इसलिये अनुपलब्ध पदार्थमें गधेके सींगकी तरह श्रद्धा निश्चयसे नहीं होसक्ती।

विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः॥ ४२१॥

अर्थ—बिना स्वात्मानुभवके जो श्रद्धा केवल सुननेसे अथवा शास्त्रज्ञानसे होती है वह तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थकी उपलब्धि न होनेसे श्रद्धा नहीं कहलाती।

भावार्थ—बिना स्वात्मानुभूतिके होनेवाली श्रद्धा, वास्तवमें श्रद्धा नहीं है और न वह सम्यग्दर्शन ही कह सकते क्योंकि उसमें आत्मतत्त्व विषय नहीं पड़ता है।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत्॥ ४२२॥

अर्थ—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थ (अथवा [illegible]) [illegible] होनेवाली उपलब्धि वास्तवमें उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं है। किन्तु अनुपलब्धि [illegible] पदार्थोंकी [illegible], वह भी अनुपलब्धि ही है।

[illegible]—

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत्॥ ४२३॥

अर्थ—[illegible] श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है और [illegible] है। [illegible] है [illegible] है।

सम्यग्दृष्टिके और भी गुण—

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अर्थ—और भी प्रशमादिक जो सम्यग्दृष्टिके प्रसिद्ध गुण हैं, वे सब बाह्य दृष्टिसे ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं । यदि वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं तो लक्षण हैं, अन्यथा नहीं ।

सम्यग्दृष्टिके गुणोंके नाम—

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पहला गुण प्रशम है दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है । इन चारोंका क्रमसे लक्षण कहते हैं ।

प्रशमका लक्षण—

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे ही मनको शिथिलताका होना प्रशम (शान्ति) कहलाता है भावार्थ—विषय क्रोधादिकमें मनकी प्रवृत्तिका न होना ही प्रशम है ।

प्रशमका दूसरा लक्षण—

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने अपने साथमें कोई नवीन अपराध किया हो उन जीवोंके विषयमें कभी भी मारने आदि विकारकी बुद्धिका न होना भी प्रशम है । भावार्थ—अपराधी जीवों पर क्षमाभाव रखना भी प्रशम है ।

प्रशम होनेका कारण—

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ४२८ ॥

अर्थ—अपराधी जीवों पर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि क्यों होती है ? इसका कारण अनन्तानुबन्धि कषायका उदय न होना और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायोंका कुछ मन्दोदय होना ही है ।

और भी—

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (चारित्र मोहनीयके उदयसे) यदि सम्यग्दृष्टी विना इच्छाके आरम्भ आदि क्रिया भी करै तो भी अन्तरंगमें शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके नाशका कारण नहीं हो सक्ती ।

प्रशम और प्रशमाभास—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ यदि प्रशम हो तब तो वह उत्कृष्ट गुण समझा जाता है । यदि सम्यग्दर्शनके विना ही प्रशम हो, तो वह प्रशम नहीं है, किन्तु प्रशमाभास है। प्रशम मानना मात्र है । सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशम गुण कभी नहीं कहलाता।

संवेगका लक्षण—

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अर्थ—आत्माके धर्म और धर्मके फलमें पूरा उत्साह होना संवेग कहलाता है। अथवा समान धर्मियोंमें अनुराग करना अथवा पांचों परमेष्ठियोंमें प्रेम करना भी संवेग कहलाता है ।

धर्म और धर्मका फल—

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वस्वरूप—आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्माका अनुभव होना ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही धर्मका फल कहलाता है।

समान धर्मियोंमें अनुराग—

इतरत्र पुनः रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अर्थ—समान धर्मियोंमें जो प्रेम बतलाया है वह केवल उनके गुणोंमें प्रीति बुद्धिसे होना चाहिये । जिनमें गुण नहीं है, उनमें फलकी इच्छा न रखते हुए भी प्रीति नहीं होना चाहिये ।

अनुरागका शब्दार्थ—

अथानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अर्थ—यहां पर अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ नहीं लेना चाहिये किन्तु दूसरा ही अर्थ लेना चाहिये अर्थात् गुणप्रेम अनुराग शब्दका अर्थ है अथवा अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होना भी अनुराग शब्दका अर्थ है ।

और भी—

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४३५ ॥

अर्थ—जिस समय अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ करना हो, तब प्राप्ति, उपलब्धि ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक होते हैं । भावार्थ—विधिरूप अर्थ करने पर अनुरागका अर्थ, गुणोंकी प्राप्ति और गुणोंकी उपलब्धि समझना चाहिये ।

आशङ्का—

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि अभिलाषाका निषेध केवल भोगोंके विषयमें ही कहागया है । शुद्धोपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उसीकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये ।

अभिलाषामात्र निषिद्ध है—

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—सभी अभिलाषायें अज्ञानरूप (बुरी) हैं क्योंकि सभी मिथ्यात्वसे होती हैं । न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नहीं जाना है उसे चाहनेकी इच्छा होने पर भी पदार्थ नहीं मिलता है ।

और भी—

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषायें मिथ्या हैं । क्योंकि सभी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाली हैं । तथा कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रियाकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है ।

अभिलाषामें अभीष्टकी सिद्धिका अभाव—

कचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी विना कारण इष्ट सिद्धि नहीं होती है। कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी, कारण मिलने पर अपने अभीष्टकी सिद्धि होजाती

दृष्टान्त—

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अर्थ—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदिकको सभी जगत् चाहता है परन्तु उसकी भिलाषा होने पर भी विना पुण्योदयके कोई वस्तु नहीं मिल सक्ती।

और भी—

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता आदिको कोई भी आदमी नहीं चाहता है परन्तु नि चाहने पर भी अशुभ कर्मके उदयसे बुढ़ापा आदिका संयोग अवश्य हो ही जाता है।

विधि और निषेध—

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

अर्थ—संवेग कहीं विधिरूप भी होता है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी होता है। जैसी विवक्षा (वक्ताके कहनेकी इच्छा) होती है, वैसा ही विधि या निषेधरूप अ ले लिया जाता है। विधि और निषेध, दोनोंमें भेद नहीं है, दोनोंका प्रयोजन एक ही है।

संवेगका लक्षण—

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषाओंका त्याग करना अथवा वैराग्य (संसारसे) धा करना संवेग है और उसीका नाम धर्म है। क्योंकि जिसके अभिलाषा पाई जाती है व धर्मधारी कभी नहीं होसक्ता।

किन्तु—

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—क्रियामात्रको धर्म नहीं कहते हैं । मिथ्यादृष्टि पुरुषके सदा रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे उसकी क्रियाको वास्तवमें अधर्म ही कहना चाहिये ।

रागी और वैरागी—

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी है, वह कहीं भी राग रहित नहीं होता परन्तु सम्यग्दृष्टिका राग नष्ट होजाता है । वह रागी नहीं है, किन्तु वैरागी है ।

अनुकम्पाका लक्षण—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंमें उपकार बुद्धि रखना अनुकम्पा (दया) कहलाती है अथवा सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्री भाव रखना भी अनुकम्पा है । अथवा द्वेषबुद्धिको छोड़कर मध्यमवृत्ति धारण करना भी अनुकम्पा है । अथवा शत्रुता छोड़ देनेसे सम्पूर्ण जीवोंमें शल्य रहित (निष्कषाय) हो जाना भी अनुकम्पा है ।

अनुकम्पाके होनेका कारण—

दृङ्मोहस्यानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥ ४४७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंमें दयारूप परिणाम होनेमें कारण केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका न होना ही है । क्योंकि मिथ्या ज्ञानको छोड़कर कहीं भी वैरभाव नहीं होसकता है ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शनका अविनाभावी है । जैसा दर्शन होता है, वैसा ही ज्ञान होजाता है । दर्शनमें सम्यक् विशेषण लगनेसे ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होजाता है, और दर्शनमें मिथ्या विशेषण लगनेसे ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान होजाता है । दर्शनमोहनीय, सम्यग्दर्शनको नष्ट कर मिथ्यादर्शन बना देता है । उस समय ज्ञान भी उल्टा ही विषय करने लगता है । जिस समय आत्मामें मिथ्या ज्ञान होता है, उसी समय जीवोंमें वैरभाव होने लगता है, ऐसा वैरभाव मिथ्यादृष्टिमें ही पाया जाता है ।

मिथ्या ज्ञान—

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अर्थात्—दूसरे जीवोंसे सुख दुःखादिक अथवा जीना मरना देख कर उनसे अपनेमें

सारांश—

इत्यागमादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनादि कालसे चला आया जितना भी जीवादिक वस्तु
सभी निश्चय और व्यवहारसे भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हुए है । उसमें वैसी ही बुद्धि
जैसा कि वह है, इसीका नाम आस्तिक्य है ।

सम्यक् और मिथ्या आस्तिक्य—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी स्वानुभूतिके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है
सम्यक् आस्तिक्य है अथवा सम्यक्त्व है । उससे विपरीत (स्वानुभूतिके अभावमें होने
जो आस्तिक्य है वह मिथ्या-आस्तिक्य है अथवा मिथ्यात्व है ।

शङ्काकार—

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४६० ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके
ही ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हैं । वे सदा परोक्ष ही रहते हैं ? अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी यदि
देश प्रत्यक्ष है, जिस प्रकार कि सुखका मानसिक प्रत्यक्ष होता है । तो वास्तवमें आस्ति
स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सक्ता है ?

उत्तर—

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि आदिके दोनों ज्ञान (मति-श्रुत) परोक्ष हैं परन्तु
पर-पदार्थका ज्ञान करनेमें ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करनेमें वे भी प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि
स्वानुभव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है । दर्शनमोहनीय कर्म ही
स्वानुभूतिके प्रत्यक्ष होनेमें बाधक है और उसका अभाव ही साधक है ।

स्वानुभव रूप आस्तिक्य परम गुण है—

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥ ४५३ ॥

अर्थ—स्वात्मानुभव स्वरूप जो आस्तिक्य है वही परम गुण है। वह आस्तिक्य पर द्रव्यमें हो, चाहे न हो। पर पदार्थ, पर है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष न होकर केवल ज्ञानमात्र ही होता है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ ४५४ ॥

अर्थ—यद्यपि स्वानुभव-आस्तिक्यवाले पुरुषके जीवादिक पर पदार्थ परोक्ष हैं तथापि उसके उन पदार्थोंमें गाढ प्रतीति है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टिकी अपनी आत्मामें गाढ प्रतीति है, उसी प्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमें भी गाढ प्रतीति है।

परन्तु—

न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

अर्थ—परन्तु वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होती। क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयका उदय है। दर्शनमोहनीयके निमित्तसे निरन्तर मिथ्यादृष्टिको पदार्थोंमें भ्रम बुद्धि रहा करती है।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात-युक्ति, स्वानुभव और आगमसे भली भांति सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही महान् गुण है।

ग्रन्थान्तरमें सम्यक्त्वके आठ गुण भी बतलाये हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं

ग्रन्थान्तर—

***संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरहा य उवसमो भत्ती ।**
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व होने पर होते हैं।

---

* यह गाथा [illegible] है।

ये उपलक्षण हैं—

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए गाथा-सूत्रमें भी प्रशम, संवेगादिक चारों ही आजाते हैं। ये सभी पञ्चाध्यायीमें कहे हुए प्रशमादिक चारोंसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु कोई लक्षण रूपसे कहे गये हैं, और कोई उपलक्षण (लक्षणका लक्षण) रूपसे कहे गये हैं अर्थात् गाथामें और इस कथनमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही बातको कहने वाले हैं।

उपलक्षणका लक्षण—

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ ४६८ ॥

अर्थ—लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं अर्थात् किसी वस्तुका एक लक्षण कहाजाय फिर उस लक्षणका लक्षण कहाजाय, इसीका नाम (जो दुबारा कहा गया है) उपलक्षण है। जो पहले लक्ष्य (जिसका लक्षण कियाजाय उसे लक्ष्य कहते है) का लक्षण है वही आगे वालेका उपलक्षण है।

प्रकृतमें—

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
सचोऽपलक्ष्यते भक्तिवात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शनका संवेग गुण लक्षण है, वही संवेगगुण अर्हन्तोंकी भक्ति अथवा वात्सल्यका उपलक्षण हो जाता है।

भक्ति और वात्सल्यका स्वरूप—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धत्ताका नहीं होना ही भक्ति है। अर्थात् किसीके प्रति मन, वचन, काय द्वारा किसी प्रकारकी उद्धत्ता प्रगट नहीं करना ही उसकी भक्ति है और किसीके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिये मनमें उल्लास होना ही उसके प्रति वात्सल्य कहलाता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ—भक्ति अथवा वात्सल्य संवेगके विना नहीं हो सक्ते, वह संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनों (भक्ति वात्सल्य) उपलक्षण हैं।

प्रशम—

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे प्रशम गुण होता है यह प्रसिद्ध है । उसी प्रशम गुणका बाह्य—व्यंजक (बतानेवाला) निन्दन है, और उसीका गर्हण है अर्थात् निन्दन और गर्हणसे प्रशम गुण जाना जाता है ।

निन्दन—

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अर्थ—कठिनतासे दूर करने योग्य जो रागादि दुष्ट कर्म हैं उनके विषयमें ऐसा ...ार करना कि इनके होनेपर पश्चात्तापकारी बन्ध होता है । वह न तो अपेक्षणीय है और ... उपेक्षणीय है अर्थात् रागादिको बन्धका कारण समझकर उनके विषयमें रागबुद्धिको दूर कर उन्हें हटानेका प्रयत्न करना चाहिये इसीका नाम निंदन है ।

गर्हण—

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अर्थ—पञ्चगुरुओंकी साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिये शक्तिपूर्वक प्रमाद रहित ...कर उस रागका त्याग करना—गर्हण कहलाता है ।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—कषायोंके अनुदयसे होनेवाले प्रशम गुण—लक्षणका धारी जो सम्यक्त्व है उसके ...ों उपलक्षण हैं । इन दोनों (निन्दन—गर्हण)का स्वरूप ऊपर अच्छी तरह कहा जाचुका है ।

ग्रन्थकारकी लघुता—

दोषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं माद्गगन्तुं क्षमः कथम् ॥ ४७६ ॥

...र्थ—बाकीका जो कथन है, वह निर्दिष्ट पद्धतिके अनुसार अर्थात् परम्परासे आये ...म (शास्त्र)से जानना चाहिये । आगम रूपी समुद्रका पार बहुत लम्बा है, इसलिये ...जानेके लिये हम सरीखे कैसे तयार होसकते हैं ?

शङ्काकार—

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है [illegible] भी कोई लक्षण है ? यदि है तो आज हमसे कहिये ?

उत्तर—

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके सब जगह आठ अंग प्रसिद्ध हैं। तथा लक्षण, गुण, [illegible] सभी शब्द एक अर्थके ही कहने वाले हैं।

आठों अङ्गोंके नाम—

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥ ४७९ ॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा
वात्सल्यं च यथाम्नायात् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ ४८० ॥

अर्थ—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिति[illegible] वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग क्रमसे परम्परा—आगत हैं।

निःशङ्कित गुणका लक्षण—

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अर्थ—शङ्का, भी, साध्वस, भीति, भय ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं। [illegible] रहित जो आत्माका परिणाम है, वही वास्तवमें निःशङ्कित [illegible]

निःशङ्कित भाव—

अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

अर्थ—[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

भावार्थ—जो २ पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं, उन पदार्थोंमें अपनी अल्पज्ञताके कारण हम शंका करने लगते हैं और इसी लिये सर्वज्ञकथित-आगममें अश्रद्धा कर बैठते हैं। परन्तु ऐसा करना नितान्त भूल है। ऐसा करनेसे हम स्वयं आत्माको ठगते हैं तथा दूसरोंको हानि पहुंचाते हैं। यह क्या नासमझी नहीं है कि जो पदार्थ हमारे दृष्टिगत नहीं हैं, अथवा जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं वे हैं ही नहीं। यदि विशेष बुद्धिमान हैं तो हमें निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा आज्ञा प्रमाण ही ग्रहण करना चाहिये। यथा—

सूक्ष्म जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञा सिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌से कहा हुआ पदार्थ सूक्ष्म है उस तत्त्वका हेतुओंद्वारा खण्डन नहीं हो सकता, इस लिये आज्ञा प्रमाण ही उसे ग्रहण करना चाहिये। जिनेन्द्र देव (सर्वज्ञ वीतरागी) अन्यथावादी नहीं हैं। उपर्युक्त कथनानुसार दृढप्रतीति करना ही सम्यग्दर्शनका चिन्ह है।

सूक्ष्म पदार्थ—

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ ४८३ ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य, आदिक पदार्थ सूक्ष्म हैं, कालाणु भी सूक्ष्म हैं और पुद्गल-परमाणु भी सूक्ष्म हैं। इनका हेतु [बतलानेवाला कोई चिन्ह (हेतु)] इन्द्रियोंसे नहीं दीखता इसलिये ये सूक्ष्म हैं।

अन्तरित और दूरार्थ—

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अर्थ—द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थ अंतरित हैं क्योंकि इनके बीचमें बहुतसी चीजें आगई हैं इसलिये ये दीख नहीं सकते। तथा राम, रावण, चक्रवर्ती (बलभद्र अर्ध-चक्री चक्री) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ (दूरवर्ती पदार्थ) कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि सदा सदिग्ध ही रहता है—

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—इन सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थोंका संशय रहित ज्ञान मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं होसकता क्योंकि संशयका मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय है और वह उसके मौजूद है।

आशङ्का—

न चाशङ्क्यं परोक्षास्ते सदृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षाकस्याप्यसंभवात् ॥ ४८६ ॥

अर्थ—वे परोक्ष पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि उन इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही असंभव है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि—

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—परोक्ष पदार्थोंके बोध करनेमें भी सम्यग्दर्शनका बड़ा भारी माहात्म्य है। सम्यग्दृष्टिको इस जगत्का ज्ञान आस्तिक्य-बुद्धि पूर्वक होजाता है ।

समाधान—

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥ ४८८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी आस्तिक्य बुद्धिपूर्वक जगतभरका ज्ञान कर लेता है, यह बात असंभव नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है । स्वभावमें तर्कणा हो नहीं सकती, योगियोंकी योगशक्तिकी तरह यह सब अतिशय वचनोंसे बाहर है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्निकी उष्णतामें तर्कणा करना "अग्नि गरम क्यों है" व्यर्थ है, क्योंकि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है । किसीके स्वभावमें क्या तर्क वितर्क की जाय, यह एक स्वाभाविक बात है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी बुद्धिमें यथार्थ पदार्थ, आस्तिक्य पुरस्सर ही स्थान पाजाते हैं । जिस प्रकार योगियोंकी योगशक्तिका दूसरोंको पता नहीं चलता कि उसका कहां तक माहात्म्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका माहात्म्य भी मिथ्यादृष्टिकी समझमें नहीं आसका ।

सम्यग्दृष्टिका अनुभव—

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—आत्माका अनुभव करानेवाला ज्ञान सम्यग्दृष्टिको है । सम्यग्दृष्टिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धोंकी उपमावाला है ।

अनुभवकी योग्यता—

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ ४९० ॥

अर्थ—बालकसे लेकर सभीको उस शुद्धात्माका अनुभव होसकता है। परन्तु मिथ्या कर्मके उदयसे जीवोंको अनुभव नहीं होता है।

भावार्थ—शुद्धात्मसंवेदन शक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूयमान (अनुभव होने योग्य) है। परन्तु मिथ्यात्वके उदयमें जीवोंमें उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि मिथ्यात्वका उदय उसका बाधक है।

शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं है—

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीको वस्तुमें स्वादुभेद होता है परन्तु दोनोंमें वास्तविक भेद कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मायें दोनोंकी समान हैं। वस्तु सीमाका उलंघन कभी नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी वस्तुका स्वरूप जानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि उस वस्तुको जानकर मिथ्यादर्शनके उदयसे उसमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रखता है। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्यात्व वश वस्तुका उल्टा ही बोध करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके वस्तु स्वादमें भेद है। परन्तु वास्तवमें उन दोनोंमें कोई भेद नहीं। दोनोंकी आत्मायें समान हैं और दोनों ही अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं। केवल पर-निमित्तसे भेद होगया है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्त्वेपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी ॥ ४९२ ॥

अर्थ—यहां पर तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्व (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनोंकी आत्माओंके समान होने पर तथा विषयभूत पदार्थोंके भी एक होने पर जो मिथ्यादृष्टीको भ्रम होता है वह शङ्काका अपराध है, और वह शंका मिथ्यात्वसे होनेवाली है।

शङ्काकार—

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जो मनुष्योंको मिथ्या अनुभव होता है वह शंकासे होने वाला दोष है। वह शङ्का भी किस न्यायसे मिथ्यात्वसे होनेवाली है?

उत्तर—

[illegible]
[illegible] ॥ ४९४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टी है उसीको ही प्रकारके भय हुआ करते हैं। जो सम्यग्दृष्टी है उसे कोई भी भय थोड़ासा भी नहीं हु

भावार्थ—मिथ्यादृष्टीको ही भय लगे रहते हैं। इसलिये उसे ही भयोंके नि शङ्का पैदा होती है। इसलिये मिथ्यात्वसे ही शंका होती है यह बात सिद्ध हुई।

भय कब होता है—

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥

अर्थ—पर पदार्थोंमें आत्माका अनुभव होनेसे भय होता है, विना पर पदार्थमें आ समझे भय किसी प्रकार नहीं हो सक्ता इसलिये जो वैभाविक पर्यायमें ही मूढ़ हो रहे उन्हींको भय लगता है। जिन्होंने आत्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लिया है उन्हें कभी नहीं लगता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे होनेवाली शारीरादिक पर्यायोंको ही जिन्होंने आ तत्त्व समझ लिया है, उन्हें ही मरने, जीने आदिके अनेक भय होते हैं, परन्तु जो आत्मत की यथार्थताको जानते हैं उन्हें पर–शरीरादिमें बाधा होनेपर भी उससे भय नहीं होता।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ ४९६ ॥

अर्थ—इसलिये भय होनेसे ही मिथ्या–भावका अनुमान किया जाता है। वह स्व आत्मानुभवके क्षयका कारण है। यह बात जिनागमसे प्रसिद्ध है।

भवार्थ—विना स्वात्मानुभवके क्षय हुए भय होता नहीं। इसलिये भयसे स्वात्मा भूतिके नाशका अनुमान करलिया जाता है। जिनके स्वानुभव है उन्हें भय नहीं लगता।

निष्कर्ष—

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो भय सहित है और पराधीन है, वह आत्मानुभवसे गिरा हुआ है। परन्तु जो स्वस्थ है वह आत्मानुभवशील है, उसको भीति (भय) का होना असंभव ही है।

भावार्थ—इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीको भय लगता ही नहीं। क्या सम्यग्दृष्टी शेरसे नहीं डरेगा? क्या सर्पसे नहीं डरेगा? अवश्य डरेगा। परन्तु जिन भीतियोंके कारण मिथ्यादृष्टी सदा व्याकुल रहता है, उनसे सम्यग्दृष्टी सर्वथा दूर है। उन भीतियोंके नाम आगे आयगे।

शङ्काकार—

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि किसी २ सम्यग्दृष्टीके भी चारों (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) ही संज्ञायें होती हैं। जहां पर उन संज्ञाओंकी सत्ता बतलाई गई है उससे पहले २ उनका अस्तित्व होना संभव ही है।

पुनः शङ्काकार—

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जब सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें पाई जाती हैं तो फिर वह सम्यग्दर्शनका धारी होने पर भी सर्वदा निर्भीक किस प्रकार रह सकता है? और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर वह उनसे बचनेके लिये प्रयत्न भी करता है। यह बात प्रत्यक्ष देखते ही हैं।

उत्तर—

सत्यं भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें हैं और वह भयभीत भी है। परन्तु वह उन संज्ञाओंका अपनेको स्वामी नहीं समझता है, किन्तु उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता है। जिस प्रकार द्रव्यचक्षु (द्रव्येन्द्रिय) रूपी द्रव्यको देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि चारों संज्ञाओंमें तल्लीन होकर अपनेको उनका स्वामी समझता है, अर्थात् आहारादिको अपना ही समझता है उस प्रकार सम्यग्दृष्टि नहीं समझता, किन्तु उन्हें कर्मोंका फल समझता है। लोकमें द्रव्यचक्षु पुद्गलको देखनेवाला दीखता है परन्तु वास्तवमें देखनेवाली भावेन्द्रिय है।

कर्मका प्रयोग—

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ ५०१ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंके कर्म-पदार्थ उदयमें आते रहते हैं। उनके उदयसे यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है और मलीन होजाता है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—इसी कारण सम्यग्ज्ञानी निःशंक है। यह बात न्यायसे सिद्ध है। एक देश भी मूर्छा (ममता—अपनापन) नहीं है इसलिये शंकाका कारण ही वहां

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अर्थ—उस सम्यग्ज्ञानीकी स्वात्मचेतना (स्वात्मविचार—ज्ञानचेतना) कैसी है, अब उसीका विचार किया जाता है। उसी चेतनाके कारण वह कर्म (कार्य) करता तो भी उससे तल्लीन नहीं होता।

सात भयोंके नाम—

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ ५०४ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अर्थ—पहला—इस लोकका भय, दूसरा—परलोकका भय, तीसरा—वेदना भय, अरक्षा भय, पांचवां—अगुप्ति भय, छठवां—मरण भय और सातवां—आकस्मिक भय। सात—भीति बतलाई हैं।

इस लोककी भीति—

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥

अर्थ—उन सातों भीतियोंमें "मेरे इष्ट पदार्थका तो नाश न हो और मुझे पदार्थका समागम भी न हो ऐसा इस जन्ममें विलाप करना" इस लोक संबंधी पहिली

और भी—

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अर्थ—यह धन ठहरेगा या नहीं, दैवयोगसे दरिद्रता कभी नहीं हो। इत्यादि चिन्ता मिथ्यादृष्टीको जलानेके लिये जलती ही रहती है।

निष्कर्ष—

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

अर्थ—अर्थात् अज्ञानी पुरुषको ही भय लगता है। ज्ञानी पुरुषको थोड़ा भी

हीं रमता। पारिशेषानुमानसे (फलत्वात्) यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी-में बड़ा भारी अन्तर है। इसका कारण वही मोहनीय कर्म है।

अज्ञानीके विचार—

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत्।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ५०९ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सभीको मोहसे अद्वैतवादकी तरह अर्थात् आत्मासे अभिन्न ही समझता है।

और भी—

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अर्थ—आत्माका नाश करनेवाला-अज्ञानी जीव यद्यपि जगतसे भिन्न है, तो भी जगत्को अपना ही बनाता है और विश्वमय बनकर लोकमें कभी भी भयको नहीं छोड़ता, वह सदा भयभीत ही बना रहता है।

सारांश—

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश इतना ही है कि अज्ञानी पुरुष कर्मके उदय वश सर्वथा अनित्य शरीर-आदि पदार्थोंमें नित्यबुद्धि रखकर भ्रम करता हुआ भय करने लगता है।

ज्ञानीके विचार—

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा अपनेको अकेला ही समझता है और जितना भी कर्मका विस्तार है, उससे अपनी आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप समझता है।

और भी—

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि शरीर, सुख, दुःख आदिक पदार्थ और पुत्र, पौत्र आदिक पदार्थ अनित्य हैं, वे सब कर्मके निमित्तसे हुए हैं, और इसीलिये वे आत्मस्वरूप नहीं हैं।

है, उसीका नाम वेदना है। उस आनेवाली वेदनासे पहले ही कंप होने लगना वेदना–भय है अथवा मोहबुद्धिसे विलापका होना भी वेदना भय है।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अर्थ—मैं नीरोग होजाऊं, मुझे वेदना कभी भी नहीं हो इस प्रकार बार बार चिन्तवन करना ही वेदना--भय है, अथवा मूर्छा (मोह बुद्धि) ही वेदना भय है।

वेदना भयका स्वामी--

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥ ५२६ ॥

अर्थ—वह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नियमसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है। अज्ञानसे होने वाला वह वेदना--भय सदा नीरोगी ज्ञानीके कभी नहीं होता।

सम्यग्दृष्टिके विचार--

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

अर्थ—मेरा ज्ञानमय–आत्मा ही स्थान है और वह पुद्गलसे भिन्न है। [illegible] इस कोई व्याधि (रोग) नहीं होसकती। फिर मुझे भय किसका? जितनी भी व्याधियां [illegible] शरीरमें ही होती हैं, अमूर्त–आत्मामें एक भी व्याधि नहीं होसकती। [illegible] सम्यग्दृष्टि सदा चिन्तवन करता रहता है।

और भी –

यथा प्रज्वलितो वह्निः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

अर्थ— [illegible]

दृष्टान्त– [illegible]

और भी—

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो [illegible] निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२९ ॥

अर्थ—वर्तमानमें प्राप्त जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय हैं अथवा जो आगामी मिलने वाले हैं, उनमें जिसका आदर नहीं है, वही (सम्यग्दृष्टी) वास्तवमें वेदना-भयसे निडर है ।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽप्यादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषय, व्याधियोंके मुख्य स्थान हैं क्योंकि वे बाधाके कारण हैं। इसलिये उनमें रोगसे कोई विशेषता नहीं है अर्थात् आत्माको दुःख देनेवाले रोग इन्द्रियोंके विषय हैं ।

अत्राण (अरक्षण) भय—

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥ ५३१ ॥

अर्थ—सर्वथा क्षणिक माननेवाला बौद्ध दर्शन है वह चित्तका क्षणमात्रमें नाश मानता है । चित्त पदसे आत्मा समझना चाहिये । जिसप्रकार वह आत्माको क्षण नाशी मानता है उसी प्रकार अन्यान्य सभी पदार्थोंको भी क्षण-विनाशी मानता है । साथमें चित्त-सन्तति मानता है । आत्मा नाशवाला है परन्तु उसकी सन्तान बराबर चलती रहती है । ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा सर्वथा नहीं मानता वह पर्यायकी अपेक्षा आत्मा तथा इतर पदार्थोंका नाश मानता है किंतु द्रव्यकी अपेक्षासे सभीको नित्य मानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टी इससे उल्टा ही समझता है । जिस समय मनुष्य पर्यायका नाश तो नहीं हुआ है, परन्तु धीरे २ आयु कम हो रही है ऐसी अवस्थामें वह (मिथ्यादृष्टी) उसकी रक्षा तो कर नहीं सकता, परन्तु नाशका भय उसे बराबर लगा रहता है । उसीका नाम अत्राण-भय (अरक्षा-भय) है ।

मिथ्यादृष्टिका विचार—

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी समझता है कि धीरे २ आत्माकी पर्यायोंका नाश होनेसे संभव है कि कभी सम्पूर्ण आत्माका ही नाश हो जाय । क्योंकि सन्तानके नाशसे सन्तानीके नाशका भी डर है । इस प्रकारका भय मिथ्यादृष्टीको पहलेसे ही हुआ करता है । इसमें कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय ही है ऐसा भय नियमसे मिथ्यादृष्टीको ही होता है सम्यग्दृष्टीको कभी नहीं होता।

आकस्मिक-भय—

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३॥

अर्थ—जो भय अकस्मात् (अचानक) होजाता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं। बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका नाश होना आदि रूपसे होता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूदौस्थ्यं कदापि मे।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूं, मुझे अस्वस्थता कभी न हो। इस प्रकार आकुल चित्तवाला मानसिक चिन्तासे पीडित रहता है।

इसका स्वामी—

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्त्वशालिनः।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि वह निर्भीक स्थानसे च्युत हुआ है और सदा भयभीत रहता है। फिर भला उसे मोक्ष कहांसे होसक्ती है।

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोप्यनादिसात्।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अर्थ—जीव सदा निर्भीक स्थानवाला है, अनन्त है, और अनादि भी है। निर्भीकस्थानको चाहनेवाले जीवको आकस्मिक भय कभी नहीं होता ? क्योंकि अ अनन्त जीवमें आकस्मिक घटना हो ही क्या सकती है ?

निःकांक्षित अंग—

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—जो काम किये जाते हैं उनसे पर लोकके लिये भोगोंकी चाहना करना इसीका नाम कांक्षा है। अथवा कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय-भाव रखना अथवा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना आदि सब कांक्षा कहलाती है।

कांक्षाका चिन्ह—

हृषीकारुचितेपूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंको रुचिकर विषय नहीं हैं, उनमें बहुत दुःख करना, मन सहीं

की अभिलाषाका चिन्ह है । क्योंकि इन्द्रियोंके अहितकर विषयोंमें दुःख प्रकट करनेसे अभीष्ट पदार्थोंमें राग अवश्य होगा ।

रागद्वेष दोनों सापेक्ष हैं—

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अर्थ—विपक्षमें बिना द्वेष हुए स्व-पक्षमें राग नहीं होता है और विपक्षमें बिना राग हुए स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता है ।

भावार्थ—राग और द्वेष, दोनों ही सापेक्ष हैं । एक वस्तुमें जब राग है तो दूसरीमें अवश्य होगा अथवा दूसरीमें जब राग है तब पहलीमें द्वेष अवश्य होगा । रागद्वेष दोनों सहभावी हैं । इसी प्रकार इन्द्रियोंके किसी विषयमें द्वेष करनेसे किसीमें राग अवश्य होगा ।

उपयोगिताका दृष्टान्त—

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अर्थ—जैसे कोई शीतसे द्वेष करनेवाला है तो वह उष्णस्पर्शको चाहता है । जो उष्णस्पर्शकी अभिलाषा रखता है वह शीतस्पर्शको नहीं चाहता ।

कांक्षाका स्वामी—

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

अर्थ—जिसके कांक्षित (भोगाभिलाषा) भाव है वह नियमसे मिथ्यादृष्टी है । जिसके वह भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टी है । यह बात स्वानुभव, युक्ति और आगम तीनोंसे सिद्ध है ।

मिथ्यादृष्टीकी भावना—

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अर्थ—परलोकमें भोगोंकी अभिलाषासे इष्ट पदार्थोंका संयोग मिले यह भावना तो मिथ्यादृष्टिके लगी ही रहती है परंतु वह यह भी समझता है कि अपने समग्र अभीष्टोंकी सिद्धि इसलोकके सिवा कहीं नहीं है अर्थात् जो कुछ सुख सामग्री है वह यहीं (सांसारिक) सुखसे बढ़कर और कहीं नहीं है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वानोत्तरङ्गवत् ॥ ५५३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीको ऐसी ऐसी (जो कुछ है सो इसी संसारमें है) निन्द्य मिथ्या कर्मके उदयसे आया करती हैं। वे ऐसी ही हैं जैसे कि किसी उन्मत्त (पागल) को हुआ करती हैं। वायुसे हिलोरा हुआ समुद्र जिस प्रकार तरंगोंसे उछलने लगता है, प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानभावोंसे उछलने लगता है।

शङ्काकार—

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ५५४॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि विना किसी कार्यको लक्ष्य किये मन्द पुरुष भी कामर्में नहीं लगता है तो फिर विशेष ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानी विना भोगोंकी चाहनाके कैसे व्रत धारण करता है?

फिर भी शङ्काकार—

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम्।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ॥ ५५५॥
नचाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला कचित्।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ५५६ ॥
यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ॥ ५५७
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ५५८
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ ५५९ ॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम्।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ५६०

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जितनी भी क्रियायें की जाती हैं सबोंका होना ही फल है। यह बात भली भांति सिद्ध है। यदि वह शुभ क्रिया है तो उ शुभरूप होगा और यदि वह अशुभ है तो उसका फल भी अशुभ ही होगा। भी क्रिया क्यों न हो वह बन्ध अवश्य करेगी। ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये क्रिया कहीं पर बन्ध न करे। जिस प्रकार वीतरागी पुरुषमें क्रिया बन्धरूप फल करती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयके कारण सरागीमें भी बन्धता ॥

होगी ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि सभी क्रियायें बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं । क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान) से पहले २ अवश्य ही बन्धका कारण संभव है ।

चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी (क्षीणकषायसे पहले) हो दोनोंमें ही औदयिकी (उदयसे होनेवाली) क्रिया होती है और वह क्रिया अवश्य ही बन्धरूप फलको पैदा करनेवाली हैं, क्योंकि मोहनीय प्रकृतियोंमेंसे किसी एकका उदय मौजूद है इसलिये बुद्धिके दोषसे किसीको स्वानुभूतिवाला मत कहो और मत बन्ध-जनक क्रिया करनेवालेकी क्रियाको अबन्ध फला क्रिया बतलाओ । क्योंकि बुद्धिका अविनाभावी सम्यक् विशेषण है । उस सम्यक् विशेषणवाली बुद्धि (सम्यग्ज्ञान) का अभाव होनेसे दर्शनकी दिव्यता-उत्कृष्टता (सम्यग्दर्शनता) कैसे आसकती है ?

उत्तर—

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका व्यर्थ है, क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध होचुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है । फिर शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता बाकी रह गई ?

भावार्थ—जिस पुरुषको किसी वस्तुकी चाहना नहीं है उसके भी क्रिया होती है । तो ऐसी क्रिया शुभ-अशुभ क्रिया नहीं कहला सकती । क्योंकि जो शुभ परिणामोंसे की जाय वह शुभ क्रिया कहलाती है और जो अशुभ-परिणामोंसे की जाय वह अशुभ क्रिया कहलाती हैं । जहां पर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहां शुभ अथवा अशुभ परिणाम ही नहीं बन सके ।

शंकाकार—

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जो क्रिया अनिष्ट पदार्थोंकी संयोगरूपा है वह तो नहीं चाहने वालेके ही होजाती है । परन्तु विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोग करानेवाली जो क्रिया है वह नहीं चाहने वाले पुरुषके कैसे हो सकती है ?

पुनः शंकाकार—

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ५६३ ॥

अर्थ—व्रत-स्वरूप जो अच्छी क्रिया है वह विना व्रत चाहने वालेके कैसे हो सक्ती है? अर्थात् नहीं होसक्ती। व्रत रूप क्रिया इच्छानुसार की जाती है इसलिये व्रत करनेवाला व्रत क्रियाका कर्ता है यह बात सिद्ध हुई। भावार्थ—श्रेष्ठ क्रियायें विना इच्छा किये नहीं होसक्तीं ऐसा शंकाकारका अभिप्राय है।

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ ५३४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जितना भी कुछ कर्मके उदय-स्वरूप है सब अनिष्ट-अर्थ है। इसलिये जितना भी कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है।

दृष्टिदोष—

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥ ५३५ ॥

अर्थ—और जो प्रयोजन वश कोई पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है अथवा कोई पदार्थ अनिष्ट मान लिया जाता है वह सब मानना दृष्टि (दर्शन) दोषसे है। जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दोषसे सफेद शंख भी पीला ही दीखता है उसी प्रकार मोह बुद्धिसे कर्मोदय वश पदार्थोंमें यह मोही जीव इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। वास्तवमें कर्मोदयसे होनेवाला सभी अनिष्ट ही है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि—

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ५३६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके नाश हो जाने पर साक्षात् सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवाली दृष्टि (दर्शन) होजाती है। फिर सम्यग्दृष्टिकी, कर्मके फल स्वरूप अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्ट अर्थ रूप ही बुद्धि होती है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि कर्मके उदयमात्रको ही अनिष्ट समझता है। कर्मोदयसे प्राप्त सभी पदार्थ उसकी दृष्टिमें अनिष्ट रूप ही भासते हैं।

कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है?

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५३७ ॥

अर्थ—कर्म और कर्मका फल अनिष्ट है, यह बात असिद्ध नहीं है क्योंकि जितना कर्म और कर्मका फल है सभी सबका दुःखका ही कारण है। यह बात युक्ति, स्वानुभव आगमसे प्रसिद्ध है।

सभी क्रियायें अनिष्ट ही हैं—

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था मतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—जितनी भी मत–क्रिया हैं सब अनिष्टार्थ हैं क्योंकि अनिष्ट फल वाली हैं। जिस प्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट–कार्यको पैदा करता है, उसी प्रकार यह भी दुष्ट–कार्यको उत्पन्न करने वाली हैं।

मत क्रिया स्वतन्त्र नहीं है—

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—पहले यह शंका की गई थी कि क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका कर्ता सम्यग्दृष्टि है' सो वास्तवमें ठीक नहीं है। क्रिया कर्मके फलसे होती है अथवा कर्मका फल है। इसलिये क्रियाको स्वतन्त्र बतलाना असिद्ध है क्योंकि कर्मोदयरूप हेतुके बिना क्रियाका होना ही असंभव है।

क्रिया–औदयिकी है—

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अर्थ—जिस आत्माका मोह क्षीण होगया है अथवा जिसका क्षीण नहीं हुआ है, दोनों ही की जितनी भी क्रिया हैं सभी औदयिकी अर्थात् कर्मके उदयसे होनेवाली हैं।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

अर्थ—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति भर सक उपयुक्त नहीं होता, और पुरुषार्थ केवल पुरुषार्थसे भी नहीं होता किन्तु दैव (कर्म) से होता है। भावार्थ—पुरुषार्थ कर्मसे होता है इसलिये क्रिया औदयिकी है।

निष्कर्ष—

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ५७२ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हुई कि सम्यग्ज्ञानी उदयरूप क्रियाको करता हुआ भी निःकांक्षित है अर्थात् आकांक्षा रहित है। विरागियोंका बिना इच्छाके किया हुआ कर्म रागके लिये नहीं होता है।

आशंका—

नाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित्।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके अतिशय रूप हेतुको छोड़ कर कहीं दूसरी जगह सामान्य आदमी भी आकांक्षा रहित हो जाता है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—क्योंकि बिना सम्यग्दर्शनके हुए निष्कांक्षता हो ही नहीं सकती है, यह न्याय सिद्ध है क्योंकि जो अतीन्द्रिय सुखको नहीं चाहता है उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा भी नहीं होती है।

मिथ्यादृष्टी—

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उस अतीन्द्रिय सुखको मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता है क्योंकि शक्तिका सद्भाव होनेसे दर्शन मोहनीयका निरन्तर पाक ही ऐसा होता रहता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अर्थ—निष्कांक्षित भाव कहा जा चुका, वह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नहीं है यह परीक्षा सिद्ध बात है।

भावार्थ—अच्छी तरह निश्चय कर लिया है कि निष्कांक्षित भाव बिना सम्यग्दर्शनके नहीं हो सकता इस लिये वह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है।

निर्विचिकित्सा—

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अर्थ—अब निर्विचिकित्सा नामक गुण कहा जाता है। जो कि युक्ति द्वारा भी सम्यग्दृष्टिका ही वह उत्तम गुण समझा गया है।

विचिकित्सा—

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ ५७८ ॥

अर्थ—अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंकी हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है ।

निर्विचिकित्सा—

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कही हुई विचिकित्साने रहित जो भाव है वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है । वह सम्यग्दर्शनका उत्तम गुण है, उसका लक्षण कहा जाता है—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नादयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे कर्मके उदयसे दुखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीयसे जो घृणास्थान बन रहा है ऐसे पुरुषके विषयमें चित्तमें अदयाबुद्धि नहीं होना वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है ।

विचिकित्साभाव—

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—इस प्रकारका मनमें अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूं और यह बिचारा दीन विपत्तियोंका घर है, यह मेरे समान नहीं हो सकता ।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त अज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्मके उदयसे सभी त्रस, स्थावर योनिवाले प्राणी समान हैं ।

दृष्टान्त—

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शूद्रीके गर्भसे दो बालक पैदा हुए। वास्तवमें वे दोनों ही निर्भ्रान्तरीतिसे शूद्र हैं, परन्तु भ्रमात्मा उनमें भेद समझने लगता [illegible] ।—ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि शूद्रीके दो बालक हुए थे । उन्होंने [illegible] किया था । इनमें उच्च वंशका कार्य प्रारम्भ किया था और [illegible] किया था । बहुतसे मनुष्य भ्रमसे उन्हें भिन्न

पैदा हुए थे। इसी प्रकार कर्मकृत भेदसे जीवोंमें कुछ भेदरीत भेद ही समझने लगे हैं। परन्तु वास्तवमें सभी आत्मायें समान हैं।

जले जम्बालवन्नीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः॥ ५८४॥

अर्थ—जलमें काईकी तरह इस जीवमें जब तक अपवित्र कर्मका सम्बन्ध है, तब तक इस कर्म–मलीन आत्माके सामान्य रीतिसे अहं बुद्धि लगी हुई है। अर्थात् इतर पदार्थोंमें इसने आपा मान रक्खा है।

निष्कर्ष—

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्॥ ५८५॥

अर्थ—यह निर्विचिकित्सा–गुण सम्यग्दृष्टिका ही गुण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें वह अवश्य है। सम्यग्दृष्टिसे अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः॥ ५८६॥

अर्थ—जड़ और चैतन्यमें परस्पर विशेषता होनेपर भी मोहसे दोनोंको एक समझने वाला–कर्मकी पर्यायमात्रमें जो रागी होरहा है, उसके वह निर्विचिकित्सा गुण कहांसे हो सक्ता है?

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोसौ गुणः सद्दर्शनस्य य।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये॥ ५८७॥

अर्थ—इस प्रकार युक्तिपूर्वक निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टिका कहा गया है। यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं होसक्ता, और कहनेपर कोई विशेष लाभ नहीं है। भावार्थ–यह एक सामान्य कथन है। निर्विचिकित्सा गुणके कहने और न कहने पर कोई गुण दोष नहीं होता, इसका यही आशय है कि सम्यग्दर्शनके साथ इसका होना अवश्यंभावी नहीं है। हो तो भी अच्छा और न हो तो कोई हानि भी नहीं है।

अमूढदृष्टि—

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि॥ ५८८॥

अर्थ—अमूढदृष्टि गुण भी सम्यग्दर्शन सहित ही होता है। अमूढदृष्टि गुणसे विभूषित आत्मामें यह सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है।

अमूढदृष्टिका लक्षण—

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अर्थ—अतत्त्वमें तत्त्व-श्रद्धान करना, मूढदृष्टि कहलाती है। मूढ जो दृष्टि वह मूढदृष्टि, ऐसा मूढदृष्टि शब्दसे ही स्पष्टार्थ है। जिस जीवके ऐसी मूढ-दृष्टि नहीं है वह अमूढदृष्टि प्रसिद्ध है।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षते ॥ ५९० ॥

अर्थ—दूसरे मतवालोंने मिथ्या हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्या (विपरीत) पदार्थ सिद्ध किया है। वह मिथ्यापदार्थ, मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टिमें मोह (विपरीतता) पैदा करनेके लिये समर्थ नहीं है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंको मिथ्यादृष्टि पुरुष यदि विपरीत रीतिसे दिखाने लगें तो जो थोड़े शास्त्रका जाननेवाला है वह भी मोहित नहीं होता है। यदि बहुत शास्त्रोंका पाठी हो तो फिर क्या है? अर्थात् बहुश्रुत किसी प्रकार धोखेमें नहीं आ सकता है।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
सूक्ष्मान्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—जहां कहीं अर्थ-आभास भी हो वहां भी सम्यग्दृष्टि मूढ नहीं होता है। तो फिर आगम प्रसिद्ध सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ मिथ्या बतलाये हुए पदार्थोंमें सम्यग्दृष्टिके कैसे भ्रम हो सकता है?

लौकिक रूढिका विचार—

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥

अर्थ—लौकिकी रूढि नाना विकल्पोंसे होती है अर्थात् अनेक मिथ्या विचारोंसे की जाती है। निस्सार पुरुष उसे करते रहते हैं। लोकरूढि सदा अनिष्ट फलको ही देती है।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—लोकमें प्रचलित रूढि फल शून्य है, अथवा अनिष्ट करनेवाली है, हेतु शून्य

है और योगका नाश करनेवाली है। खोटे कर्मके उदयसे कोई २ पुरुष इस लोकको छोड़ भी नहीं सकते हैं।

देवमूढता—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ ५९५ ॥

अर्थ—अदेवमें देवबुद्धिका होना, अधर्ममें धर्मबुद्धिका होना, अगुरुमें गुरुबुद्धि होना ही देवमूढता कही गई है।

लोकमूढता—

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ५९३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखके लिये कुदेवोंका आराधन-पूजन करता है। ऐसा करना मिथ्या लोकाचार है, इसीका नाम लोकमूढता है, लोकमूढता महा-अहितकर है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥ ५९७ ॥

अर्थ—लोकमूढतावश किन्हीं २ पुरुषोंको ऐसा श्रद्धान हो रहा है कि भले प्रकार आराधना की हुई अम्बिका देवी (चण्डी–मुण्डी आदि) निश्चयसे धन धान्य-सम्पत्तियोंको देगी।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥ ५९८ ॥

अर्थ—और भी बहुतसे मिथ्या-बुद्धिवाले पुरुष इच्छानुसार देवोंको मानते हैं। बुद्धिके दोष (अज्ञानता)से सदोषियोंको भी निर्दोषीकी तरह मान बैठते हैं।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥ ५९९ ॥

अर्थ—उन मिथ्या-विचारवालोंका विशेष उद्देश्य (अधिक वर्णन) प्रसंगवश भी विस्तारभयसे नहीं कहा है क्योंकि जिसको बहुतसे शब्द मिल भी जावें वह भी व्यर्थ ग्रन्थ-विस्तारको नहीं करेगा, अर्थात् कुदेवके स्वरूपके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अधर्म—

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ ६०० ॥

अर्थ—कुदेवोंकी आराधना करनेका जितना भी उद्यम है, तथा उनके द्वारा कहे हुए धर्मोंमें मन, वचन, कायका जो व्यापार है वह सभी अधर्म कहलाता है।

कुगुरु और सुगुरु—

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—जिसका निन्द्य (मलीन) आचरण है, जिसके माया, मिथ्या, निदान-शल्य लगी हुई हैं, और जो परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत सहित है वह सद्गुरु है ।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोऽतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

अर्थ—कुधर्म और कुगुरुके विषयमें भी अधिक लिखना श्रेयस्कर नहीं है । क्योंकि इनका पूर्ण स्वरूप लिखनेसे अत्यन्त ग्रन्थ-विस्तार होनेका डर है । इसलिये इस ग्रन्थमें जो विधि कही गई है, वही ग्रहण करने योग्य है, और जो यहां नहीं कही गई है वह त्यागने योग्य समझना चाहिये । भावार्थ-जो विधि उपादेय है, उसीका यहां वर्णन किया गया है और जो अनुपादेय है उसका यहां वर्णन भी नहीं किया गया है ।

सच्चे देवका स्वरूप--

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणकर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अर्थ--रागादिक वैभाविक भाव और ज्ञानावरणादिक कर्म, दोष कहलाते हैं । उनका जिस आत्मामें सम्पूर्णतासे अभाव हो चुका है, वही देव कहा जाता है ।

अनन्तचतुष्टय-

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

अर्थ—उस देवमें केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिकवीर्य ये प्रसिद्ध अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है ।

देवके भेद—

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः ।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे देव एक प्रकार है अवस्था विशेषसे दो प्रकार है, विशेष रचना (कथन) की अपेक्षासे संख्यात प्रकार है, और गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है ।

अर्हन्त और सिद्ध-

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धात्मलक्षणः ।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

अर्थ—सब द्रव्यार्थ नयकी अपेक्षासे एक प्रकार ही देव है क्योंकि शुद्धात्माकी लब्धि (प्राप्ति) एक ही प्रकार है। पर्यायार्थिकनयसे अरहन्त और सिद्ध, ऐसे देवके दो भेद हैं।

अरहन्त और सिद्धका स्वरूप—

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥ ६०७॥
मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः॥ ६०८॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात्॥ ६०९॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्वात्कथञ्चन।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात्॥ ६१०॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात्॥ ६११॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः॥ ६१२॥

अर्थ—जो दिव्य-औदारिक शरीरमें स्थित है, घाति कर्म चतुष्टयको धो चुका है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है, वह अरहन्त देव है।

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हो चुका है, सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट चुका है, लोकके अग्रभाग (सिद्धालय) में स्थित है, ज्ञानादिक आठ गुण सहित है और कर्ममलकलंकसे रहित है वह सिद्ध देव है।

वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अरहन्त कहलाता है, कर्म रूपी शत्रुको जीतनेवाला है इसलिये जिन कहलाता है, सम्पूर्ण देवोंका स्वामी है इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है, इसलिये शंकर कहलाता है, ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंमें फैला हुआ है इसलिये कथंचित् विष्णु (व्यापक) कहलाता है, आत्माको पहचाननेवाला है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है, और दुःखको दूर करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इत्यादि रीतिसे वह देव अनेक नामोंवाला है। तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षासे वह एक ही है। अनेक नहीं है। क्योंकि अनन्तगुणात्मक एक ही (समान) आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है।

और भी चौबीस तीर्थंकर आदि अनेक भेद हैं तथा गुणोंकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं। ये सब भेद (बहुपना) किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं हैं क्योंकि सभी देवोंमें देवत्वगुण एक प्रकार ही है।

दृष्टान्त—

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपकोंकी अनेक संख्या भी दीपत्व बुद्धिको दूर नहीं करसकती है। उसी प्रकार देवोंकी अनेक संख्या भी देवत्व बुद्धिको दूर नहीं कर सकती है। क्योंकि सभी दीपोंमें और सभी देवोंमें दीपत्व गुण और देवत्व गुण एकसा ही है। वास्तवमें अनेक प्रकारता नहीं है। अर्थात् वास्तवमें भेद नहीं है,

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्त्वस्त्वनन्तधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ ६१४ ॥

अर्थ—क्रमसे उसके अनन्त नाम हैं ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि वास्तवमें एक गुणकी अपेक्षा एक नाम कहा जाता है।

न यतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

अर्थ—सबसे अधिक संख्या गुणकी अपेक्षासे ही होसकती है। परन्तु यह सब कथन नयकी अपेक्षासे है। इसलिये जैसा जैसा अधिक व्यवहार होता जाय उसी २ तरहसे नाम लेना चाहिये।

वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ ६१६ ॥

अर्थ—इसीलिये वृद्ध (श्रुतवृद्ध-आचार्य) पूर्वोक्त सूत्रद्वारा तत्त्वको वचनके अगम्य बतलाया है। जो द्वादशाङ्ग अथवा अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान है, वह केवल स्थूल-पदार्थको विषय करनेवाला है।

सिद्धोंके आठ गुण—

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख, आत्मासे उत्पन्न वीर्य, इस प्रकार चतुष्टय तो यह, और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व, तथा अगुरुलघुत्व, ये आठ स्वाभाविक गुण सिद्धोंके हैं।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥ ६१९ ॥

अर्थ—इत्यादि अनन्त धर्मोंको धारण करनेवाला आठों कर्मोंसे रहित दोषोंसे रहित, देव पूजने योग्य है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाते वह पूजने योग्य है।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अर्थ—अर्थात् वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेश देनेवाला वही आप्त है, और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता (प्राप्त करानेवाला) है।

गुरुका स्वरूप—

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अर्थ—उन गुरुओंसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, परन्तु उसी वेशको लिये हुए हैं, वे भी गुरु हैं। गुरुका लक्षण उनमें भी वैसा ही है, और कोई अवस्थाविशेषवाला नहीं है।

अस्त्यवस्थाविशेषोत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—गुरुओंमें संसारीजीवोंसे कोई अवस्था-विशेष है यह बात युक्ति अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध है। उनमें संसारियोंसे विशेष अतिशय है।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वान्निगद्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—भावि नैगम नयकी अपेक्षासे जो होनेवाला है, वह हुआ सा ही समझा जाता है (गुण) की व्याप्तिका सद्भाव होनेसे यह बात सिद्ध हो जाती है, अर्थात् जो गुण अर्हन्तमें हैं वे ही गुण एक देशमें (अंशरूपसे) छद्मस्थ गुरुओंमें भी मौजूद हैं।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक्चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अर्थ—उन छद्मस्थ गुरुओंमें भी मिथ्यात्व कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका है और चारित्र मोहनीय कर्मका (अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषायोंका) क्षय होनेसे एकदेश सम्यक्चारित्र भी प्रगट हो चुका है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै गुरुत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यदर्शनात् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—इसलिये स्वभावसे ही उन गुरुओंमें गुरुता पाई जाती है यह बात हेतुसे सिद्ध हो चुकी क्योंकि मोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे उसका कार्य भी नहीं है।

भावार्थ-मलिनता करनेवाला मोहनीयका उदय है। जब मोहनीयका उदय नहीं है तो उससे होनेवाली मलिनता भी नहीं हो सकती है।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

अर्थ—वह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है यह बात सुप्रसिद्ध है तथा संवरका भी कारण है और क्रमसे मोक्ष-प्राप्त करानेवाली भी है।

शुद्धता ही निर्जरा, संवर और मोक्ष है—

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ ६२७ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा, संवर और मोक्ष है। क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी जो आत्मद्रव्य है वही निर्जरा, संवर और मोक्ष है।

भावार्थ—आत्मिक शुद्धभावोंका नाम ही निर्जरादित्रय है इसलिये निश्चय नयसे शुद्ध-आत्मा ही निर्जरादि त्रय है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

अर्थ—जो निर्जरादिकका कारण आत्माका शुद्ध भाव है वही परम पूज्य है और उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु है।

गुरुपनेमें हेतु—

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

अर्थ—न्याय रीतिसे गुरुत्व (गुरुपने) का कारण केवल दोषोंका सर्वथा प्रकार क्षय होना है, निर्दोष ही जगत्का जाननेवाला (सर्वज्ञ) है और वही मार्ग (मोक्षमार्ग) का नेता अर्थात् प्राप्त करानेवाला है। जो निर्दोष नहीं है वह न सर्वज्ञ हो सकता है, और न मोक्षको प्राप्त करनेवाला तथा करानेवाला ही हो सकता है।

अल्पज्ञता गुरुपनेके नाशका कारण नहीं है—

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अर्थ—यह मुनि (गुरु) की अल्पज्ञता भी गुरुपनेको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं है क्योंकि गुरुपनेको दूर करनेवाले रागादिक अशुद्ध भाव हैं, और उनका एक मात्र हेतु मोहनीय कर्म है।

भावार्थ—निर्मल चारित्रकी अपेक्षासे ही गुरुता आती है। ज्ञानकी हीनता ... विघातक नहीं है किन्तु मोहनीय कर्म है।

शङ्काकार—

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च।
अस्ति तथाप्यवद्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ ६३१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यको नाश ... अन्तराय कर्म, अभी छद्मस्थ गुरुओंमें मौजूद है, इसलिये उनमें शुद्धता कहांसे आई?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म ... गुरुओंमें मौजूद हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मो... बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है।

खुलासा—

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः। ६३३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि कर्मो... प्रकृतियोंका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहने पर ही ज्ञानावरणादि कर्मोंका स... रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते हैं और मोहनीय कर्मके क्ष... होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते हैं।

आशङ्का—

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—छद्मस्थ अवस्थामें, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय होजाता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अंश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय होजाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध नहीं है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह क्रमसे असंख्यात गुणी २ होती चली जाती है।

निष्कर्ष—

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम्।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये उपरत्य गुरुओंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म मौजूद हैं तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरूपना माना ही जाता है।

गुरु-भेद—

यथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात्त्रिधा गुरुः।
एकोप्यग्निर्यथा तार्णः पार्णो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे एक ही गुरु है और विशेष रीतिसे तीन प्रकार गुरु हैं। जैसे—अग्नि यद्यपि सामान्य रीतिसे एक ही है तथापि तिनकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकड़ीकी अग्नि, इस प्रकार एक ही अग्निके तीन भेद होजाते हैं।

तीन प्रकार गुरुओंके नाम—

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु (मुनि) इस प्रकार तीन भेद हैं। ये तीनों ही मुनिवर विशेष विशेष पदों पर नियुक्त हैं अर्थात् विशेष २ पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु संज्ञा है।

मुनिपना तीनोंमें समान है—

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ ६३९ ॥
त्रयोदश विधं चापि चारित्रं समतैकधा।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम्।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ ६४२ ॥
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥

किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु तीनोंका ही समान कारण है अर्थात् ही निष्परिग्रहता और कषायत्रयके जीतनेसे मुनि हुए हैं। क्रिया (आचरण) भी तीनोंमें है, बाह्य भेष भी (निर्ग्रन्थ—नग्न) समान है, बारह प्रकारका तप भी सबके समान है, प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही हैं, चारित्र भी समान है, परीष उपसर्गोंका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है। चर्या [illegible] समान है। स्थान आसन आदि भी समान हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो [illegible] गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और बाहरमें समान ही है, और ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनायें (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, [illegible] क्रोधादि कषायोंका जीतना आदि सभी बातें एकसी हैं। इस विषयमें अधिक क्या कहा [illegible] इतना ही कहना बस होगा कि वही विशेष रह जाता है जोकि विशेषतासे दूर हो चुका [illegible] अर्थात् न्यायानुसार तीनोंमें सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नहीं है। अब तीनोंका [illegible] स्वरूप कहते हैं—

आचार्यका स्वरूप—

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अर्थ—आचार्य सदा अनादिकालसे नियत है। पंच परमेष्ठियोंकी सत्ता अनादि [illegible] है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते हैं जो कि दूसरों (मुनियों) से पांच [illegible] आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी—

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ ॥ ६४६ ॥

अर्थ—और किसी साधुका व्रत भंग हो जाय, और वह [illegible] [illegible] फिरसे [illegible] चाहता हो तो आचार्य उस [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] प्रायश्चित्त देना भी आचार्यका काम है।

आदेश और उपदेश भेद—

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७ ॥

अर्थ—उपदेशोंसे आदेशमें यही विशेष भेद है कि उपदेशमें जो बात कही जाती है वह आज्ञारूप मान्य नहीं होती। मानना न मानना शिष्यकी इच्छापर निर्भर है परन्तु आदेश में यह बात नहीं है, वहां तो जो बात गुरुने बताई वह आज्ञारूपसे ग्रहण ही करनी पड़ती है " गुरुके दिये हुए व्रतको मैं ग्रहण करता हूं " यह आदेश लेनेवालेकी प्रतिज्ञा है।

भावार्थ—आचार्यको आदेश (आज्ञा) देनेका अधिकार है वे जिन बातोंको आदेश-रूपसे कहेंगे वह आज्ञा प्रधान रूपसे माननी ही पड़ेगी। परन्तु उपदेशमें आज्ञा प्रधान नहीं होती है।

गृहस्थाचार्य भी आदेश देनेका अधिकारी है

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ५४८ ॥

अर्थ—व्रत धारण करनेवाले जो गृहस्थ हैं उनको भी आदेश निषिद्ध नहीं है। जिस प्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है उसी प्रकार गृहस्थ भी आदेश किया करता है।

भावार्थ—आचार्यकी तरह व्रती गृहस्थाचार्य भी गृहस्थोंको आदेश देनेका अधिकारी है।*

आदेशका अधिकारी अव्रती नहीं हो सकता है—

न निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ ५४९ ॥

अर्थ—शास्त्रानुसार अव्रती पुरुष आदेश देनेका सर्वथा अधिकारी नहीं है, और किसी भी कारणसे वह हिंसक उपदेश भी नहीं दे सकता।

भावार्थ—अव्रती पुरुष आदेश देनेका अधिकारी तो है ही नहीं, हिंसक उपदेश देना भी उसके लिये वर्जित है।

वधाश्रित आदेश और उपदेश देनेका निषेध—

मुनिव्रतधराणां हि गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ ५५० ॥

अर्थ—मुनिव्रत धारण करनेवाले आचार्योंको और गृहस्थव्रत धारण करनेवाले गृहस्था-चार्योंको वधाश्रित आदेश व उपदेश (जिन आदेश तथा उपदेशोंसे जीवोंका वध होता हो) नहीं करना चाहिये।

* [illegible]

ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये—

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ ६५१ ॥

अर्थ—ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये कि मुनिगण व्रतधारण और उन्होंने मूर्तिमान् पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोंको हस्तरेखाके समान जान लिया

भावार्थ—व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंका परिज्ञान हैं उन्हें सम्पूर्ण जीवोंके स्थान, शरीरादिका परिज्ञान है, वे सदा त्रस स्थावर जीवों सावधान स्वयं रहते हैं इसलिये उनके प्रति वधकारी आदेश व उपदेशका निषेध निरर्थक है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि जो वीतरागी हैं उनके प्रति वधकारी उपदेश कारण नहीं होसक्ता है, वह रागियोंके लिये ही रागका कारण होसक्ता है। इसलि रागियोंके लिये ही उसका निषेध किया गया है।

भावार्थ—उपदेश सदा उन्नत करनेके लिये दिया जाता है; मुनियोंका राग है, वे निवृत्ति मार्गके अनुगामी हो चुके हैं इसलिये उन्हें सदा विशुद्धमार्गका ही उ ठीक है, यदि उनको वधाश्रित अर्थात् जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश तो वह उपदेश उनकी निम्नताका ही कारण होगा, इसलिये उन्हें वधाश्रित अ प्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्तिमार्गमय उपदेश ही देना चाहिये। परन्तु वधाश्रित उपदे शका निषेध गृहस्थोंके लिये दूसरे प्रकारसे है। गृहस्थोंमें अशुभ प्रवृत्ति भी पाई जाती है उस अशुभ प्रवृत्तिका निषेध कर शुभ प्रवृत्तिका उनके लिये आदेश व उपदेश दिया गृहस्थ एकदम शुद्ध मार्गमें नहीं जा सकते हैं अतः उनके लिये पहले शुभ मार्ग प लिये शुभ मार्गका आदेश तथा उपदेश देना ही ठीक है इसी बातको नीचेके स्पष्ट करते हैं—

गृहस्थोंके लिये दानपूजनका विधान—

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

अर्थ—सत्पात्रोंके लिये दान देनेके विषयमें और अर्हन्तोंकी पूजाके विषयमें आदेश ही निषिद्ध है और न उपदेश ही निषिद्ध है।

भावार्थ—दान देना और जिन पूजन करना दोनों ही यद्यपि आरंभजनित कार्य हैं, और जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना अवश्यंभावी है इसलिये उक्त दोनों कार्योंका आदेश तथा उपदेश बन्धका कारण है। दूसरे—दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें शुभ राग होता है और रागभाव हिंसात्मक है तथापि गृहस्थोंके लिये पात्रदान जिनपूजनादि शुभ प्रवृत्तिमय कार्योंकी आज्ञा और उपदेश दोनोंही निषिद्ध नहीं किन्तु विहित हैं।

मुनियोंके लिये सावद्य कर्मका निषेध—

*यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६६४ ॥

अर्थ—अथवा मुनियोंके लिये, सर्वथा निर्दोष कार्यके विषयमें ही आदेश व उपदेश होसक्ता है। जहां पापका लेश भी हो वहां उनके लिये आदेश तो कभी हो ही नहीं सक्ता।

भावार्थ—जिस कार्यमें पापका थोड़ा भी लेश हो उसके विषयमें मुनियोंके लिये आदेशका सर्वथा निषेध है।

आशङ्का—

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६६५ ॥

अर्थ—असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रेम भी आचार्य करे, ऐसा भी कोई कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो असयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्धादिक रखता है वह आचार्य नहीं कहा जासक्ता, और न वह जिनमतका अनुयायी है।

भावार्थ—आचार्यका सम्बन्ध केवल मुनियोंके साथ होता है। भाषण भी उन्हींके साथ होता है, सत्यधर्मके लक्षणमें भी यही कहा गया है कि सत्यधर्मका भाषी साधु पुरुषोंमें ही हित मित वचन बोलता है असाधुओंमें नहीं। आचार्यका मुनियोंके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध है, रागांश वहां भी नहीं है। इसलिये आचार्यका असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है।

अन्य दर्शन—

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६६६ ॥

अर्थ—कोई दर्शनवाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं कि जो संघका पालन-

* इस श्लोकमें और ऊपरके श्लोकमें यद्यपि गृहस्थ और मुनिपद नहीं आया है तथापि "यद्वा" कहनेसे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कथन गृहस्थोंके लिये है और यह कथन मुनियोंके लिये है। तथा यही संगत प्रतीत होता है।

पोषण करता है वह आचार्य है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी कहना अयुक्त आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है । इसको छोड़कर पोषण करना आदिक आचार्योंका उपकार नहीं है ।

भावार्थ—मुनियोंका पालनपोषण करना आचार्यका कर्तव्य बतला स्वरूप बिगाड़ना है । पहले तो मुनिगण ही पालन पोषण किसीसे नहीं उन्हें अपने पोषणका कभी विचार ही होता है । उनका मुख्य कर्तव्य ध्या केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमें जाते हैं पूर्वक किसी श्रावकने उनका पड़गाहन किया तो बत्तीस अन्तरायोंको टाल यहां ले लेते हैं, यदि किसीने पड़गाहन नहीं किया तो वे खेद नहीं करते चले जाते हैं, यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नहीं है । उन्हें आहारमें सर्वथा राग नहीं है परन्तु विना आहारके शरीर अधि करनेमें सहायक नहीं हो सक्ता है इसीलिये आहारके लिये उन्हें बाध्य होना पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक बनता है। मुनियोंने अ दूर करनेके लिये ही तो अखिल राज्य सम्पत्तिका त्याग कर यह निरीह अङ्गीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है । श्रावक भी हितके लिये मुनियोंको आहार देता है न कि मुनियोंको पोष्य समझकर इसलिये मुनियोंको स्वयं अपने पोषणकी इच्छा नहीं है और न आवश्यक आचार्य उनका पोषक कैसे कहा जा सक्ता है । दूसरे-आचार्यका मुनियोंके सा सम्बन्ध है-मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें निज व्रतमें शिथिल देखकर सावधान धर्मसे च्युत होनेपर उन्हें प्रायश्चित देकर पुनः तद्वस्थ करना, धर्मका उन्हें उ धर्मका आदेश देना, तपश्चर्यामें उन्हें सदा दृढ बनाना, मरणासन्न मुनिका समा इत्यादि कर्तव्य आचार्योंका है धार्मिक कर्तव्य होनेसे ही आचार्योंको रागरहि गया है । शासन करते हुए भी आचार्य प्रमादी नहीं हैं, किन्तु शुद्धात्म आत्मध्यानमें तत्पर हैं इसलिये आचार्योंको संघका पालक और पोषक अयुक्त है ।

अथवा—

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाऽऽचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रतच्युतः ॥

अर्थ—अथवा मोहके वशीभूत होकर अथवा प्रमादसे जो लौकिक क्रि उस कालमें वह आचार्य नहीं कहा जा सक्ता है, इतना ही नहीं किन्तु अन्तरं (६११) [illegible] है ।

भावार्थ—इस श्लोकसे भलीभांति सिद्ध होता है कि आचार्य केवल धार्मिक क्रियाको करता है, और मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंका ही वह शासक है। यदि मोहके उद्रेकसे कदाचित् वह किसी लौकिक क्रियाको भी कर डाले तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस कालमें आचार्य ही नहीं कहा जा सकता है उस समय वह आचार्यपदसे गिर चुका है, अन्तरंगसे विहीन हो चुका है।

उपसंहार—

उक्तमततपः शीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी॥ ६५८॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनके अनुसार जो व्रत, तप, शील, संयमादिकका धारण करनेवाला ही गणका स्वामी आचार्य कहा जाता है, वही साक्षात् गुरु है, वही नमस्कार करने योग्य उससे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला गणका स्वामी आचार्य नहीं कहा जा सकता।

उपाध्यायका स्वरूप—

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः॥ ६५९॥
कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम्॥ ६६०॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम्।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः॥ ६६१॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत्क्वचित्॥ ६६२॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः॥ ६६३॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम्।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी॥ ६६४॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणी॥ ६६५॥

अर्थ—प्रत्येक प्रश्नका समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वादके रहस्यका जानकार, वचन बोलनेमें चतुर, वचन ब्रह्मका सर्वज्ञ, सिद्धान्त शास्त्रका पारगामी, वृत्ति और प्रधान सूत्रोंका विद्वान, उन वृत्ति और सूत्रोंको शब्द तथा अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला, अर्थमें मधुरता लानेवाला, बोलनेवाले व्याख्याताओंके मार्गमें अग्रगामी इत्यादि गुणोंका धारी

उपाध्याय होता है । उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण शास्त्रोंका अभ्यास है, जो [illegible] शास्त्रोंका अध्ययन करता है तथा जो शिष्योंको अध्ययन कराता (पढ़ाता) है वही [illegible] कहलाता है। उपाध्यायमें पढ़ने पढ़ानेके सिवा बाकी व्रतादिकोंका पालन आदि [illegible] समान साधारण है। उपाध्याय धर्मका उपदेश कर सकता है, परन्तु आचार्यके [illegible] आदेश (आज्ञा) कभी नहीं कर सकता। बाकी आचार्योंके ही सहवासमें वह रहता है [illegible] प्रकार निर्ग्रन्थ अवस्था रखता है, आचार्यके समान ही संयम, तप, शुद्ध चारित्र, [illegible] आचारों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, तप, वीर्य)को वह शुद्धबुद्धि [illegible] पालता है। मुनियोंके जो अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुण बताये [illegible] उन्हें भी वह पालता है, परीषह तथा उपसर्गोंको भी वह जितेन्द्रिय उपाध्याय [illegible] यहां पर बहुत विस्तार न कर संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि निश्चयसे उपाध्याय [illegible] मन न हो अन्तरंग और बाह्यमें शुद्ध रूपका धारण करनेवाला है, बुद्धिमान् है, [illegible] [illegible] है, और गुणोंमें सर्व श्रेष्ठ है।

नयी प्रतिज्ञा—

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ ६६६ ॥

अर्थ—उपाध्याय अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है, उसका स्वरूप तो कहा जा चुका, अब साधुका लक्षण कहा जाता है जो कि आगमसे भलीभांति सिद्ध है।

साधुका स्वरूप—

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्दृक्ज्ञप्तिपुरःसरम् । *
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥
नोच्याच्चायं यमी किंचिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किंचिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरंगाब्धिवन्मुनिः ॥ ६६९ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि ।
[illegible] किं पुनः ॥ ६७० ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

* [illegible]

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मोक्षका मार्ग चारित्र है उस चारित्रको जो स्वशक्ति पूर्वक आत्मसिद्धिके लिये सिद्ध करता है उसे साधु कहते हैं । वह साधु न तो कुछ कहता ही है और न हाथ पैर आदिसे किसी प्रकारका इशारा ही करता है तथा मनसे भी किसीका चिन्तवन नहीं करता, किन्तु एकाग्रचित्त होकर केवल अपने शुद्धात्माका ध्यान करता है जिसकी अन्तरंग और बाह्य वृत्तियां बिल्कुल शान्त हो चुकी हैं वह तरंगरहित समुद्रके समान मुनि कहलाता है । वह मुनि न तो सर्वथा आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है, आदेश और उपदेश वह स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी नहीं करता है विशेषकी तो बात ही क्या है, अर्थात विपक्ष संसारके विषयमें तो वह बिल्कुल ही नहीं बोलता है । ऐसा मुनि वैराग्यकी उत्कृष्ट कोटि तक पहुंच जाता है । अथवा मुनिका स्वरूप ही यह है कि वह वैराग्यकी चरमसीमा तक पहुंच जाता है । और वह मुनि अधिक प्रभावशाली, दिगम्बर दिशारूपी वस्त्रोंका धारण करनेवाला, बालकके समान निर्विकार रूपका धारी, दयामें सदा तत्पर, निष्परिग्रह नग्न, अन्तरंग तथा बहिरंग मोहरूपी ग्रन्थियों (गाँठों)को खोलनेवाला, सदाकालीन नियमोंको पालनेवाला, तपकी किरणोंके द्वारा श्रेणीके क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला, तपस्वी, परीषह तथा उपसर्गादिकोंसे अजेय, कामदेवका जीतनेवाला, एषणाशुद्धिसे परम शुद्ध, चारित्रमें सदा तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला होता है । ऐसा ही साधु कल्याणके लिये नमस्कार करने योग्य है । और कोई विद्वानोंमें श्रेष्ठ भी हो तो भी नमस्कार करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ—मुनिके लिये ध्यानकी प्रधानता बतलाई गई है, इसी लिये मुनिको आदेश और उपदेश देनेका निषेध किया गया है । आदेश तो सिवा आचार्यके और कोई दे ही नहीं सकता है परन्तु मुनिके लिये जो उपदेश देनेका भी निषेध किया गया है वह केवल ध्यानकी मुख्यतासे प्रतीत होता है । सामान्य रीतिसे मुनि मोक्षादिके विषयमें उपदेश कर ही सकता है । यहांपर पदस्थके कर्तव्यका विचार है इसलिये साधुके कर्तव्यमें ध्यानमें तल्लीनता ही कही गई है । उपदेश क्रिया साधु पदके लिये ही वर्जित है । क्योंकि वह मुख्यतया उपाध्यायका काम है ।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—महान् पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ यह मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) है । तथापि उसमें क्रमसे तरतम रूपसे विशेषता भी है ।

भावार्थ—सामान्य रीतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही मूलगुण- गुणोंके धारक समान हैं तथापि विशेष कार्योंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें विशेषता भी है।

आचार्यमें विशेषता—

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥ ६७६ ॥

अर्थ—दीक्षा देनेसे, आदेश करनेसे गणका स्वामी आचार्य प्रसिद्ध है । तथा [illegible] आदेश, अनुभवसे वह अपने आत्मामें तल्लीन है यह बात भी प्रसिद्ध है ।

इसीका खुलासा—

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—अर्थात् वह आचार्य दर्शन मोहनीयका अनुदय होनेसे अपने आत्मामें [illegible] ही है । उसे उस विषयमें तल्लीनता रहित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि दर्शन मोहनीयके अनुदयका अविनाभावी निश्चयसे शुद्धात्माका अनुभव है । इसलिये दर्शन मोहनीयका [illegible] होनेसे आचार्य शुद्धात्माका अनुभव करता ही है ।

और भी विशेषता—

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
बाह्याचारेऽखिलं न स्यात् क्षतिर्वा न तत्क्षतिः ॥ ६७८ ॥

अर्थ—आचार्यके शुद्धात्माके अनुभवका अविनाभावी दर्शन मोहनीय [illegible] अनुदय है ही, साथमें एक देश चारित्रमोहनीय कर्मका भी उसके नाश हो चुका है । [illegible] [illegible] कारणोंसे [illegible] नहीं है ।

किन्तु—

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—[illegible] चारित्रकी क्षति [illegible] [illegible] [illegible] नहीं है । क्योंकि [illegible] [illegible] है ।

चारित्रकी क्षति और अक्षतिमें कारण—

सति संज्वलने नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ ६८० ॥
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तद्रक्षतिः।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥
किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथवा क्वचित्।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६८५ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्त्तुं न शक्यते यस्माद्त्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठीके अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका तो अनुदय ही है, केवल संज्वलन कषायका उनके उदय है। संज्वलन कषाय देशघाती है। उसके स्पर्धक सर्वघाती नहीं है। उस एकदेश घात करनेवाली संज्वलन कषायका विपाक यदि तीव्र हो तो चारित्रकी क्षति है, यदि उसका विपाक मन्द हो तो चारित्रकी कोई क्षति नहीं है। संज्वलन कषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण है और उसकी मंदता चारित्रकी क्षतिका कारण नहीं है। इसका कारण यह है कि संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आत्मामें संक्लेश होता है और संक्लेश चारित्रके क्षयका कारण है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे आत्मा विशुद्ध होता है। और विशुद्धि चारित्रके क्षयका कारण नहीं है किन्तु उसकी वृद्धिका कारण है। यह संक्लेश और विशुद्धि उसी प्रकारसे कम बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे कि संज्वलन कषायके विपाकमें तीव्रता और मन्दताके अंशोंमें तरतमता होती रहती है। यह तरतमता अनेक भेदोंमें विभाजित की जाती है। यह चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण कहा गया है परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती है, और यदि उनके संज्वलन कषायकी तीव्रतासे थोड़े अंशोंमें चारित्रकी क्षति भी हो जाय तो भी आचार्य स्वात्मामें अतत्पर (असावधान) नहीं सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु अपने आत्मामें सदा तत्पर ही हैं। संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश

बढ़ जाते हैं अथवा उक्त कषायके तीव्रोदयसे संक्लेशके अंश बढ़ जाते हैं, यह सब शुद्धात्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं है, चाहे दैववश उनके विशुद्धिके अंश चाहे संक्लेशके अंश बढ़ जांय परन्तु आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है। लन कषायकी मन्दतासे चारित्रमें विशुद्धचंश प्रकट हो जाता है और संज्वलन कषायकी तासे चारित्रमें संक्लेशांश प्रकट हो जाता है बस इतनी ही बाधा समझनी चाहिये। ज्वलन कषायकी आचार्यके तीव्रता हो तो वह तीव्रता कुछ प्रकोप (प्रमाद) लाती है और कोई अपराध (शुद्धात्माकी च्युतिका कारण) नहीं कर सकती है। इसलिये थनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि संज्वलन कषायकी तीव्रता अथवा कुछ अंशोंमें क्षति आचार्यके शुद्धात्मानुभवका नाश नहीं कर सकती। क्योंकि शुद्धात्म के नाशका कारण और ही है।

शुद्धात्माके अनुभवमें कारण—

हेतुःशुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

अर्थ—शुद्धात्माके ज्ञानमें कारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम है। इसका मिथ्यात्व कर्मका उदय है, मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं सकता है।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय होनेपर आत्माके शुद्धानुभव होता है। चारित्रमोहनीयका उदय विघ्न नहीं कर सकता है।

भावार्थ—शुद्धात्मानुभवकी सम्यग्दर्शनके साथ व्याप्ति (सहकारिता) है। सम्यग्दर्शन होनेमें दर्शनमोहनीयका अनुदय मूल कारण है। इसलिये दर्शनमोहनीयका अनुदय होने शुद्धात्माका अनुभव नियमसे होता है, उस शुद्धात्माके अनुभवमें चारित्र मोहनीयका बाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि चारित्र मोहनीयका उदय चारित्रके रोकनेमें कारण है शुद्धात्माके अनुभवमें उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव आचार्यके यदि कषायका तीव्रोदय भी हो जाय तो भी उनके शुद्धात्मानुभवनमें वह बाधक नहीं हो हां उनके चारित्रमें कुछ प्रमाद अवश्य होगा। इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

न चाकिंचित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उदय कुछ करता ही न हो ऐसा भी नहीं है। यद्यपि वह दर्शन मोहनीयके कार्यके लिये असमर्थ है तथापि अपने कार्यके लिये अवश्य समर्थ है।

चारित्र मोहनीयका कार्य—

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

अर्थ—आत्माके चारित्र गुणकी क्षति करना ही चारित्र मोहनीयका कार्य है। चारित्र मोहनीयका कार्य आत्माके दर्शन गुणकी क्षति करना नहीं हो सक्ता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिये उसका घातक भी जुदा ही कर्म है। जिसप्रकार दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्र मोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है। उसका काम केवल चारित्र गुणको घात करनेका है।

दृष्टान्त—

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसीका चक्षु रोग रहित है और दैवयोगसे दूसरे किसीके चक्षुमें किसी प्रकारकी पीड़ा है तो उस पीड़ासे निर्मल चक्षुवालेकी कोई हानि नहीं हो सक्ती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

कषायोंका कार्य—

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

अर्थ—जबतक कषायोंका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जब कषायोंका उदय हो जाता है तभी आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है।

सारांश—

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अर्थ—इसलिये कषायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकार क्षति नहीं हो सक्ती है जबतक कि दर्शन मोहनीयका उदय न हो।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयका उदय ही शुद्धात्माके अनुभवका बाधक है। कषायों (चारित्र मोहनीय) का उदय चारित्रमें बाधक है।

आचार्य, उपाध्यायमें साधुकी समानता—

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।

साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमौ मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ ६९५ ॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ ६९६ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

अर्थ—आचार्य और उपाध्याय दोनों ही समान हैं। जो कारण आचार्यके हैं वे ही उपाध्यायके हैं। दोनों ही साधु हैं अर्थात् साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें–अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण वे दोनों पालते हैं। साधुके समान ही आत्मानुभव करनेवाले हैं। दोनों ही शुद्ध हैं, शुद्ध-उपयोग सहित हैं। आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर भी कोई तरतम रूपसे विशेषता नहीं पाई जाती है, और न इन दोनोंसे कोई विशेष अतिशय साधुमें ही पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि साधुमें कोई अन्तरंग विशेष उत्कर्ष हो वह उत्कर्ष (उत्कृष्टता) इनमें न हो, किन्तु तीनों ही समान हैं। यदि लेशमात्र विशेषता है तो उन तीनोंमें बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे ही है अन्तरंग तीनोंका समान है, इसलिये बाह्य क्रियाओंमें भेद होनेपर भी अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे कोई हानि नहीं है, क्योंकि मूल कारण अन्तःशुद्धि है वह तीनोंमें समान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें ही संज्वलनका मन्द, मध्यम, तीव्र उदय कोई नियमित नहीं है, कैसे भी अंशोंका उदय हो यह बात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध है।

प्रत्येकं बह्वः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैककशः पृथक् ॥६९८॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय और साधु तीनोंके ही अनेक भेद हैं, वे भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे हो जाते हैं।

यथा—

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—कोई आचार्य कभी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इसमें हेतु—

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशाः स्पर्धकाः क्षणम्।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

अर्थ—उक्त कही हुई विशुद्धि कभी उत्कृष्टतासे मध्यम अथवा जघन्य क्यों हो जाती है ? इसका कारण यही है कि वहां पर अनेक प्रकार भावोंमें तरतमता करनेवाले कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते हैं। विशुद्धिकी तरतमतामें धर्मका उपदेश तथा धर्मका आदेश—बाह्य कारण—हेतु नहीं कहा जा सकता है। भावार्थ—आचार्य जो धर्मका उपदेश और आदेश करते हैं वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नहीं है। क्योंकि उसके करनेमें आचार्यके थोड़ा भी प्रमाद नहीं है, विशुद्धिमें हीनताका कारण केवल संज्वलन कषायके स्पर्धकोंका उदय है जो लोग यह समझते हैं कि मुनियोंका शासन करनेमें आचार्यके चारित्रमें अवश्य शिथिलता आ जाती है, ऐसा समझना केवल भूल भरा है। आचार्योंका शासन सकषाय नहीं है, किन्तु निष्कषाय धार्मिक शासन है इसलिये वह कभी दोषोत्पादक नहीं कहा जा सकता है।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई परिपाटी (पद्धति–क्रम) से उपाध्याय और साधुओंकी व्यवस्थाका परिज्ञान करना चाहिये। क्योंकि उनमें भी आचार्यसे कोई विशेषता नहीं रह जाती है। तीनों ही समान हैं।

बाह्य कारण पर विचार।—

नोह्यं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि आचार्यकी विशेषतामें बाह्य क्रियायें–धर्मका उपदेश तथा आदेश भी कारण हैं, क्योंकि अभ्यन्तर हेतुका भी कहीं पर बाह्य कर्म बाह्य हेतु होता ही है ? अर्थात् कर्मोदयरूप अभ्यन्तर कारणमें धर्मोपदेशादि क्रियाको भी कारण मानना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि ऐसी तर्कणा नहीं करना चाहिये।

क्योंकि।—

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ—ऊपर जो तर्कणा की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि बाह्य जितनी भी वस्तु है सभी अकिञ्चित्कर (कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं) है, हां यदि कोई मोहके वशीभूत होकर

बाह्य आचारादि पदको चाहे तो अवश्य उसके लिये वह बाह्य पद फल नहीं उसका फिर सांसारिक फल होगा।

आचार्यकी निरीहता।—

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहिः।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४॥

अर्थ—धर्मका उपदेश, धर्मका आदेश, अपना पदस्थ और उसका फल आदि बाह्य बातोंको सर्वथा नहीं चाहनेवाले आचार्यकी तो बात ही निराली है। भावार्थ—धर्मोपदेश आदि कार्योंको आचार्य चाहनापूर्वक नहीं करता है, किन्तु केवल धर्म करता है इसलिये बाह्यकारण उसकी विशुद्धिका विघातक नहीं है।

यहांपर कोई शंका कर सकता है कि जब आचार्य मुनियोंपर पूर्ण रीतिसे शासन करते हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके इच्छा नहीं है, बिना इच्छाके वे शासन ही नहीं कर सकते हैं? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५॥

अर्थ—धर्मादेशादि कार्य करते हुए भी आचार्य इच्छाविहीन हैं यह बात असिद्ध नहीं है। जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाती है वास्तवमें उसीका नाम इच्छा है, जहांपर धार्मिक कार्योंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा ही नहीं कहते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार सांसारिक वासनाओंके लिये जो निदान किया जाता है उसीको निदानबन्ध कहते हैं, जो पुरुष मोक्षके लिये इच्छा रखता है उसको निदान बन्धवाला नहीं कहा जाता, उसी प्रकार जो इच्छा सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती है वास्तवमें वही इच्छा है, जो धार्मिक कार्योंमें मनकी वृत्ति लगाई जाती है उसे इच्छा, शब्दसे भले ही कहो परन्तु वास्तवमें वह इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा वहीं कही जाती है जहांपर किसी वस्तुकी चाहना होती है, आचार्यके धर्मादेशादि कार्योंसे किसी वस्तुकी चाहना नहीं है। किन्तु निस्पृह आत्मध्यानमें मुनिनाथ लीन है।

शङ्काकार—

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६॥

अर्थ—बिना क्रियाके इच्छा नहीं हो सकती है और बिना इच्छाके क्रिया नहीं होती है यह नियम है। इसलिये बिना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती।

इन्द्रिय सम्बन्धी विषय हो अथवा नहीं हो। भावार्थ—चाहे संसारके विषयमें क्रिया हो , धर्मके विषयमें हो, कैसी भी क्रिया हो, बिना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती इसलिये आचार्यकी धर्मादेशादिक क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही है, इसलिये आचार्य भी 1 सहित ही हैं न कि इच्छा रहित !

उत्तर—

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादक्षीणमोहिषु
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'इच्छाके बिना क्रिया नहीं ो है' इस लक्षणकी क्षीणकषाय वालोंमें अतिव्याप्ति है, बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो ो है परन्तु वहां इच्छा नहीं है यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छा, ी जाय तो बन्ध सदा ही होता रहेगा। और बन्धकी नित्यतामें मुक्ति ही असंभव हो गी। भावार्थ—ऐसा नियम नहीं है कि बिना इच्छाके क्रिया हो ही नहीं सकी है, वें गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो है परन्तु इच्छा नहीं है क्योंकि ा लोभकी पर्याय है, और लोभ कषाय वहांपर नष्ट हो चुकी है यदि दशवें गुणस्थानके अन्तमें र बारहवें गुणस्थानमें भी इच्छाका सद्भाव माना जाय तो आत्मामें कर्मबन्धका कभी अन्त ीं हो सकेगा सदा बन्ध हो होता रहेगा। क्योंकि बन्ध कषायसे होता है, कारणके ावमें कार्यका होना अवश्यंभावी है, बन्धकी नित्यतामें आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो ा है, इसलिये मोक्षका होना ही असम्भव हो जायगा। मोक्षकी असंभवतामें आत्मा सदा ारावस्थामें दुःखी ही रहेगा। उसके आत्मिक सुख गुणका कभी भी विकाश न हो सकेगा। लिये बिना इच्छाके कर्म नहीं हो सका है, यह शंकाकारकी शंका निर्मूल है।

सारांश—

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन तीनोंमें विशुद्धिके नाना अंशोंकी क्षासे अन्तरंग कृत भेद है, सामान्य रीतिसे तीनोंमें ही समानता है। उन तीनोंमें बाह्य याओंकी अपेक्षासे भेद बतलाना यह पक्ष ठीक नहीं है।

आगमका आशय—

किंचास्ति यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥ ७०९ ॥

धार्मिक जीवका धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवंजवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ ७१६॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥ ७१७॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढिसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया॥ ७१८॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥ ७१९

अर्थ—घर सहित–गृहस्थ और घर रहित–मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥ ७२०॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्। संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।
+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढ़िसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्रगट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्त्वदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करै कि आचार्य शासन क्रियाके पीछे प्रायश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जाचुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तरंग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद शुद्धिका कारण नहीं है।

ग्रन्थकारका आशय—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—प्रसङ्ग पाकर यहांपर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकीका उनका शेष स्वरूप जिनेन्द्रकथित आगमके अनुसार कहेंगे।

पौराणिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढ़िसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—घर सहित—गृहस्थ और घर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।
+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।
रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढ़िसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्रगट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्त्वदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य आसन कियाके पीछे प्रायश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जाचुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तरंग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद शुद्धिका कारण नहीं है।

प्रकरणका आशय—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—प्रसङ्ग वश यहां पर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकी उसका विशेष स्वरूप जिनेन्द्रकथित आगमके अनुसार [illegible]।

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ ७१६॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥ ७१७॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढिसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया॥ ७१८॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥ ७१९

अर्थ—घर सहित-गृहस्थ और घर रहित-मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥ ७२०॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौक्तिकरीति और रूढिसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि बिना [illegible] [illegible] केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible] कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—[illegible] [illegible] [illegible] आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण [illegible] [illegible] [illegible] ध्यानको [illegible] है।

[illegible]—

[illegible] ॥ ७१२ ॥

अर्थ—[illegible] आचार्य और उपाध्याय [illegible] (बिना किसी [illegible] [illegible] है। [illegible] नहीं है।

[illegible]।
[illegible] ॥ ७१३ ॥

अर्थ—[illegible] नहीं है कि आचार्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] आचार्य—[illegible] कोई [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] नहीं है [illegible] [illegible] है कि [illegible] नहीं है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा क्रिया सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—घर सहित–गृहस्थ और घर रहित–मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम्॥ ७१०॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढिसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी कार प्रगट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत्॥ ७११॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता त्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत्॥ ७१२॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) द्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
[illegible] पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत्॥ ७१३॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करे [illegible] पदको ग्रहण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य [illegible] पीछे प्रायश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं [illegible] यह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहण कर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उनमें [illegible] ही मग्न हैं, साधुओंकी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है [illegible] शुद्धिका [illegible] नहीं है।

[illegible]—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो [illegible] तत्स्वरूपं जिनागमात्॥ ७१४॥

[illegible]

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥७१६॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥ ७१७॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया॥ ७१८॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढ़िसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥ ७१९

अर्थ—घर सहित–गृहस्थ और घर रहित–मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥ ७२०॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

\+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढ़िसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्रगट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य गमन क्रियाके पीछे प्रायश्चित लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहण कर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तरंग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद शुद्धिका कारण नहीं है।

ग्रन्थान्तरका आधार—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—यहां पर प्रसंग पाकर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकी उसका विशेष स्वरूप जिनेन्द्रदेवके आगमके अनुसार जानना।

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः॥ ७१५॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेनयोः॥ ७१६॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥ ७१७॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढितोधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया॥ ७१८॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढ़िसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥ ७१९

अर्थ—घर सहित—गृहस्थ और घर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥ ७२०॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणं संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोंको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नहीं कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोंका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश—

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत्॥ ७२८॥

अर्थ—व्रतोंके पालनेमें जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोंमें कहे गये हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये। मद्य मांसादिकोंका तो कौन श्रावक सेवन करेगा? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य हैं।

दान देनेका उपदेश—

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः॥ ७२९॥

अर्थ—उत्तम श्रावकोंको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोंके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये। भावार्थ—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते हैं, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते हैं। जैसा पात्र होता है उसी प्रकारका दानके फलमें भेद हो जाता है। जिस प्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोंमें विशेषता देखी जाती है उसी प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है। जिस प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसी प्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि, भक्ति, निस्पृहता आदि गुणोंसे भी दानके फलमें विशेषता होती है। दानका फल भोगभूमि आदि उत्तम सुखस्थान कहे गये हैं। धनोपार्जनसे रात दिन आरम्भजनित पापका करनेवाले श्रावकोंको पात्रदान ही पुण्यबन्धका मूल कारण है। इसलिये प्रतिदिन यथाशक्ति चार प्रकारका दान करना चाहिये। यद्यपि वर्तमान समयमें उत्तम पात्रोंका अभावसा हो गया है तथापि उनका सर्वथा अभाव नहीं है। मुनिके न मिलनेपर उत्तम श्रावक, ब्रह्मचारी, उदासीन, सहधर्मी जनोंको दान देना चाहिये। दान चार प्रकार है—आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान। यद्यपि सामान्य दृष्टिसे चारों ही दान विशेष पुण्यके कारण हैं तथापि इन चारोंमें उत्तरोत्तर विशेषता है। आहारदान एकवारकी क्षुधाको निवृत्त करता है; औषधदान अनेक दिनके लिये शारीरिक रोगोंको दूर कर देता है, अभयदान एक जन्मभरके लिये निर्भय बना

* "अतीचारोंव्यतिक्रमः" किसी व्रतके एक अंशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं।

देता है। और ज्ञानदान सदाके लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषरहित और निर्भय बना देता है। ज्ञानदानका अतुल माहात्म्य है। पहलेके तीनों दान तो शारीरिक बाधाओंको ही दूर करते हैं परन्तु ज्ञान दान आत्माके निज गुणका विकाश करता है। पहलेके तीन दान तो एक भवके लिये अथवा उसमें भी कुछ समयके लिये ही इस जीवके सहायक हैं परन्तु ज्ञान दान इस जीवका सदाके लिये परम सहायक है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो इस जीवात्माको सांसारिक वासनाओंसे हटाकर त्याग मार्ग पर ले जाता है इसलिये श्रावकोंको चारों ही दान और विशेषतासे ज्ञान दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। छात्रोंकी सहायता करना, विद्यालयोंका खोलना, शास्त्रोंका वितरण करना, सदुपदेश देना, और स्वयं पढ़ाना ये सम्पूर्ण बातें ज्ञान दानमें गर्भित हैं।

कुपात्र और अपात्रको भी दान देनेका उपदेश—

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥ ७३०॥

अर्थ—* कुपात्र और अपात्रके लिये भी यथोचित दान देना चाहिये। इतना विशेष है कि कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध (वर्जित) कहा गया है, परंतु वह कृपाबुद्धिसे निषिद्ध नहीं है। भावार्थ—कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे जो दान दिया जाता है वह मिथ्यात्वमें शामिल किया गया है, क्योंकि पात्र सम्यग्दृष्टि ही होसकता है। पात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक नहीं दिया जाता किन्तु करुणा बुद्धिसे दिया जाता है।

दानका सामान्य उपदेश—

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१॥

अर्थ—और भी जो अशुभकर्मोदयसे क्षुधा, प्यास आदि बाधाओंसे पीडित दीन पुरुष हैं उनके लिये भी करुणा सिन्धुओं (दयालुओं)को करुणादान आदि करना चाहिये।

* उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र है, अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों से रहित है वह अपात्र है।

(सार रत्नांकुर)

जिनेन्द्र पूजनका उपदेश—

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ ७३२ ॥

अर्थ—शुद्धबुद्धि गृहस्थको तेरहवें गुणस्थानवर्ती, वीतराग, सर्वज्ञ अरहन्त भगवानकी पूजन करना चाहिये अथवा उन अरहन्तोंकी प्रतिमाओंमें अरहन्तकी बुद्धि रख कर स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके उनकी पूजा करना चाहिये अथवा स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके सिद्ध भगवानकी भी पूजन करना चाहिये।

आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी पूजाका उपदेश—

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम्।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः ॥ ७३३ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके चरणोंकी पहले स्तुति करके फिर मन, वचन, कायकी शुद्धतासे श्रावकको उन तीनों परमेष्ठियोंकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सहधर्मी और ब्रह्मचारियोंकी विनय करनेका उपदेश—

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम्।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—जो अपने समान धर्मसेवी (अपने समान श्रावक) हैं उनका यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, तथा जो व्रती श्रावक हैं अथवा सम्यग्दृष्टि हैं उनका भी यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, और विशेष रीतिसे ब्रह्मचारियोंका आदर सत्कार करना चाहिये।

व्रतयुक्त स्त्रियोंकी विनय करनेका उपदेश—

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥ ७३५ ॥

अर्थ—व्रतयुक्त जो स्त्रियां हैं, उनका भी लोकसे अविरुद्ध आदर सत्कार करना जैनागममें निषिद्ध नहीं है। भावार्थ—जिस प्रकार व्रती पुरुष सन्मान दानके योग्य हैं उसी प्रकार व्रत युक्त स्त्रियां भी सन्मान दानके योग्य हैं, क्योंकि पूज्यताका कारण चारित्र है वह दोनोंमें समान है। इतना विशेष है कि स्त्रियोंका सन्मान आदि लोकसे अविरुद्ध करना चाहिये इसका आशय यह है कि लोकमें जितना सन्मान उन्हें प्राप्त है उसीके अनुसार देना चाहिये।

जिनचैत्यघर बनानेका उपदेश—

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता।
यथा सम्पद्विशेषात् ...

अखण्डित हैं। भावार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उत्तरोत्तर भिन्न हैं तीनोंमेंसे पहले २ के होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं, परन्तु उत्तर उत्तर के होनेपर पहले का होना अवश्यंभावी है' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं। क्योंकि जिस समय आत्मामें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय, क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय मति अज्ञान, श्रुत अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक आत्मामें सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान प्रकट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न (प्रकट) करनेवाला तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम है। परन्तु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है। इसी लिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियमसे होजाती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान भजनीय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक् चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र हो ही हो। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो होजाता है। परन्तु सम्यक्चारित्र वहां नहीं है। वह पांचवें गुणस्थानसे शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रकट हो जाता है। इसका कारण भी यही है कि सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इन सातोंमें अन्तके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके हैं और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्र मोहनीयके हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दो प्रकारकी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है, इसीलिये चौथे गुणस्थानमें निर्बाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट रहता है, परन्तु जब * प्रथमोपशम सम्यक्त्व

* आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलिंच वा सेसे। अण अण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ अर्थात्–जिस समय अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जीव सम्यक्त्वसे गिरता है उस समय दूसरे गुणस्थानमें आता है, दूसरा गुणस्थान भी यद्यपि जीवकी वैभाविक अवस्था है तथापि वैभाविक अवस्था मिथ्यात्वके सम्बन्धसे [illegible] है। (गोमट्सार)

एक समयसे लेकर छह आवलिकाल बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका भी साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है।

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध होजाती है कि जब स्वरूपाचरणचारित्र और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होने वाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं इसीलिये ग्रन्थकारने तीनोंको अविनाभावी बतलाते हुए तीनोंको अखण्डित कहा है। परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरण चारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र नहीं है। क्योंकि क्रिया रूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है। इसीसे पहले यह भी कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है। यहांपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभाव होनेपर ही उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही होजाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है, इसका भी कारण यही है कि चारित्र गुणको घात करनेवाली चारित्र मोहनीय कषाय दशवें गुणस्थानके अन्तमें सर्वथा नष्ट होजाती हैं और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म बारहवेंके अन्तमें नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परन्तु इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे यह शंका ठीक प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जाचुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथाख्यातचारित्र प्रकट होजाता है तथापि एक दृष्टिसे उसे अभी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जा सकता है, यदि कहा जाय कि चारित्र मोहनीय उसका घातक था जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्ण चारित्र कहा जाता है अथवा तब भी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जाता है तो कहना चाहिये कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामें बाधक है ? शंका ठीक है, परन्तु विचारमें दूसरी शंकायें उठाई जा सकती हैं कि यदि चारित्र मोहनीयके नष्ट होनेसे चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ही क्यों नहीं मोक्ष हो जाती ! क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति चौथे तक हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेंमें हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति

तेरहवें गुणस्थानमें हो जाती है। जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहां पर ही मोक्षका होना आवश्यक है, अन्यथा रत्नत्रयमें× समर्थकारणता ही नहीं आ सकी है। तीनोंकी पर्ति उत्तर क्षणमें ही मोक्ष प्राप्तिका होना अवश्यंभावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षप्राप्ति गुणस्थानमें होती है इससे सिद्ध होता है कि अभी तक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ अव है, और चारित्र ही मोक्ष प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुष वह इस प्रकार है–जिस प्रकार आत्माका चारित्र गुण है उसी प्रकार योग भी आत्माक है। चारित्र गुण निर्जराका हेतु है परन्तु योग गुण मन, वचन, कायरूप अशुद्धावस्थामें ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थान तक चारित्र योगके साथ ही अपूर्ण बना रह दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इ चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषङ्गिक दोषी बनना पड़ता यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि च और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिस प्रकार योगसे आत्मा अ समझा जाता है उसी प्रकार चारित्र भी समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अव युक्त होकर शुद्धावस्थामें आजाती है तभी चारित्र भी आनुषङ्गिक दोषसे मुक्त हो जाता इसीलिये शास्त्रकारोंने यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है वहीं परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी बतलाया है। इसलिये चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता हो और वहींपर मोक्षप्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थ कारणता भी सिद्ध होजाती है ने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है म्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं हैं। किन्तु अवश्यंभावी । क्योंकि बिना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता है। इसीलिये सम्यग्द सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है। जिस प्रकार चारित्रमें दोनों गर्भि उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है।

× कारण दो प्रकारका होता है–एक समर्थ कारण एक असमर्थ कारण। जिसके होने उत्तर क्षण अवश्य हो कार्यकी सिद्धि हो उसे समर्थ कारण कहते हैं। और जिस कारण होनेपर [illegible] उत्तर क्षण कार्य न हो उसे असमर्थ कारण कहते हैं।

* स्वयं दोषी न होने पर भी जो [illegible] होना पड़ता है उसे आनुषङ्गिक दोष कहते हैं। जैसे कोई पुरुष स्वयं [illegible] न हो परन्तु [illegible] [illegible]

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनोंमें सम्यग्दर्शन कारण है, और वह ...गता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग् विशेषणकी अपेक्षासे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ...न और चारित्रको प्रकट करनेमें कारण नहीं है किन्तु ज्ञान और चारित्रमें सम्यक्पना ...में कारण है। इसी लिये वह तीनोंमें प्रधान है।

श्लोकका खुलासा—

अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥ ७६९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं। अथवा उन दोनोंमें नवीन सम्यक्पना आता है।

भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इनके सम्यक्पनेमें) सम्यग्दर्शन कारण है। तो वे दोनों उसके कार्य हैं। कार्यसे कारणका अनुमान हो ही जाता है। इसलिये सम्यक् चारित्रके ...कहनेसे दर्शन और ज्ञानका समावेश उसमें स्वयं सिद्ध है। इस कथनसे ... ...की यह शंका ...के जब तीनों ही मोक्ष मार्ग हैं तो 'मुनियोंके केवल चारित्रका ही निरूपण क्यों किया ...ता है सर्वथा निर्मूल है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य—

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ ७७० ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें कारणीभूत जो अतिशय ज्ञानात्मक लब्धि (मतिज्ञाना...वीय कर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होने पर ही होती है। अथवा ...का शुद्ध भाव—शुद्धात्मानुभूति सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७७१ ॥

अर्थ—और भी जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है यदि वह सम्यग्दर्शन रहित है तो ...ज्ञान है और न वह चारित्र है, यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला ही है।

खुलासा—

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय कुत्रचित् ।
मोक्षमार्गैकमात्रस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७२ ॥

अर्थ—इसलिये उन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन भी कहीं दोषाधायक नहीं मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों ही उसके साधक रूपसे कहे जाते हैं।

बन्ध मोक्ष व्यवस्था—

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन॥ ७७३॥

अर्थ—प्रश्न करनेमें जो अति चतुर हैं उन्हें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी संक्षे जान लेना चाहिये। वह यह है कि रागांश-परिणामोंसे बन्ध होता है और बिना रागांश परिणामोंके बन्ध कभी नहीं हो सकता।

ग्रन्थान्तर—

* येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ ७७४॥

अर्थ—जिस अंशसे आत्मा सम्यग्दर्शन विशिष्ट है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध न होता और जिस अंशसे उसके राग है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध होता है। भावार्थ—बन्ध कारण केवल रागांश ही है।

सकोच और प्रतिज्ञा—

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति॥ ७७५॥

अर्थ—प्रसङ्गवश अंशरूपसे धर्मका स्वरूप भी कहा गया, अब आचार्य कहते हैं कि अवकाश पाकर उस धर्मका स्वरूप विस्तार पूर्वक भी कहेंगे।

सारांश—

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी।
ख्यातप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता॥ ७७६॥

अर्थ—देव गुरु और धर्ममें श्रद्धान रखना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है, अन्यथा (इससे विपरीतमें) मूढदृष्टि दोष कहलाता है।

अमूढदृष्टि सम्यक्त्वका गुण है—

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः॥ ७७७॥

* पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अर्थ—अमूढदृष्टि सम्यग्दर्शनका गुण है। यह गुण किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं है किन्तु गुणोत्पादक है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि नियमसे अमूढदृष्टि अंगका पालन करता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं करता वह उल्टा ही करता है। भावार्थ-सम्यग्दृष्टिके लिये अमूढदृष्टि अंग अवश्य पालनीय है। यदि सम्यग्दृष्टिकी बुद्धि देवगुरु धर्मके सिवा कुगुरु, कुधर्म, कुदेवकी प्रशंसा अथवा उनकी किंचिन्मात्रमान्यताकी तरफ है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। अथवा देव, गुरु, धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। इसलिये अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण समझना चाहिये। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि नियमसे होता ही है (यदि वह मूढदृष्टि है तो सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और मिथ्या शास्त्रोंकी न तो विनय करता है न उन्हें प्रणाम ही करता है।× बिना मिथ्यात्वके उसकी कुदेवादिककी ओर बुद्धि अनुगामी किसी प्रकार नहीं होसकी है। इसके सिवा जो लोग सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनको उनमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। * बिना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सकी है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण अतिसूक्ष्म है उसका विवेचन नहीं किया जासक्ता है। जिस पुरुषकी आत्मामें वह गुण प्रकट होता है उसीको शुद्धात्मानुभवनका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मिक अपूर्व स्वादका बाह्यमें उसी प्रकार विवेचन नहीं कर सक्ता है जिस प्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछने पर वह उसका स्वाद ठीक २ प्रकट नहीं कर सक्ता। जिस प्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसी प्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रकटतामें होनेवाले आत्मिक रसका वह स्वयं पान करता है दूसरेसे नहीं कह सक्ता। तथापि व्यवहार सम्यक्त्व जो बतलाया गया है कि सत्यार्थ देव, गुरु, शास्त्रमें पूर्ण श्रद्धा रखना, उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहार सम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्रमें अटल भक्ति रहती है। उनमें उसकी बुद्धि किंचिन्मात्र भी शंकित नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्यग्दृष्टिको शंका ही नहीं उत्पन्न होती है, सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ नहीं है और जैसे छद्मस्थ हैं तैसे वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंका-

× भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

अर्थात् भयसे, आशासे, प्रेमसे, लोभसे किसी तरह भी सम्यग्दृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम अथवा उनकी विनय नहीं कर सक्ता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

* आजकल जो प्रथमानुयोग शास्त्रोंको कहानियां कहते हैं और जो जिनदर्शनको अनावश्यक समझते हैं उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है।

ओंका होना स्वाभाविक बात है, इसलिये सम्यग्दृष्टि भी बहुतसी बातोंमें शंकित रहता है परन्तु शंकायें दो प्रकारकी होती हैं। एक तो–जिस पदार्थमें शंका होती है उस पदार्थमें आस्त (श्रद्धा) रूप बुद्धि तो अवश्य रहती है परन्तु ज्ञानकी मन्दतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमें न आनेसे शंका होती है, सम्यग्दृष्टिको इस प्रकारकी ही शंका होती है। वह सर्वज्ञ कथित पदार्थ व्यवस्थाको तो सर्वथा सत्य समझता है, परन्तु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमें असमर्थ है। दूसरी शंका कुमतिज्ञानवश होती है। कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता है किन्तु सर्वज्ञ कथित आगमको ही दोषी ठहराता है, वह जिस पदार्थमें शंका करता है उस पदार्थपर श्रद्धा रूप बुद्धि नहीं रखता है। ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते हैं जो स्वयंको बुद्धिमान् समझते हुए आचार्योंको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नहीं समझते हैं। ऐसे ही पुरुष जिन दर्शन, जिन पूजन आदि नित्य क्रियाओंको रूढ़ि कह कर जो ही नहीं देते हैं किन्तु दूसरोंको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते हैं। ऐसे लोगोंका यह भी कहना है कि विचार स्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिन धर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रकट करना चाहे करने दो, इन्हीं बातोंका परिणाम आजकल धर्म शैथिल्य और धर्म विरुद्ध प्रवृत्तियोंका आन्दोलन है। ये सम्पूर्ण बातें धर्माचार्य तथा सद्धर्मप्रचारकके अभाव होनेसे हुई हैं। धार्मिक अंकुश अब नहीं रहा है इसलिये जिसके मनमें जो कुछ समाती है उसके प्रकट करनेमें वह जरा भी संकोच नहीं करता है। यही कारण है कि दिन पर दिन धर्ममें शिथिलता ही आ रही है।*

उपगूहन अङ्गका निरूपण—

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण (उपगूहन) नामक भी एक गुण है। उसका यह लक्षण है कि अपनी आत्मिक शक्तियोंको बढ़ाना अथवा उनका विकास करना। [illegible] उपबृंहण है।

* इस [illegible] [illegible]

" [illegible] "।

अथवा—

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम्।

अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत्॥ ७७९॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धिमें मन्दता नहीं आने देना किन्तु उसे बढ़ाना इसका नाम भी उपबृंहण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन भावोंसे विशिष्ट आत्माकी शुद्धिको बढ़ाते रहना उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम उपबृंहण है।

उपबृंहण गुणधारीका स्वरूप—

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव।

तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव॥ ७८०॥

अर्थ—उपबृंहण गुणका धारी पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक सम्पूर्ण ऐहिक बातोंको जानता है परन्तु उन ऐहिक (संसार सम्बन्धी) बातोंके प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न नहीं करता है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्।

निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात्॥ ७८१॥

अर्थ—उपबृंहण गुणका धारक आत्माकी शुद्ध-उपलब्धिमें लेश मात्र भी प्रमादी नहीं है किन्तु प्रमाद रहित आदर पूर्वक अपने आत्माका ग्रहण करता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।

सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम्॥ ७८२॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धोपलब्धिके लिये बाह्य किसी सत्क्रियाका भी अभ्यास करता है जो कि उसके साध्यमें उपयोगी पड़ती है।

बाह्य आचरणमें दृष्टान्त—

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न चाऽऽचरेत्।

आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुल्लाघनामपि॥ ७८३॥

अर्थ—कोई पुरुष रसायनका सेवन भी करे परन्तु पथ्य न करे तो रसायनसे जिस प्रकार वह अपने रोगका नाश करता है उसी प्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है। भावार्थ-रोगको दूर करनेके लिये उचित औषधिके सेवनके साथ २ अनुकूल पथ्य करनेकी भी आवश्यकता है। अन्यथा रोग दूर नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको साध्योपयोगी बाह्य सत्क्रियाओंके करनेकी भी आवश्यकता है।

अथवा—

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दृष्टिके किसी खास यत्नके स्वतः ही उपबृंहण गुण सिद्ध है। क्योंकि ऊपर ऊपर गुणश्रेणी (परिणामोंकी उत्तरोत्तर विशुद्धतामें) रूपसे उसके निर्जराका होना अवश्यंभावी है । भावार्थ–सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढ़ी हुई है ।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८५ ॥

अर्थ—उपबृंहण गुणधारीके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होगी, क्योंकि प्रतिक्षण उसके असंख्यात गुणी २ निर्जरा होती ही रहती है ।

कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धिकी वृद्धि—

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—यह बात न्याय प्राप्त है कि जितने अंशमें कर्मोंका क्षय होजाता है उतने ही अंशमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होजाती है । उधर कर्मोंके क्षयकी वृद्धि होती जाती है इधर शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है । यह वृद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है ।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८७ ॥

अर्थ—जैसी जैसी विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरंगमें प्रकाश डालती है, वैसी वैसी ही आत्माकी इन्द्रियोंके विषयोंमें उपेक्षा होती जाती है ।

क्रियाकाण्डको बढ़ाना चाहिये—

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८८ ॥

अर्थ—इसलिये बहुतसे क्रियाकाण्डमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये । किन्तु यत्नपूर्वक उसे बढ़ाना चाहिये यह सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है ।

सारांश—

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८९ ॥

अर्थ—जो उपबृंहण (उपगूहन) गुण कहा गया है वह भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। सम्यग्दृष्टिके गुणोंमें यह भी गुण गिना गया है, यह दोषावायक नहीं है।

स्थितिकरण अंगका निरूपण—

...तिः ॥ ७९० ॥

अर्थ—स्थितिकरण गुण भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। धर्मसे जो पतित हो चुका है अथवा पतित होनेके सन्मुख है उसे फिर धर्ममें स्थित कर देना इसीका नाम स्थितिकरण है। किन्तु अधर्मकी क्षति होने पर अधर्ममें स्थित करनेको स्थितिकरण नहीं कहते हैं।

अधर्म सेवन धर्मके लिये भी अच्छा नहीं है—

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ ७९१ ॥

अर्थ—धर्मके लिये भी अधर्मका सेवन करना वृद्ध पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। आगामी कालमें धर्मकी आशासे कोई मूर्ख–अधर्म सेवनका भी उपदेश देते हैं।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वह्निमाविशेत् ॥ ७९२ ॥

अर्थ—'अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होता है, इस प्रकार परम्परा पक्षका लेशमात्र भी यहां अवकाश नहीं है। मूर्खको छोड़ कर ऐसा कौन पुरुष है जो मोहसे शीतके लिये वन्हिमें प्रवेश करे। भावार्थ–जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है, ठण्डक चाहने वाले उन्हीं पदार्थोंका सेवन करेगा जो ठण्डको पैदा करने वाले हों, ठण्डका चाहनेवाला उष्ण पदार्थों (अग्नि आदिक)का कभी सेवन नहीं करेगा। इसी प्रकार धर्मको चाहने वाला धर्मका ही सेवन करेगा। क्योंकि धर्म सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति हो सकती है, अधर्म सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जो लोग अधर्म सेवनसे धर्म बतलाते हैं वे कीकरके वृक्षसे आम्रकी प्राप्ति बतलाते हैं, परन्तु यह उनकी भारी भूल है। कीकरके वृक्षसे सिवा कांटोंके और कुछ नहीं मिल सकता है।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूप प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९३ ॥

अर्थ—अधर्मका सेवन धर्मका प्राग्रूप भी नहीं है। क्योंकि अधर्मसेवनरूप हेतु विपक्षभूत–अधर्मप्राप्तिमें भी रह जाता है इसलिये व्यभिचारी है इसीसे अधर्मसेवन और धर्मप्राप्तिकी व्याप्ति भी व्यभिचरित है। भावार्थ—मीमांसकादि दर्शनकार यागादिमें हिंसाकर अधर्म-सेवनसे धर्मप्राप्ति मानते हैं और उसी यागादिका फल स्वर्गप्राप्ति बतलाते हैं। आचार्य कहते

हैं कि ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। क्या हिंसादि अधर्मके सेवन करनेसे ध
हो सकती है ? हिंसादि नीच कार्योंका स्वर्गफल कभी नहीं हो सकता है। हिंसा करने
णामोंमें संक्लेशकी ही वृद्धि होगी उससे पाप बन्ध होगा इसलिये अधर्मसेवनका फल उ
अधर्मकी वृद्धि है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नहीं हो सकता है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९४ ॥

अर्थ—प्रति समय जब तक कर्मका उदय है तब तक धर्म और अधर्म दोनों ही
सकते हैं ऐसा सर्वत्र नियम है। भावार्थ—जब कर्मोदय मात्रसे भी अधर्म-पापबन्ध हो
तब अधर्मसेवनसे तो अवश्य ही अधर्म होगा, इसलिये यागादि अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्तिकी
ना करना मीमांसकोंकी सर्वथा भूल है।

स्थितिकरणके भेद—

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९५ ॥

अर्थ—वह स्थितिकरण अपने और परके भेदसे दो प्रकारका है। अर्थात् अपने
त्माके पतित होनेपर अथवा पतित होनेके सन्मुख होनेपर अपने आत्मामें ही पुनः अपने
पको लगा लेना इसे स्व-स्थितीकरण कहते हैं। और दूसरे आत्माके धर्मसे पतित होनेपर
उसे उसी धर्ममें तदवस्थ कर देना इसे पर स्थितीकरण कहते हैं।

स्वस्थितीकरणका खुलासा—

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९६ ॥

अर्थ—मोहोदयके उद्रेकवश अपनी आत्म परिस्थिति (धर्मस्थिति) से पतित अ
आत्माको पुनः आत्म परिस्थितिमें लगा देना इसीका नाम स्वस्थितीकरण है।

इसीका स्पष्टीकरण—

अयं भावः कचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा इस प्रकार है—कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे
सम्यग्दृष्टि दर्शनसे नीचे गिरता है। फिर दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढ़ता है।

अथवा—

अथ कचिद्यथाहेतुर्दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोधांशेरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९८ ॥

अर्थ—अथवा सामग्रीकी योग्यतामें कभी दर्शनसे नहीं भी गिरता है तो भावोंकी शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोंसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है।

अथवा—

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९९ ॥

अर्थ—कभी स्वीकृत किये हुए भी बाह्य-शुभाचारको छोड देता है। कभी नहीं भी छोड़ता है। अथवा छोड़कर पुनः ग्रहण करने लगता है।

अथवा—

यद्वा बहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा न वर्त्तते ॥ ८०० ॥

अर्थ—अथवा बाह्य क्रियाचारमें ठीक २ स्थित रहनेपर कभी २ अन्तरंग भावोंसे दैदीप्यमान होने लगता है।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमत्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ८०१ ॥

अर्थ—कभी अन्तरंगके भाव बढ़ने लगते हैं कभी घटने लगते हैं यह बात असंभव नहीं है। क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्मका उदय अपने अंशोंसे कभी बढ़ने लगता है और कभी घटने लगता है। भावार्थ—चारित्र मोहनीय जिस रूपसे कम बढ़ होता है उसी रूपसे भावोंमें भी हीनाधिकता होती है।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ८०२ ॥

अर्थ—यहां पर इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण स्वयं होता है और उसमें आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है।

दूसरोंका स्थितिकरण—

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ८०३ ॥

अर्थ—दूसरोंपर × सत् अनुग्रह करना ही पर-स्थितीकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें उसी पदमें फिर स्थापन कर देना।

× सत् अनुग्रहसे इतना ही तात्पर्य है कि बिना किसी प्रकारकी इच्छा रखते हुए धार्मिक बुद्धिसे उपकार करना। जो अनुग्रह लोभवश अथवा अन्य प्रकारके भावोंसे कदाचित् वश किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है परन्तु उसको सत् अनुग्रह नहीं कह सकते। यथार्थ अनुग्रह निःस्पृह भावोंसे ही कहा जा सकता है।

स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार ठीक है—

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अर्थ—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह करना चाहिये परन्तु आत्मीय व्रतमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुंचा कर ही दूसरोंके रक्षणमें तत्पर रहना उचित है। अन्यथा नहीं।

ग्रन्थान्तर—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ ८०५ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये। यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करनेमें समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये। आत्महित और परहित इन दोनोंमें आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये। **भावार्थ**—इन दो कारिकाओंसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य आत्महित है, बिना आत्म कल्याण किये वास्तवमें आत्म कल्याण हो भी नहीं सकता है। जहां पर सर्वोपरि उच्च ध्येय है वहां भी आत्म हित ही प्रमुख है। आचार्य यद्यपि मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं उन्हें मोक्ष मार्गपर लगाते हैं, तथापि उस अवस्थामें रहकर उनको उच्च ध्येय नहीं मिल सकता है। जिस समय वे उस उच्च ध्येय मुक्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय उस आचार्य पदका त्याग कर स्वात्म भावन मात्र—साधु पदमें आ जाते हैं इसलिये यह ठीक है कि आत्म हित ही सर्वोपरि है। आत्म हित स्वार्थमें शामिल नहीं किया जा सका है। जो सांसारिक वासनाओंकी पूर्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है उसे ही स्वार्थ कहा जा सकता है उसका कारण भी यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं जो प्रमाद विशिष्ट है, आत्महित करनेवाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है इसलिये उसे स्वार्थी कहना भूल है। इन कथनसे हम परोपकारका निषेध नहीं करना चाहते हैं, परोपकार करना तो महान् पुण्य बन्धका कारण है। परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्म हितको जो स्वार्थ बताते हैं वे अवश्य आत्म हितसे कोशों दूर हैं, आचार्योंने परोपकारको भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है। यहां पर यह शंका की जासक्ती है कि कहीं पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है जैसे कि विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड ही दिया? शंका ठीक है। कहीं पर विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया जाता है परन्तु आत्म हितको गौण कहीं नहीं समझा जाता है। विष्णुकुमारने अगत्या ऐसा किया तथापि उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित लेकर स्वपदका ग्रहण कर लिया। आजकल तो आत्म कल्याण परोपकारको ही लोगोंने समझ रक्खा

है, जो देशोद्धारादिक कार्य वर्तमानमें दीख रहे हैं वे यद्यपि निःस्वार्थ-परोपकारार्थ हैं और उस परोपकारका श्रेय भी उन्हें अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे परोपकारमें स्वोपकार (पारमार्थिक) की गन्ध भी नहीं है। देशोद्धारादि कार्यकारियोंमें स्वधर्म शैथिल्य एवं चारित्र हीनता प्रायः देखी जाती है। यदि उनमें यह बात न हो तो अवश्य ही उनका वह परोपकार पूर्ण स्वोपकारमें सहायक है।

कथनका संकोच—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०६ ॥

अर्थ—सुस्थितिकरण गुणका स्वरूप थोडासा यहां पर कहा गया है। यह गुण सम्यग्दृष्टिके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जराके लिये प्रसिद्ध है।

वात्सल्य अंगका विवेचन—

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ८०७ ॥

अर्थ—सिद्धपरमेष्ठी, अर्हद्बिम्ब, जिन मन्दिर, चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) और शास्त्रमें, स्वामिकार्यमें योग्य सेवककी तरह दासत्व भाव रखना ही वात्सल्य है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ८०८ ।

अर्थ—अर्थात् ऊपर जो सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्य बतलाये हैं उनमेंसे किसी भी एक पर घोर उपसर्ग होने पर उसके दूर करनेके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये।

यद्वा नद्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०९ ॥

अर्थ—अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है और जब तक मन्त्र, असि तलवार (जोर) और बहुतसा द्रव्य (खज़ाना) है तब तक वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन पर आई हुई किसी प्रकारकी बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है। भावार्थ—अपने पूज्यतम देवों पर अथवा देवालयों पर अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाओं पर यदि किसी प्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिस प्रकार हो सके उस प्रकार उसे दूर करदेना योग्य है। अपनी सामर्थ्यसे, मंत्र शक्तिसे, द्रव्य बलसे, आज्ञासे, [illegible] दूर करने तुरन्त बाधाको दूर करना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टिकी आन्तरंगिक भक्तिका उद्गार है। मन्त्रशक्ति भी बहुत बड़ी शक्ति है, बड़े २ कार्य मन्त्र शक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग मन्त्रोंकी सामर्थ्य नहीं जानते हैं वे ही मन्त्रों पर विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु महर्षियोंके [illegible]

[illegible] सिद्ध हो सकते हैं, [illegible]
[illegible] नहीं कर सकते हैं।

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अर्थ—पहले अंगोंकी तरह प्रभावना अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकार है। उन दोनोंमें पहला सर्वोत्तम है और उपादेय है। इसके पीछे दूसरा भी प्रशस्त है।

उत्कर्ष—

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥ ८१६ ॥

अर्थ—विपक्षके न होने पर बल पूर्वक धर्ममें वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है। प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नहीं होसकता है।

अपनी प्रभावना—

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१७ ॥

अर्थ—मोहरूपी शत्रुका नाश होजानेसे जीव शुद्ध होजाता है, कोई शुद्धसे भी अधिक शुद्ध होजाता है और कोई उससे भी अधिक शुद्ध होजाता है इस प्रकार अपने आत्माका उत्कर्ष बढ़ाना इसीका नाम स्वात्मप्रभावना है।

इस वृद्धिमें पौरुष कारण नहीं है—

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१८ ॥

अर्थ—इस प्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके आधीन नहीं है किन्तु स्वभावसे ही होता है। और उत्तरोत्तर श्रेणीके क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होनेसे उत्कर्ष सिद्ध होता है।

बाह्य प्रभावना।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१९ ॥

अर्थ—विद्याके बलसे, मन्त्रादिके बलसे, तपसे तथा दानादि उत्तम कार्योंसे जैनधर्मका उत्कर्ष (अतिशय) बढ़ाना चाहिये इसीको बाह्य प्रभावना कहते हैं।

और भी—

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८२० ॥

अर्थ—जो लोग मिथ्या सिद्धान्तोंके बढ़ानेमें लगे हुए हैं उनके उत्कर्षको कम करनेके लिये अथवा उनकी हीनता प्रगट करनेके लिये महात्माओंको कुछ चमत्कार जनक प्रयोग भी करना चाहिये।

उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट प्रभावना अंग भी गुण है । उसका कथन हो चुका। इसी प्रभावना अंगके कारण सम्यग्दर्शनके आठ गुण संपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् आठवां गुण प्रभावना है ।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः ।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२२ ॥

अर्थ—इन आठ गुणोंके सिवा और भी सम्यग्दृष्टीके गुण हैं उनका यहां पर विचार नहीं किया जाता है । किन्तु जो विवक्षित है वही कहा जाता है ।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अर्थ—प्रकृत यही है कि आत्माका निजस्वरूप चेतना है । वह चेतना तीन प्रकार है-कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना । इन तीनोंमें ज्ञान चेतना ही सम्यग्दृष्टि को उपादेय है, बाकी दोनों त्याज्य हैं ।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२४ ॥

अर्थ—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण हैं वे सब बाह्य कथनके डरसे अर्थात् सम्यग्दृष्टिका तो केवल एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है ।

किन्हीं नासमझ पुरुषोंका कथन—

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद्व्यवहारतः ॥ ८२५ ॥
व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम ।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम ॥८२६॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषांचिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२७ ॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः ।
एकः कश्चित् सरागोस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२८ ॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२९ ॥

व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥ ८३० ॥

अर्थ—ऐसी योगरूढि अथवा लोकरूढि है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है सम्यक्त्व दूसरा व्यवहार सम्यक्त्व । व्यवहार सम्यक्त्व सराग और सविकल्प है, सम्यक्त्व वीतराग तथा निर्विकल्पक है। किन्हीं मोहशाली पुरुषोंकी ऐसी वासना है, वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है । उन लोगोंने सम्यक्त्वके दो भेद स्वामीके भी दो भेद किये हैं । उनका कहना है कि एक सराग सम्यक्त्व होता है वीतराग सम्यक्त्व होता है । उन दोनोंमें जो वीतराग-निर्विकल्पक सम्यग्दृष्टि ज्ञान चेतना होती है, जो सराग-सविकल्पक व्यावहारिक सम्यग्दृष्टि है उसके कभी नहीं होती क्योंकि उसके प्रतीतिमात्र है इस लिये ज्ञान चेतना उसके कहांसे हो

उत्तर—

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिके दोषसे जो दुष्ट आशयवाले ऐसा कहते हैं उनका भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिये है ।

अत्रोच्यते समाधानं सामवेदेन सूरिभिः ।
उत्पथक्षुभिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८३२ ॥

अर्थ—यहां पर आचार्य शान्ति पूर्वक समाधान करते हैं क्योंकि दूधका उफान पर स्वच्छ जल उसमें डालना ही ठीक है ।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥ ८३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार हस्ती तृण सहित खाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि [illegible] पूर्वक बोलता है । आचार्य कहते हैं कि हे प्राज्ञ ! उस अविवेकताको छोड़ दो [illegible] से काम लो ।

यन्नेहोऽप्यमिथ्यात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषा-चाक्षुषाशया ॥ ८३४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे [illegible] ! तुम [illegible] [illegible] ज्ञान चेतना को [illegible] हो । [illegible] की आशासे उन पदार्थोंमें विभ्रम मत करो । भावार्थ—[illegible]

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाका अभाव बतलाया है वह वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना बतलाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है सराग सम्यग्दृष्टिके भी ज्ञानचेतना होती है। इस लिये सराग सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् करना ऐसा ही है जैसे कि अग्निसे उसके गुणको दूर करना।

अब सम्यग्दृष्टिके सराग और सविकल्पक विशेषणोंका आशय प्रकट किया जाता है जिससे कि सराग–सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतना होनेमें किसी प्रकारका सन्देह न रहे–

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः॥ ८३५॥

अर्थ—उपयोगके बदलनेको विकल्प कहते हैं। वह विकल्प ज्ञानकी पर्याय है अर्थात् पदार्थाकार ज्ञान ही उस ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करने लगता है। भावार्थ–आत्माका ज्ञानोपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरी तरफ लगता है इसीका नाम उपयोग संक्रान्ति है। और इसी उपयोगका नाम विकल्प है।

वह विकल्प क्षयोपशमरूप है—

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम्।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात्॥ ८३६॥

अर्थ—वह उपयोग संक्रान्ति स्वरूप विकल्प क्षयोपशमात्मक है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान है। क्योंकि अतीन्द्रिय–क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्तिका होना असंभव है। भावार्थ–जब तक ज्ञानमें अल्पज्ञता है तब तक वह सब पदार्थोंको युगपत् नहीं ग्रहण कर सक्ता है किन्तु क्रम क्रमसे कभी किसी पदार्थको और कभी किसी पदार्थको जानता है। यह अवस्था इन्द्रिय जन्य ज्ञानमें ही होती है। जो ज्ञान क्षायिक है–अतीन्द्रिय है उसमें सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ ही प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये उस ज्ञानमें उपयोगका परिवर्तन नहीं होता है। परन्तु वह ज्ञान भी सविकल्पक है।

कदाचित् कोई कहे कि वह ज्ञान (क्षायिक) कैसे हो सक्ता है क्योंकि विकल्प नाम उपयोगकी संक्रान्तिका है और क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्ति होती नहीं है, फिर क्षायिक ज्ञान सविकल्पक किस प्रकार हो सक्ता है? इसका समाधान—

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात्॥ ८३७॥

अर्थ—क्षायिक ज्ञानमें विकल्पपना अपने लक्षणसे आता है न कि अर्थसे अर्थान्तरमें परिणत होनेवाले उपयोगके संक्रमण रूप लक्षणसे।

वह लक्षण इस प्रकार है—

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥ ८३८ ॥

अर्थ—क्षायिकज्ञानका लक्षण इस प्रकार है-स्व-आत्मा और अपूर्व पदार्थको विशेष रीतिसे ग्रहण करना। यहां पर अर्थ नाम पदार्थका है और ग्रहण नाम आकारका है। स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमें सविकल्पता है। भावार्थ-जो ज्ञान अपने आपको जानता है साथ ही पर पदार्थोंको जानता है परन्तु उपयोगसे उपयोगान्तर नहीं होता है उसीको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि क्षायिक ज्ञानमें भी पदार्थोंके परिवर्तनकी अपेक्षासे परिवर्तन होता रहता है तथापि उसमें छद्मस्थ ज्ञानकी तरह कभी किसी पदार्थका और कभी किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है। क्षायिक ज्ञान सभी पदार्थोंको एक साथ ही जानता है इसी लिये उसमें उपयोग संक्रान्तिरूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होनेसे वह सविकल्प अवश्य है।

ऐसे अविकल्पका सराग ज्ञानमें ग्रहण नहीं है—

विकल्पः सोधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोधिकृतोऽधुना ॥ ८३९ ॥

अर्थ—जो विकल्प क्षायिक ज्ञानमें घटित किया गया है वह विकल्प इस अधिकारमें कुछ भी अधिकारी नहीं है। यहां पर तो उपयोगके पलटने रूप विकल्पका ही अधिकार है।

ऐसे विकल्पका अधिकार क्यों है?—

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोऽस्यास्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८४० ॥

अर्थ—यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है और इन्द्रियजन्य ज्ञान बिना संक्रान्तिके कभी होता ही नहीं है। क्योंकि उसकी प्रतिक्षण अर्थसे अर्थान्तरमें गति होती रहती है। भावार्थ-यहां पर विचार यह था कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है किन्तु वीतराग सम्यक्त्वमें ही वह होती है। आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, सविकल्प सम्यक्त्वमें भी ज्ञानचेतना होती है उसके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है इसलिये उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है इसके उत्तरमें आचार्यका कहना है कि विकल्प नाम ज्ञानोपयोगके पलटनेका है। ज्ञानोपयोगका पलटना यह उसका स्वभाव है। अर्थात् वह उपयोग कभी निज स्वानुभव करता है और कभी वह बाह्य पदार्थोंको भी जानता है। परन्तु वह ज्ञानचेतनाके किसी [illegible] नहीं होसकता है। सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटना भी क्यों होता है [illegible]

भी इन्द्रियजन्य बोध है। सराग सम्यग्दृष्टिके इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और इन्द्रियोंसे होने वाला ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है।

इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है—

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत्।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८४१ ॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान नियमसे क्रमवर्ती होता है वह अक्रमवर्ती–सभी पदार्थोंको एक साथ जाननेवाला कभी नहीं होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है।

इन्द्रियबोध और क्रमवर्तित्वकी समव्याप्ति है—

इदं व्याप्यव्यापकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाह्वया।
यत्रं यत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं नचेतरा ॥ ८४२ ॥

अर्थ—समव्याप्तिकी तरह इन्द्रियजन्यबोध और संक्रान्तिकी व्याप्यव्यापक व्याख्या है। अर्थात् इन्द्रियजन्य बोध और क्रमवर्तिता दोनोंकी समव्याप्तिके समान ही व्याप्ति है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहीं क्रमवर्तित्व है, अन्यत्र नहीं है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहां क्रमवर्तित्व भी है, वहां और व्याप्ति नहीं है, अर्थात् क्षायिक ज्ञान और संक्रान्तिमें व्याप्ति नहीं है।

ध्यानका रूप—

यस्माज्ज्ञानमेकस्य नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥ ८४३ ॥
एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानं तदात्मनः।
तस्मात्पुनः पुनर्वृत्तित्वं स्यात् क्रमवर्ति च ॥ ८४४ ॥

अर्थ—जो ज्ञान किसी एक पदार्थमें निरन्तर रहता है उसीको ध्यान कहते हैं। [illegible] न तो क्रम ही है और न अक्रम ही है। [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible]

यह क्रमवर्तीपन पदार्थान्तरापेक्ष नहीं है—

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४५ ॥

अर्थ—इस ध्यानरूप ज्ञानमें जो क्रमवर्तीपना है उसमें अर्थसे अर्थान्तर होना हेतु नहीं है किन्तु एक पदार्थमें ही क्रमसे पुनः पुनर्वृत्ति होती रहती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें अर्थसे अर्थान्तररूप क्रमवृत्ति बतलाई गई है उसप्रकार ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवृत्ति नहीं है किन्तु वहां एक ही पदार्थमें पुनः पुनर्वृत्ति है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसंभवात् ॥ ८४६ ॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि इस ऊपर कहे हुए ध्यानरूप ज्ञानकी [illegible] क्षायिक ज्ञानमें अतिव्याप्ति * आती है क्योंकि क्षायिक ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है और ध्यानरूप ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है इस लिये ध्यान रूप ज्ञानका क्षायिक ज्ञानमें लक्षण चला जाता है ? ऐसी आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि क्षायिक ज्ञान यद्यपि परिणमनशील है तथापि उसमें पुनर्वृत्ति (बार बार एक पदार्थमें उपयोग [illegible]) का होना असंभव है भावार्थ—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ध्यान और क्षायिक ज्ञान [illegible] ही क्रम रहित हैं, अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण दोनोंमें ही नहीं है । तथापि दोनोंमें [illegible] है, ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है वह यद्यपि एक पदार्थमें ही (एक कालमें) होता है [illegible] उसीमें फिर फिर उपयोग लगाना पड़ता है । क्षायिक ज्ञान ऐसा नहीं है वह [illegible] है इसलिये उसमें उपयोगकी पुनर्वृत्ति नहीं है वह सदा युगपत् [illegible] पदार्थोंके [illegible] उपयुक्त रहता है, केवल पदार्थोंमें प्रति समय परिवर्तन होनेके कारण [illegible] परिणमन होता रहता है । परन्तु क्षायिक ज्ञानमें क्रमवर्तित्व और पुनर्वृत्तित्व नहीं है इस लिये ध्यानका लक्षण इसमें सर्वथा नहीं जाता है ।

[illegible] है—

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतं क्रमवर्तित्वात् सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४७ ॥

* [illegible]
[illegible] कहते हैं ।

अर्थ—छद्मस्थ जीवोंके चारों ही ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्ययः) नि क्रमवर्ती हैं इसलिये चारों ही संक्रमण रूप हैं।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा।
हेतोर्वैभाविकत्वेपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४८ ॥

अर्थ—संक्रमण होनेसे ज्ञान शक्तिमें कोई दोष नहीं समझना चाहिये। यद्यपि विक हेतुसे उसमें विकार हुआ है तथापि वह आत्मीक शक्ति है जिस प्रकार शुद्ध आत्माकी शक्ति है। इसीप्रकार संक्रमणात्मक ज्ञान भी आत्माकी शक्ति है।

सारांश—

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम्।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४९ ॥

अर्थ—वह संक्रान्ति ज्ञानचेतनामें विघ्न नहीं कर सकती है क्योंकि वह भी की ही पर्याय है। ज्ञानकी पर्याय ज्ञानरूप ही है। इसलिये विकल्प (संक्रमण ज्ञान) चेतनाका शत्रु नहीं है। भावार्थ–पहले यह कहा गया था कि व्यावहारिक सम्यग्दर्शनमें स रस्रज्ञान रहता है, और उसका कारण कर्मोदय है। कर्मोदय हेतुसे व्यावहारिक सम्यग्दृ ज्ञान संक्रमणात्मक है। इसलिये उस विकल्पावस्थामें ज्ञानचेतना नहीं होसकती। ज्ञानचे वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इसी वातका निराकरण करनेके लिये आचार्य कहते हैं विकल्पज्ञान ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होसकता। चारों ही ज्ञान क्षयोपशमात्मक हैं इसलि चारों ही संक्रमणात्मक हैं। संक्रमणात्मक होनेसे ज्ञानचेतनामें वे किसी प्रकार बाधक [illegible]

शङ्काकार—

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥ ८५० ॥

अर्थ—आपकी यह प्रतिज्ञा है कि संक्रान्तिके रहते हुए अर्थसे अर्थान्तरमें होता है, जब ऐसी प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान संचेतनान्तर हो है? भावार्थ—पहले कहा गया है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों संक्रमणात्मक हैं, मतिज्ञानमें ज्ञान चेतना भी आ गई इसलिये वह भी संक्रमणात्मक इसी विषयमें कोई शंका करता है कि ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवको कहते हैं और संक्र ज्ञान चेतनामें मानते ही हो, तब क्या आत्माको पहले जानकर (आत्मानुभव करके) उसको छोड़कर दूसरे पदार्थोंमें दूसरी ज्ञान चेतना होती है? यदि होती है तो शुद्धात्मा

अर्थ—ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी २ होती है। वह लब्धिका विनाश क
समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी सम व्याप्ति
है। भावार्थ-सम्यग्दर्शनका अविनाभावी जो मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है उ
को लब्धि कहते हैं, और उस लब्धिके होनेपर आत्माकी तरफ उन्मुख (रुजू) हो
आत्मानुभवन करना ही उपयोग है। लब्धि और उपयोगमें कार्य कारण भाव है। लब्धि
होनेपर ही उपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धि
होनेपर उपयोग रूप ज्ञान हो ही हो। उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नि
है। जिस समय पदार्थके जाननेके लिये आत्मा उद्यत होता है उसी समय उसके उपयोगा
त्मक ज्ञान होता है। परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये उपयोग और लब्धि
दोनोंमें विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफसे होती है उसे विषमव्याप्ति कहते हैं।
उपयोगके होनेपर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक चेतना हो
भी और नहीं भी हो, नियम नहीं है। जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते
हैं जैसे ज्ञान और आत्मा। जहां ज्ञान है वहां आत्मा अवश्य है और जहां आत्मा है वहां
ज्ञान अवश्य है। ऐसी उभयथा व्याप्ति लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें नहीं है।

उक्तका स्पष्टीकरण—

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५५ ॥
अभावाच्चूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा ।
* यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना ॥ ८५६ ॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥ ८५७ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगमें विषम व्याप्ति है। क्योंकि लब्धिका नाश होने प
उपयोगका नाश अवश्यंभावी है। परन्तु उपयोगका नाश होनेपर लब्धिका नाश अवश्यंभा
नहीं है। हो या न हो कुछ नियम नहीं है। सम्यग्दर्शनके साथ लब्ध्यावरणकर्मके क्षयोपश
की व्याप्ति है, उसके साथ उपयोगात्मक ज्ञानकी व्याप्ति नहीं है। व्याप्तिसे तात्पर्य यहां
समव्याप्तिका है सम्यग्दर्शनके होनेपर लब्ध्यावरण कर्म (ज्ञानचेतनाको रोकनेवाला कर्म)का
क्षयोपशम भी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शनके अभावमें लब्ध्यावरण कर्मका क्षयोपशम भी

* यहां पर आवरण शब्दका अर्थ आवरणका क्षयोपशम लेना चाहिये। नामके एकदेश
कहनेसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण कहीं २ किया जाता है।

हीं होता है। यह बात जिनागमसे सिद्ध है।×

विशेष—

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात्सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ८५८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके अभावमें कर्म चेतना व कर्मफल चेतना होती है, और यह बात र्व प्रमाण सिद्ध है। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टिके कर्मचेतना व कर्मफल

× बहुतसे लोग ऐसी शंका उठाया करते हैं कि कागज़, पेंसिल आदि पदार्थोंका ज्ञान जैसा म्यग्ज्ञानीको होता है वैसा ही मिथ्याज्ञानीको होता है। फिर यथार्थ ज्ञान होने पर भी, मिथ्यादृष्टिको मिथ्याज्ञानी क्यों कहा जाता है? इस शंकाका यह समाधान है कि केवल लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी नहीं होजाता है। यदि लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी होजाता हो तो उस पाश्चिमात्य-विज्ञान वेत्ताको जो कि अनेक सूक्ष्म आविष्कार कर रहा है और पदार्थोंकी शक्तियोंका परिज्ञान कर रहा है सम्यग्ज्ञानी कहना चाहिये, परन्तु नहीं, वह भी मिथ्याज्ञानी ही है। सम्यग्ज्ञानीका यही लक्षण है कि जिसकी आत्मामें दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम 'लब्धि' होचुका हो। मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम यद्यपि सामान्य दृष्टिसे सबके ही होता है तथापि यह जुदा है। यह स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम कहलाता है। स्वानुभूति भी मतिज्ञानका ही भेद है। सम्यग्ज्ञानीके स्वानुभूति लब्धि प्रकट होजाती है बस यही उसके सम्यग्ज्ञानका चिन्ह है। इसीसे बाह्य पदार्थोंमें अल्पज्ञ अथवा कहीं पर संदिग्ध वृत्ति होनेपर भी वह सम्यग्ज्ञानी ही कहा जाता है। सम्यग्दृष्टिको भी रस्सीमें सर्पका, सीपमें चांदीका, स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होता ही है परन्तु वह भ्रम बाह्यदोषके दोषसे होता है। उसके सम्यग्ज्ञानमें वह दोष बाधक नहीं होसकता है। पशुओंको भी सम्यग्दर्शनके साथ वह लब्धि प्रकट होजाती है, इसी लिये वे पदार्थोंका बहुत कम (न कुछके बराबर) ज्ञान रखने पर भी सम्यग्ज्ञानी हैं। पशुओंको जीवादि तत्वोंका पूर्ण बोध भले ही न हो तथापि वे उस मिथ्यात्व पटलके हट जानेसे सम्यग्ज्ञानी हैं। सम्यग्ज्ञानीको बहु विज्ञ होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है, केवल स्वानुभूतिके प्रकट होजानेसे ही सम्यग्ज्ञानी अलौकिक सुखका आस्वादन करता है। आत्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्ज्ञानीको ही होसकता है वह श्रद्धान बड़े २ आविष्कारोंको नहीं होसकता। आजकल बहुतसे मनुष्य हरएक पदार्थके विश्वासको सम्यग्दर्शन कह देते हैं परन्तु ऐसा उनका कहना लोगोंको केवल भ्रममें डालनेवाला ही है। सिद्धान्त तो यहां तक बतलाता है कि बिना स्वानुभूतिके जो जीवादि तत्वोंका श्रद्धान है वह भी सम्यक्त्व नहीं है, यही कारण है कि द्रव्यलिंगी मुनि ग्रन्थारंभमें ही रहते हैं, वे यद्यपि दश अंग तकके पाठी होजाते हैं उन्हें जीवादि तत्वोंका भी श्रद्धान है परन्तु स्वानुभूति लब्धिका उनके अभाव है इसी लिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं उनको यथार्थ सुखका स्वाद नहीं मिलता है। उपर्युक्त कथनका आशय यही है कि जिनके स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होचुका है वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं। हां, स्वात्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान भी सम्यक्त्वमें कारण है।

चेतना होती है। जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है वह सभी प्रमाण सिद्ध होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष सबमें प्रधान प्रमाण है।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोस्ति सा ॥ ८५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि जो ज्ञानचेतनावरणकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह शुद्धात्मानुभव रूप उपयोगके अभावमें निर्विकल्पक अवस्थामें रहती है।
भावार्थ—जैसे दाह्य पदार्थके अभावमें अग्निकी दाहक शक्तिका व्यक्त परिणमन (कार्य) कुछ भी दिखाई नहीं देता, वैसे ही आत्मा शुद्धात्मानुभवके अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतना समझना चाहिये। ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्वके रहते हुए उपयोगात्मक चेतना कभी होती है कभी नहीं होती किन्तु सम्यक्त्वके रहते हुए लब्धिरूप चेतना सदा बनी रहती है उसका सारांश यही है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वात्मानुभव रूप उपयोगात्मक ज्ञान हो अथवा न हो परन्तु लब्धिरूप ज्ञान अवश्य रहता है, हां इतना अवश्य है कि उपयोगके अभावमें वह लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्पक अवस्थामें रहता है, उस समय कार्य परिणत नहीं है।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसङ्क्रान्तेः ॥ ८६० ॥

अर्थ—शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह भी वास्तवमें निर्विकल्पक ही है, क्योंकि जितनेकाल तक शुद्धात्मानुभव होता रहता है उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञा[illegible]
नह[illegible]

भावार्थ–यहां पर यह शंका हो सकती है कि पहले ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर उसीको असंक्रमणात्मक वा निर्विकल्पक कहा गया है, सो क्यों? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां पर दूसरे पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामें लगनेकी अपेक्षा ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर ज्ञान चेतनारूप उपयोगके अस्तित्व कालमें शुद्धात्मासे हटकर पदार्थान्तरमें ज्ञानका परिणमन न होनेकी अपेक्षासे उसे असंक्रमणात्मक (निर्विकल्पक) कहा गया है।

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोत्र केवलम्।
यत्कश्चिद्बहिरर्थे स्यादुपयोगोन्यत्रात्मनः ॥ ८६१ ॥

अर्थ—यहां पर इस प्रश्नके लिये फिर भी लेश मात्र अवकाश रह जाता है कि जब ज्ञान चेतनामें शुद्धात्माको छोड़कर अन्य पदार्थ विषय पड़ते ही नहीं, तब केवलज्ञानियोंके

ज्ञान चेतना है या नहीं, यदि है तो उसमें अन्य पदार्थ क्यों विषय पड़ते हैं, यदि नहीं है तो केवलियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाकी असंभावनामें कौनसी चेतना कहनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझना चाहिये कि केवलज्ञानियोंके ज्ञानचेतना ही होती है और उसमें शुद्धात्मा विषय रहते हुए ही अन्य सकल पदार्थ विषय पड़ते हैं । शुद्धात्माको छोड़ कर केवल अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ते हैं । भावार्थ–किसी ज्ञान चेतनामें केवल शुद्धात्मा विषय पड़ता है और किसीमें शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ दोनों ही विषय पड़ते हैं किन्तु ऐसी कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान चेतना नहीं है कि जिसमें शुद्धात्मा विषय न पड़ता हो, अथवा केवल अन्य पदार्थ ही विषय पड़ते हों । अन्य पदार्थोंके निषेध करनेका भी हमारा यही प्रयोजन है कि शुद्धात्माको छोड़कर केवल अन्य पदार्थ ज्ञान चेतनामें विषय नहीं पड़ते हैं । यहांपर यह शंका उठाई जा सकी है कि जब ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं तब उसमें संक्रमणका होना भी आवश्यक है । और ऊपर ज्ञान चेतनामें संक्रमणका निषेध किया गया है, सो क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं वे उस ज्ञान चेतनाके अस्तित्व कालमें आदिसे अन्ततक बराबर विषय रहते हैं । केवलज्ञानमें आदिसे ही शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ विषय पड़ते हैं और अनन्तकाल तक निरन्तर बने रहते हैं, ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानमें उत्पत्ति कालमें केवल शुद्धात्मा ही विषय पड़ता हो, पीछे विषय बदले जाते हों, किन्तु आदिसे ही सर्व विषय उसमें झलकते हैं, और बराबर झलकते रहते हैं, इसी अपेक्षासे ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थोंके विषय रहते हुए भी संक्रमणका निषेध किया गया है ।

ज्ञानोपयोगकी महिमा—

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ॥
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८६२ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगकी यह स्वाभाविक महिमा है कि वह अपना प्रकाशक है, परका प्रकाशक है और स्व–पर दोनोंका प्रकाशक है । जिस प्रकार दीपक अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार ज्ञान भी अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है यह ज्ञानोपयोगकी स्वाभाविक महिमा है ।

उसीका खुलासा—

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८६३ ॥

अर्थ—ज्ञान सामान्य रीतिसे जिस प्रकार अपने स्वरूपको जानता है उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको भी वह जानता है तथा ज्ञेय पदार्थोंमें मूर्त पदार्थोंको और अमूर्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि पदार्थोंको वह जानता है ।

गुण और दोषमें उपयोग कारण नहीं है—

गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोंमें उपयोग (ज्ञानोपयो
नहीं है, और न वह उन दोनोंमेंसे किसी एकका हेतु ही है। तथा वह उन
सहकारी भी नहीं है। भावार्थ–कारण, हेतु, सहकारी इन तीनोंका भिन्न २ अ
करनेवालेको कारण कहते हैं, जैसे धूमकी उत्पत्तिमें अग्नि कारण है, जो उत्पाद
किन्तु साधक हो उसे हेतु कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि सिद्ध करते समय धूम ह
होता है। सहायता पहुंचानेवालेको सहकारी कहते हैं, जैसे घट बनाते समय कुंभका
दण्ड सहकारी है। उपयोग गुण दोषोंके लिये न तो कारण है न हेतु है और न सहका

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण—

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्ताद्दृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥ ८७४ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेसे सम्य
जीवका गुण प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके
सम्यक्त्वका अविनाभाव है। इन्हीं दोनोंमें व्याप्ति घटित होती है।

दैवादस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।
*** दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमञ्जसा ॥ ८७५ ॥**

अर्थ—दैववश (काल लब्धि आदिक निमित्त मिलने पर) उस दर्शनमोहनीय
उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मामें सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है, और
(प्रतिकूलतामें) उस दर्शन मोहनीयके अस्त नहीं होने पर अर्थात् उदित रहने पर स
नहीं होता है। भवार्थ–दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें बाधक है
उसका अनुदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें साधक है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्यायतः ॥ ८७६ ॥

अर्थ—उस ज्ञानोपयोगके साथ दर्शन मोहाभाव और सम्यक्त्वको व्याप्ति नहीं

* "दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्" यह पाठ मूल पुस्तकका है। इसका
यही है कि उपयोग दर्शनमोहनीयके उदय और अनुदयमें हेतु नहीं है, सहकारी भी
है। परन्तु इस बातका कथन नीचेके श्लोकमें आया है तथा दो नकार भी खटकते हैं।
लिये संशोधित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।

क्योंकि विना उपयोग (शुद्धोपयोग)के भी दर्शन मोहनीय कर्मके अनुदय होने पर सम्यक्त्व होता ही है। इसलिये दर्शनमोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति है, उपयोगके साथ इसकी व्याप्ति नहीं है।

उपयोगके साथ निर्जरादिककी भी व्याप्ति नहीं है—

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादयः।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि॥ ८५७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावी रहने वाले जो निर्जरा, संवर आदिक गुण हैं वे भी उस उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं रखते हैं, अर्थात् निर्जरा आदिमें भी उपयोग कारण नहीं है।

सम्यक्त्व और निर्जरादिकी व्याप्ति—

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम्।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्यादा नोपयोगि तत्॥ ८५८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके होने पर निर्जरा आदिक अवश्य ही होते हैं। सम्यग्दर्शनकी उपस्थितिमें निर्जरादिका अभाव नहीं हो सकता है। परन्तु उस समय ज्ञान उपयोगात्मक हो अथवा न हो कुछ नियम नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोग हो या न हो निर्जरादिक सम्यक्त्वके अविनाभावी हैं। उनमें उपयोग कारण नहीं है।

इसीका स्पष्टीकरण—

आत्मन्येवोपयोगोस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादय॥ ८५९॥

अर्थ—ज्ञान चाहे स्वात्मामें ही उपयुक्त हो चाहे वह आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो, सम्यग्दर्शनरूप भावोंके होनेपर ही निर्जरादिक होते हैं। भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि ज्ञान चाहे निजात्मामें उपयुक्त हो, चाहे पर पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो वह गुण दोषोंमें कारण नहीं है। ऊपरके श्लोकोंमें गुणोंका कथन किया गया है। निर्जरादि गुणोंके होनेमें सम्यग्दर्शन कारण है स्वात्मोपयोग कारण नहीं है।

पुण्य और पापबन्ध कारण—

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात्॥ ८६०॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्जरादिक गुणोंमें उपयोग कारण नहीं है। उसी प्रकार पुण्यबन्ध और पापबन्धमें भी वह कारण नहीं है। पुण्यबन्ध और पापबन्ध रागद्वेष मोहसे होते हैं, उपयोगाधीन नहीं होते।

नहीं है जिस प्रकार कि आकाशके पुष्प कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये
वाच्य न होनेसे उसे आश्रयासिद्ध× ही कहना चाहिये, और जब विक
तब ज्ञानको सविकल्प कहनेमें सर्वज्ञागम प्रसिद्ध क्या हेतु हो सकता है
नहीं होसकता।

उत्तर—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात्।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात्।

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक
सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नहीं हो
तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नहीं
है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०७

अर्थ—जिन लोगोंने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्य
बतलाया है उन्होंने उपचारसे ही बतलाया है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन और
नहीं हैं। उपचारका भी क्या कारण है? उसे ही अब बतलाते हैं।—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जा
स्वरूप नहीं है किंतु राग क्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है।

राग क्रिया क्यों है उसे ही बतलाते हैं—

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ९०८ ॥

अर्थ—पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिण
पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। भावार्थ—पदार्थ
होनेसे किसीमें मोह रूप परिणाम होते हैं, किसीमें रागरूप परिणाम होते
द्वेषरूप परिणाम होते हैं।

×[illegible] उसका आश्रय [illegible]
[illegible] ही नहीं है अतएव आश्रयासिद्ध हेत्वाभास आता है।

रागसहित ज्ञान शान्त नहीं है—

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥ ९०९ ॥

अर्थ—यह बात स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि राग सहित ज्ञान शान्त नहीं है। ऐसा शान्ति रहित ज्ञान जैसा रागी पुरुषके होता है वैसा मुनिके नहीं होता। भावार्थ—जो ज्ञान शांति रहित होगा वह राग सहित अवश्य होगा इसलिये वह रागी पुरुषके ही हो सकता है रागरहित मुनिके नहीं।

अस्तिज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥ ९१० ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक राग ज्ञानका अविनाभावी है। क्योंकि अज्ञात (नहीं जाने हुए) पदार्थमें राग भाव उत्पन्न ही नहीं होता है। जिस प्रकार आकाशका पुष्प कोई पदार्थ नहीं है तो उसमें बुद्धिपूर्वक राग भी नहीं हो सकता है। भावार्थ—राग दो प्रकारका होता है एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव है। जिसके बुद्धिपूर्वक राग होता है उसीके कर्म चेतना होती है परन्तु ऐसा नियम नहीं है क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग चौथे गुणस्थानमें भी है तथा ऊपर भी है परन्तु वहां कर्म चेतना नहीं है किन्तु ज्ञान चेतना है। इतना विशेष है कि बुद्धिपूर्वक राग कर्म बन्धका ही कारण है। जिन जीवोंके सम्यक्त्व नहीं है बुद्धिपूर्वक राग है उनके कर्मचेतना होती है। यह कर्म चेतना ही संसार दुःखका कारण है। नरकादि गतियोंका बन्ध कर्मचेतनासे ही होता है। अबुद्धिपूर्वक राग इन्द्रियोंसे अज्ञात पदार्थमें ही होता है। जिन जीवोंके अबुद्धि पूर्वक राग है उनके कर्मफल चेतना होती है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक कर्मफल चेतना ही होती है।

बुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है।

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ ९११ ॥

अर्थ—ऊपर कहा हुआ बुद्धिपूर्वक राग चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है वह राग अप्रमत्त गुण स्थानसे पहले २ होता है। छठे गुणस्थानसे ऊपर सर्वथा नहीं होता है। भावार्थ—छठे गुणस्थानमें संज्वलन कषायका तीव्रोदय है इसलिये प्रमादरूप [illegible] वहां बुद्धिपूर्वक राग होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलनका मन्दोदय है। अतएव वहां [illegible] ही नहीं होते हैं। केवल ध्यानावस्था है। जितना मुनियोंका [illegible] किया है वह सब प्रमत्त गुणस्थान तक ही है। [illegible] उनके भी बीच २में सातवां गुणस्थान हो जाता है। क्योंकि छठे और सातवें दोनोंका ही अन्तर्मुहूर्त काल है। इसलिये दोनों ही अन्तर्मुहूर्तमें [illegible] हैं।

नहीं है जिस प्रकार कि आकाशके पुष्प कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये विकल्प शब्द वाच्य न होनेसे उसे आश्रयासिद्ध× ही कहना चाहिये, और जब विकल्प कोई पदार्थ तब ज्ञानको सविकल्प कहनेमें सर्वज्ञागम प्रसिद्ध क्या हेतु हो सकता है, अर्थात् कु नहीं होसकता।

उत्तर—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात्।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ ९०५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक कहा जाता है सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नहीं होता। भावार्थ- तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नहीं है किंतु उ है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०६ ॥

अर्थ—जिन लोगोंने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनको स बतलाया है उन्होंने उपचारसे ही बतलाया है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान स नहीं हैं। उपचारका भी क्या कारण है? उसे ही अब बतलाते हैं।—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९०७ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जानता है वह ज्ञ स्वरूप नहीं है किंतु राग क्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है।

राग क्रिया क्यों है उसे ही बतलाते हैं—

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्‌द्विषद्यथा ॥ ९०८ ॥

अर्थ—पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिणमनमें ज्ञान ह पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। भावार्थ—पदार्थोंमें इष्टानिष्ट होनेसे किसीमें मोह रूप परिणाम होते हैं, किसीमें रागरूप परिणाम होते हैं और कि द्वेषरूप परिणाम होते हैं।

×जहां वाचक शब्दकी अपेक्षासे पदार्थ न हो उसका आश्रय होनेसे वि उसका कोई वाच्य ही नहीं है अतएव आश्रयासिद्ध दोष आता है।

अर्थ—स्थूल पदार्थको लक्ष्य रखनेवाले जिन प्रसिद्ध पुरुषोंने केवल रागरूप हेतुसे कहा है। उनका कहना है कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही रूपक हैं।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९१५ ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं। वही शुक्लध्यान कहलाता है, और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है।

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना ।
अस्तीति वासनोन्मेष केषाञ्चित्स न सन्निह ॥ ९१६ ॥

अर्थ—" प्रमत्त जीवोंको विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्ध चेतना नहीं हो सकी है।" किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके इस प्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है। भावार्थ—जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग होता है। इसलिये वहां तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्प हैं। सविकल्प अवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है नीचे नहीं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले यथार्थ वस्तुके विचारक नहीं है, क्यों नहीं है सो नीचे बतलाते हैं।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणाथापि पराश्रितम् ॥ ९१७ ॥

अर्थ—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुण दोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सका इसी प्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुण दोषोंको अपने आश्रित बना सक्ता है। भावार्थ–जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा उसी आश्रयसे होसका है अन्य किसी दूसरे आश्रयसे नहीं होसका ऐसा सिद्धान्त स्थिर पर भी जो पराश्रित गुणदोषोंको अन्याश्रित बतलाते हैं वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं।

राग किस कारणसे होता है ?

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ९१८ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्मका पाक होनेसे राग होता है, राग आत्माका औदयिक अर्थात् कर्मोके उदयसे होनेवाला है। वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व में किस प्रकार हो सका है ? अर्थात् नहीं हो सक्ता। भावार्थ—राग आत्माका

अबुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा ॥ ९१२ ॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सूक्ष्म–अबुद्धि पूर्वक राग है। यह राग क्षीणकषायसे पहले २ होता है। सो भी विवक्षाधीन है। यदि विवक्षा की जाय तो अबुद्धिपूर्वक–सूक्ष्म राग है अन्यथा नहीं है। भावार्थ—दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उदय रहता है। उससे पहले नवमें गुणस्थानमें वादर कषायका उदय है। परन्तु वह भी सूक्ष्मही है। दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्मराग रहता है इसलिये तो वहां तक अबुद्धि पूर्वक रागभावकी विवक्षा की जाती है। परन्तु सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी माड़ना शुरू होजाता है। इसलिये आठवें गुणस्थानसे लेकर दशवें तक कोई मुनि उपशमश्रेणी माड़ते हैं और कोई क्षपकश्रेणी माड़ते हैं। जो उपशमश्रेणी माड़ते हैं उनके औपशमिक भाव हैं और जो क्षपकश्रेणी माड़ते हैं उनके क्षायिक भाव हैं। स्थूल दृष्टिसे आठवें नवमें और दशवें इन तीन गुणस्थानोंमें औपशमिक अथवा क्षायिक दो प्रकारके ही भाव हैं परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वहां पर क्षायोपशमिक भाव भी है। क्योंकि चारित्र मोहनीयका वहां मन्दोदय भी तो होरहा है। उस मन्दोदयकी विवक्षा करनेसे ही वहां क्षायोपशमिक भाव हैं अन्यथा नहीं हैं। यही विवक्षा [illegible] आशय है।

उपचार किस नयसे किया जाता है—

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ ९१३ ॥

अर्थ—इसी बातको विचार कर किन्हीं पुरुषोंने असद्भूत उपचार नयसे राग सहित ज्ञानको [illegible] सम्यक्त्वको भी वैसा कहा है। भावार्थ—जो भिन्न हुए भिन्न पदार्थोंको अभेद रूप कहता है उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं जैसे आत्मा और शरीरका बंध होने से कोई कहे यह शरीर मेरा है। इसी प्रकार राग भिन्न पदार्थ है परन्तु अभेद बुद्धिसे ज्ञान और दर्शनको भी जिन्होंने सरागी (सविकल्प) कह दिया है वास्तवमें राग दूसरा पदार्थ है, ज्ञान दर्शन दूसरे पदार्थ हैं, [illegible] ज्ञान दर्शनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये उसका कथन केवल औपचारिक है।

[illegible]—

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरिति स्मृतम्।
***आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ ९१४ ॥**

* [illegible]

आचार्य कहते हैं कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीयका बन्ध तथा उदय करानेमें समर्थ है तो आत्मामें सम्यक्त्वकी कभी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है।

रागभावसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होसकती है—

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९२२ ॥

अर्थ—चारित्रावरण कर्मके उदयसे (रागभावसे) सम्यक्त्वका विघात नहीं हो सकता है। क्योंकि रागभावका दर्शनमोहनीय कर्मके विषयमें कोई अधिकार नहीं है।

सिद्धान्त कथन—

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९२३ ॥

अर्थ—क्योंकि यह बात आगमसे सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे ही नियमसे होता है। किसी अन्य (चारित्र मोहनीय)के उदयसे दर्शनमोहनीयका बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता। भावार्थ—जिस कार्यका जो कारण नियत है उसी कारणसे वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्यकारण पद्धतिको उठा दिया जाय तो किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके सिवा संकर, आदि अनेक दूषण भी आते हैं। क्योंकि कारण भेदसे ही कार्य भेद होता है। अन्यथा किसी पदार्थकी ठीक २ व्यवस्था नहीं हो सकती है। सिद्धान्तकारोंने पहले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय रहा है वहीं पर उसका स्वोदयमें बन्ध भी होता है। यदि दर्शनमोहनीयका बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मके उदयसे भी होने लगे तब तो सदा पहला ही गुणस्थान रहेगा। अथवा गुणस्थानोंकी शृङ्खला ही टूट जायगी। गुणस्थानोंकी अव्यवस्था होने पर संसार मोक्ष अथवा शुद्ध अशुद्ध भावोंकी व्यवस्था भी नहीं रह सकती है, इसलिये दर्शनमोहनीयके उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष आदि मानना न्यायसंगत है।

शङ्काकार।

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२४ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥ ९२५ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि यदि अपने उदयमें ही अपना बन्ध उत्कर्ष हो अथवा परोदयमें परका उदय न हो तो आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता कैसे आ सकती है! क्योंकि बिना कारण अपना उदय अपने आप तो हो नहीं सकेगा, और बिना दर्शनमोह-

नीयके उदय हुए आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता आ नहीं सकी है तथा हम (शंकाकार) यह भी विश्वास नहीं कर सके हैं कि स्वयं दर्शन मोहनीयका उपशम ही दर्शनमोहनीयके उदय अथवा उत्कर्षका कारण हो जाता हो। भावार्थ—उपशमसम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दोनों ही छूटकर मिथ्यात्व रूपमें आसक्ते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होनेपर फिर छूट नहीं सक्ता है। शंकाकार पहले दो सम्यक्त्वोंके विषयमें ही पूंछता है कि दर्शनमोहनीयका जिस समय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है उस समय किस कारणसे दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्वके नाशका हेतु है। स्वयं दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम तो उसके उदयमें कारण हो नहीं सक्ता है। यदि ऐसा हो तो आत्माके स्वाभाविक भाव ही कर्मबन्धके कारण होने लगेंगे। और विना कारण दर्शनमोहनीयका उदय हो नहीं सक्ता है इस लिये अगत्या परोदय (रागसे उसका उदय और बन्ध मानना पड़ता है, शंकाकारने घुमाव देकर फिर भी वही "सराग अवस्थामें ज्ञानचेतना नहीं हो सकती है" शंका उठाई है।

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः॥ ९२६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठाई है वह सर्वथा निर्मूल है। आचार्य शंकाकारसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अभी तुम पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें बिलकुल अजान हो, तुम नहीं समझते हो कि हर एक कर्ममें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि अनेक रूपसे फलदान शक्ति भरी हुई है।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात्॥ ९२७॥

अर्थ—जिस प्रकार अनादि कालसे कर्मोंका उदय होरहा है उसी प्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वयं होता है। इसी प्रकार उपशमके पीछे उदय और उदयके पीछे उपशम बार २ होते रहते हैं। यह उदय और उपशमकी शृङ्खला जब तक मोक्ष नहीं होती है तब तक बराबर होती रहती है।

यदि ऐसा न माना जाय तो दोष—

अथ गत्यन्तरादोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोन्योन्यसंश्रयः॥ ९२८॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यवस्था न मानी जाय और दूसरी ही रीति स्वीकार

की जाय तो असिद्ध नामक दोष आता है, अनवस्था दोष भी आता है। अन्योन्याश्रय दोष भी आता है जो कि दुर्वार है। ये दोष किस प्रकार आते हैं इस बातका खुलासा नीचे किया जाता है—

राग स्वयं होता है या परसे—

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोस्ति स्वायत्तः किं रागादपररागमात् ॥ ९२९ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीयका उदय शंकाकारके अनुसार यदि रागाधीन माना जाय तो दूसरी शंका उपस्थित होती है कि वह राग भी क्या अपने ही अधीन है अर्थात् अपने आप ही होता है अथवा दूसरे रागके अधीन है।

राग यदि अपने आप ही होता है—

स्वायत्तश्चेत चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥ ९३० ॥

अर्थ—यदि चारित्रमोहनीयके उदयसे राग स्वयं अपने आप ही होता है तो जिस प्रकार राग स्वयं होता है उसी प्रकार यह दर्शन मोहनीयका उदय भी अपने उदयसे स्वयं ही अपने आप होता है।

यदि परस्पर सिद्धि मानी जाय—

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥ ९३१ ॥

अर्थ—अथवा यदि दोनोंकी ही सिद्धि एक दूसरेसे मानी जाय अर्थात् रागसे दर्शन मोहनीयका उदय माना जाय और दर्शनमोहनीयसे रागोदय माना जाय तो असिद्ध [illegible] दोष आता है। इसीके अन्तर्गत अन्योन्याश्रय दोष आता है। भावार्थ—परस्पर [illegible] सिद्धि दूसरेके आधीन माननेसे एककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि [illegible] होजाय तब दूसरा सिद्ध हो, परस्परकी अपेक्षासे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

आगम भी ऐसा नहीं बतलाता है—

नागमः कश्चिदस्तीदृग्हेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
+रागस्तस्यापि रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः ॥ ९३२ ॥

अर्थ—कोई जैनागम भी यह नहीं बतलाता है कि दर्शन [illegible] हेतु [illegible] है और उस रागका हेतु दर्शनमोहनीय कर्म है।

+ मूल पुस्तकमें "[illegible]" पद है [illegible]
॥

सारांश—

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा ।
उदयोऽनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिःस्वतः ॥ ९३३ ॥

अर्थ—इसलिये यह सिद्धभूत-निश्चित सिद्धान्त है कि दर्शन मोहनीयका अथवा चारित्र मोहनीयका उदय अथवा अनुदय बिना किसी दूसरे हेतुके अपने आप ही होता है।

ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण कथनका फलितार्थ—

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि ।
तद्यथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ ९३४ ॥

अर्थ—इसलिये सम्यक्त्व एक ही है। क्योंकि उसका लक्षण भी एक ही है। इसलिये वहांपर ज्ञानचेतना अवश्य ही है। भावार्थ—ऊपर बहुत दूरसे यह बात चली आ रही थी कि सराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना नहीं होती है। वीतराग सम्यक्त्वमें ही होती है। शंकाकारने रागके निमित्तसे सम्यक्त्वके सराग और वीतराग ऐसे दो भेद किये थे, आचार्य कहते हैं कि रागका चारित्रसे सम्बन्ध है सम्यक्त्वसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये न तो सराग और वीतराग ऐसे सम्यक्त्वके दो भेद ही हैं और न ज्ञानचेतनाका अभाव ही है सम्यग्दर्शन एक है। उसका स्वानुभूति लक्षण है। ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका अविनाभावी गुण है इसलिये सम्यग्दर्शनके साथ उसका होना अत्यावश्यक है। इसलिये चाहे सरागावस्था हो चाहे वीतरागावस्था हो ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ अवश्य ही होगी।

सम्यक्त्वके भेद—

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ ९३५ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके मिश्र (क्षायोपशमिक) औपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं। इन तीनों भेदोंमें स्थिति बन्धकी अपेक्षासे ही भेद है। रसबन्ध (अनुभाग बन्ध) की अपेक्षासे कोई भेद नहीं है। भावार्थ—सम्यक्त्वको घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति, अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ इन सातोंके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। सातोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है, और सातोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक तेतीस सागरकी है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरकी है। इ

प्रकार स्थितिकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके तीन भेद हैं। और भी उसके अनेक * भेद हैं परन्तु इन सब भेदोंके रहते हुए भी सम्यक्त्व गुणमें वास्तव दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। सभी भेदोंमें आत्माको स्वानुभूत्यात्मक आनन्दका देनेवाला एक ही सम्यक्त्व गुण है। इन भेदोंकी अपेक्षासे सम्यक्त्व गुणमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। इसी लिये ग्रन्थकारने बतलाया है कि स्थितिबन्ध कृत ही भेद है। रसकी अपेक्षासे कोई भेद नहीं होता है अर्थात् उसके अनुभवमें कोई अन्तर नहीं है।

अब स्थिति और अनुभागबन्धमें अन्तर दिखलानेके लिये चारों बन्धोंका स्वरूप दिखाते हैं—

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥ ९३६ ॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबंध इस प्रकार बन्धके चार भेद हैं। ये बन्धके भेद-प्रभेद अनादिकालसे चले आते हैं।

भावार्थ—संसारी आत्मायें अनादिकालसे ही चारों प्रकारके बन्धोंसे बंधी हुई हैं, परिणामोंकी मलिनताके भेदोंसे उस बन्धमें भी अनेक भेद-प्रभेद होते रहते हैं।

चारों बन्धोंका स्वरूप—

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥ ९३७ ॥

अर्थ—कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको प्रकृति कहते हैं। अनेक प्रदेशोंके समूहको प्रदेश कहते हैं, रसको अनुभाग कहते हैं और कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

भावार्थ—प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे गुड़की मीठी प्रकृति अर्थात् गुड़का मीठा स्वभाव, निम्बूकी खट्टी प्रकृति-निम्बूका खट्टा स्वभाव, नीमकी कड़वी प्रकृति-नीमका कड़वा स्वभाव, मिरचकी चरपरी प्रकृति-मिरचका चरपरा स्वभाव, इत्यादि। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति ? ज्ञानको ढक देना, दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति ? दर्शनको ढक देना, मोहनीयकी क्या प्रकृति ? सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको विपरीत स्वादु करना, अन्तराय की क्या प्रकृति ? वीर्यशक्तिको ढक देना। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको ही प्रकृति कहते हैं। तथा स्वभाव नाम गुणका है इसलिये प्रकृति कर्मोंका गुण है। परन्तु गुण गुणीमें अभेद विवक्षा होनेसे गुणके निमित्तसे गुणी भी प्रकृति शब्दसे व्यवहार किया जाता है। जैसे ज्ञानको ढकनेवाले कर्मको भी ज्ञानावरण प्रकृति कहते हैं, दर्शनको ढकनेवाले कर्मको भी दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं। यद्यपि ज्ञान दर्शनको ढकना यह उन कर्मोंकी प्रकृति (स्वभाव) है

* आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्, विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च। आत्मानुशासन।

तथापि अभेद विवक्षासे उन स्वभाववाले कर्मोंको भी उसी शब्दसे व्यवहार करते हैं। इस प्रकार उन भिन्न २ स्वभाववाले कर्मबन्धको प्रकृति बन्ध कहते हैं। प्रकृतिबन्धके ८ भेद हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। इनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं अर्थात् आत्माके ज्ञानादि गुणोंको घात करनेवाले हैं, और बाकीके चार अघातिया हैं, अर्थात् आत्माके गुणोंको घात नहीं करते हैं। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जब अघातिया कर्म आत्माके गुणोंका घात ही नहीं करते हैं तो फिर आठों कर्मोंके अभावसे आठ गुण सिद्धोंमें किस प्रकार बतलाये गये हैं? इसका उत्तर यह है कि गुण दो प्रकारके होते हैं, एक-अनुजीवी गुण, दूसरे प्रतिजीवी गुण। जो गुण भाव रूप हों, अर्थात् वास्तवमें अपनी सत्ता रखते हों उन्हें अनुजीवी गुण कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि सब अनुजीवी गुण हैं। और जो वास्तवमें अपनी सत्ता तो नहीं रखते हों, अर्थात् वास्तवमें गुण तो न हों परन्तु कर्मोंके अभावसे आत्मामें जिनकी विवक्षा हो उन्हें प्रतिजीवी गुण कहते हैं। अव्याबाध अगुरुलघु, सूक्ष्मत्व अवगाहनत्व ये गुण प्रतिजीवी कहलाते हैं। अर्थात् आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न हुए थे उन कर्मोंके अभावसे उन दोषोंके दूर जानेको ही गुण कहा गया है। जैसे—वेदनीय कर्मके निमित्तसे जो आत्मामें बाधा हो रही थी, उस वेदनीयके दूर हो जानेसे वह बाधा भी दूर हो गई। बाधाके दूर होनेका नाम ही अव्याबाध गुण कहा गया है। वास्तवमें बाधाका दूर होना अभाव रूप पड़ता है, परन्तु बाधा रूप दोषके अभावको गुण कहा गया है। इसी प्रकार नाम कर्मके निमित्तसे आत्मा शरीरानुसार कभी गुरु (बड़ा) कहलाता था और कभी लघु कहलाता था, उस नाम कर्मके दूर जानेसे आत्मा न गुरु कहलाता है और न लघु कहलाता है। इस गुरु लघुताके अभावको ही अगुरुलघु गुण कहते हैं इसी प्रकार सूक्ष्म... [illegible] अभावको सूक्ष्मत्व गुण और अवगाहनाके अभावको अवगाहन गुण कहते हैं। परन्तु इस बात... [illegible] नहीं हैं किन्तु ये भावरूप गुण हैं। [illegible] परन्तु उन शक्तियोंके अनुसार उनकी सत्ता ... [illegible] ... रहता है परन्तु आयु कर्मका बन्ध ... [illegible] ... ही होता है। [illegible]

विभाग पड़ जाय। इसी लिये आचार्योंने मरणकालमें समाधि मरणको परम आवश्यक बतलाया है, संभव है कि कहीं पर आयुका बन्ध न होतो मरणकालमें तो अवश्य ही होगा।

प्रदेश बन्ध–कर्मोंकी इयत्ता–परिमाणको कहते हैं अर्थात् कितने प्रदेशोंका बन्ध हुआ है, अधिकतर या कमती। जब मन, वचन, काययोगोंकी तीव्रता होती है तब अधिक प्रदेशोंका बन्ध होता है और योगोंकी मन्दतामें कम प्रदेशोंका बन्ध होता है। परन्तु प्रतिसमय सामान्य रीतिसे अनन्तानन्त प्रदेशोंका बन्ध होता रहता है। अर्थात् प्रति समय यह जीव सिद्ध राशि (अनन्तानन्त) के अनन्तवें भाग और अभव्य जीव राशि (जघन्य युक्तानन्त) से अनन्त गुणे समय प्रबद्ध अर्थात् एक समयमें बंधनेवाले परमाणु समूहको बांधता है। परन्तु मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप योगोंकी विशेषतासे कभी कमती कभी बढ़ती परमाणुओंका भी बन्ध करता है परन्तु अनन्तसे कम बन्ध नहीं करता है। क्योंकि अनन्त वर्गोंके समूहको एक वर्गणा कहते हैं, और अनन्तानन्त वर्गणाओंके समूहको एक समय-प्रबद्ध कहते हैं। और इतने ही परमाणु प्रति समय इस जीवके उदयमें आते रहते हैं, उदय होनेवाले परमाणु समूहको निषेक कहते हैं। इस प्रकार यह बन्ध उदयकी शृंखला तब तक बराबर होती रहती है जब तक कि यह जीव कर्मबन्धकी कारणभूत कषाय विशिष्ट योगोंकी प्रवृत्तिको नहीं रोकता है। जो कर्म परमाणु इस जीवके बंधते हैं वे आठ उपर्युक्त प्रकृतियोंमें बंट जाते हैं, उस बटवारेमें आयु कर्मका हिस्सा सबसे थोड़ा रहता है उससे कुछ अधिक नाम और गोत्र कर्मका समान हिस्सा रहता है, नाम गोत्रसे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन प्रकृतियोंका समान हिस्सा रहता है उनसे अधिक मोहनीय कर्मका हिस्सा रहता है। उससे अधिक हिस्सा वेदनीय कर्मका रहता है। वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक रहता है इसका कारण यह है कि वेदनीय कर्म सुख दुःखका कारण है इसलिये इसकी निर्जरा अधिक होती है, इसी लिये सबसे अधिक द्रव्य इसमें चला जाता है।

स्थिति बन्ध आत्माके साथ कर्मोंके रहनेकी मर्यादाको कहते हैं। जो कर्मबन्ध हुआ है वह जितने काल तक आत्माके साथ रहेगा इसीका नाम स्थिति बन्ध है। यह स्थिति बन्ध दो प्रकारसे होता है। एक जघन्य एक उत्कृष्ट। सबसे जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्तका होता है परन्तु उदीरणा (असमयमें किसी कारणवश निर्जरा होनेवाले कर्म) होनेपर जघन्य स्थितिबन्ध एक आवलि मात्र है, अर्थात् यदि किसी कर्मकी उदीरणा भी हो तो भी कमसे कम आवलि मात्र आबाधा काल पड़ेगा ही। तत्काल बन्ध और तत्काल उदीरणा भी नहीं होती है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें जो तत्काल बन्ध और तत्काल उदय होता है वास्तवमें वह बन्ध ही नहीं है। बन्ध कषायके निमित्तसे होता है, उक्त गुणस्थानोंमें

कषायका उदय ही नहीं है इसलिये वहां पर योगके निमित्तसे जैसे कर्म आता है वैसे ही च
जाता है। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण होता है। मध्यके अनेक भे
हैं। कर्मोंका उदय आबाधा काल* के पीछे ही होता है। उदयकी अपेक्षासे आबाधा काल
प्रमाण सातों कर्मों (आयु कर्मको छोड़कर) का एक कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण स्थितिमें
वर्ष प्रमाण है, बाकी स्थितियोंका उनके त्रैराशिकके अनुसार जान लेना चाहिये। आयु कर्म
आबाधा काल कोड़ पूर्वके तीसरे भागसे लेकर आवलिके असंख्यात भाग प्रमाण है। जैसे
अन्य कर्मोंकी आबाधा स्थितिके अनुसार भाग करनेसे होती है वैसी आयु कर्मकी नहीं है।
उदीरणाकी अपेक्षासे सब कर्मोंकी आबाधा आवलि प्रमाण है। परभवकी बंधी हुई आयुकी
उदीरणा नहीं होती है। विना स्थिति बन्धके कर्म अपना फल इस आत्माको नहीं दे सके
हैं और स्थितिबन्ध कषायसे होता है। इसलिये कषायोंको कम करना ही सुख चाहनेवालोंका
परम कर्तव्य है।

अनुभागबन्ध-कर्मोंके फल देनेकी शक्तिकी हीनता व अधिकताको कहते हैं। वास्तवमें
यही बन्ध साक्षात् आत्माको दुःखका कारण है। क्योंकि कर्मोंका फल (विपाकावस्था) ही
दुःख है और कर्मोंका फल अनुभागबन्धसे होता है। आत्माके गुणोंका विभाव परिणमन
इसीसे होता है। आत्मामें अशुद्धता इसीसे आती है। आत्माके संक्लेश परिणामोंसे अशुभ
प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभाग पड़ता है और शुभ प्रकृतियोंमें जघन्य पड़ता है तथा शुभ परि-
णामोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें जघन्य अनुभाग पड़ता है शुभोंमें अधिक पड़ता है। चारों घातिया
कर्म अशुभ हैं। उनका अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति चार भेदोंमें विभाजित की जाती
है। कुछ कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति लताके समान है। जैसे लता कोमल होती है वैसे ही उन
कर्मोंकी फलदान शक्ति भी बहुत हलकी होती है। लताके समान फलदान शक्ति रखनेवाले
कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे घात नहीं कर सकते हैं किन्तु एक देश घात करते हैं।
जैसे सम्यक्त्व प्रकृति लताके समान है वह सम्यग्दर्शनका सर्व घात नहीं करती इसलिये
वह देशघाती प्रकृतियोंमें गिनाई गई है। कुछ कर्म परमाणुओंमें काठके समान फलदान शक्ति
है। काठ, लतासे बहुत कठोर होता है, काठके समान शक्ति रखनेवाले कर्मोंका बहुभाग
(अनन्तवां) भाग देशघाती है। और बहुभाग सर्वघाती है। कुछ परमाणुओंमें हड्डीके समान

* कम्म सरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।
रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे।
अर्थ-आत्माके द्वारा बंधा हुआ कर्म जब तक उदय रूप और उदीरणा रूप [illegible] उस कालको आबाधा काल कहते हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

शक्ति है, वह शक्ति कालकी अपेक्षा और भी कठोर है और कुछ कर्म पत्थ
पत्थरके समान फलदान शक्ति है वे कर्म पर्याय है, अर्थात् ऐसी शक्ति
कर्म आत्माके गुणोंका सर्वथा घात करते हैं। मिश्र प्रकृति और
प्रकृति इसका उदाहरण है। मिश्र प्रकृति दारु भागके समान है। और मि
प्रकृति हड्डी और पत्थरके समान है। जिस प्रकार घातिया कर्म सब ही अशु
उस प्रकार अघातिया कर्म नहीं हैं किन्तु उनमें साता वेदनीय, शुभ आयु* शुभ नाम
उच्च गोत्र ये शुभ हैं, बाकीके-असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच
अशुभ कर्म हैं। जो शुभ प्रकृतियां हैं उनमें भी चार प्रकारकी शक्तियां-गुड़, खां
शक्कर (मिश्री) और अमृतके समान समझना चाहिये। अर्थात् प्रशस्त कर्मोंमें कुछ भाग त
के समान फल दान शक्ति है, इसीप्रकार कुछ भाग तक खांड़के समान, कुछ भाग त
शक्करके समान और कुछ भाग तक अमृतके समान फल दान शक्ति है। अघातिया कर्मोंमें जो
अशुभ प्रकृतियां हैं उनमें क्रमसे नीम, कांजीर, विष और हालाहलके समान शक्ति भेद
समझना चाहिये। इन्हीं शक्ति भेदोंके अनुसार यह जीव सुख दुःखकी अधिकता अथवा
हीनताको भोगता है। यह शक्तिभेद ही फल दान शक्तिका तारतम्य कहलाता है। ऐसा
तारतम्य अनुभाग बन्धमें होता है। इसलिये वास्तवमें अनुभाग बन्ध ही दुःखोंका मूल कारण
है। अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कहना ठीक है कि अनुभागबन्ध ही दुःखस्वरूप है। इसको दूर
करनेका उपाय भी कषायोंकी हीनता है। जितनी २ कषायें पुष्ट होंगी उतना २ ही कर्मोंमें
रस शक्तिका आधिक्य होगा, और जितनी २ कषायें निर्बल अथवा मन्द होंगी उतनी २ ही
कर्मोंमें रस शक्तिकी हीनता होगी। उपर्युक्त चारों प्रकारका ही बन्ध योग और कषायसे होता है।
योगसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है
इन योग और कषाय दोनोंके समुदायको लेश्या कहते हैं। लेश्याका लक्षण यही है कि
" कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या+ " अर्थात् कषायोंके उदय सहित जो योगोंकी

* देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु ये तीनों ही आयु शुभ हैं। परन्तु गतियोंमें देवगति और मनुष्यगति ये दो गति शुभ हैं इसका कारण भी यह है कि तिर्यग्गतिमें कोई जीव आना नहीं चाहता है क्योंकि वह दुःखका कारण है इसलिये तिर्यग्गति तो अशुभ है, परन्तु जो जीव तिर्यग्गतिमें है वह वहांसे निकलना नहीं चाहता इस लिये तिर्यगायु शुभ है। और नरकमें तो कोई आना भी नहीं चाहता और पहुंचकर वहां ठहरना भी कोई नहीं चाहता इस लिये नरकगति और नरकायु दोनों ही अशुभ हैं।

\+ जोग पवित्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं।

अर्थात् कषायोदयरंजित योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसलिये कषाय और योग लेश्यासे ही चारों प्रकारका बन्ध होता है।

प्रवृत्ति है उसीका नाम लेश्या है। इसलिये यह लेश्या ही चारों बन्धोंका कारण है। लेश्या अर्थात् शुभ राग और शुभ योग प्रवृत्ति पुण्यबन्धका कारण है और अशुभ अर्थात् अशुभ राग और अशुभ योगोंकी प्रवृत्ति पापबन्धका कारण है* इस लिये प्रथम अशुभ प्रवृत्तिका त्याग कर शुभ प्रवृत्तिमें लगना चाहिये। शुभ प्रवृत्तिमें लग जाने अशुभ प्रवृत्तिजन्य तीव्र दुःखका कारण पापबन्ध होता है वह रुक जाता है।

अनुभागबन्धमें विशेषता—

स्वार्थक्रिया समर्थोऽत्र बन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः।
शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः॥ ९३८॥

अर्थ—ऊपर जो चारों बन्धोंका स्वरूप कहा गया है उनमें अनुभाग बन्ध ही क्रियाके करनेमें समर्थ है, बाकीके तीनों ही बन्ध कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं। भाव प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध इन तीनोंसे आत्माको साक्षात् दुःख नहीं होत साक्षात् दुःख देनेवाला और आत्माके गुणोंका घात करनेवाला अनुभाग बन्ध ही है। क्य हरएक कर्म इस शक्ति अवस्थामें ही फल देनेमें समर्थ हैं, और इस शक्तिमें न्यूना अनुभाग बन्धसे आता है।

सारांश—

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेऽप्यत्र संस्थिते।
ज्ञानसञ्चेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि॥ ९३९॥

अर्थ—इसलिये तीनों सम्यग्दर्शनोंमें स्थितिबन्धकी अपेक्षासे सत्ता मात्रमें ही भेद उससे ज्ञानचेतनाकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति (हानि) नहीं है। भावार्थ—पहले कहा गया है सम्यग्दर्शनके क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ऐसे तीन भेद हैं, उन तीनों ही भेदोंमें अलौकिक सम्यग्दर्शन गुणका अनुभव समानतासे होता है, केवल कर्मोंकी स्थितिकी अपेक्षासे तीनोंमें भेद है, वास्तवमें रसबन्धकृत भेद नहीं है इसी बातको चारों बन्धोंका स्वरूप बता स्पष्ट किया गया है कि स्थितिके भेदसे ज्ञानचेतनाकी थोड़ी भी हानि नहीं होती है। अर्थ सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहनेवाली ज्ञानचेतना तीनों ही में समान है।

---

* लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥

अर्थात् जीव जिसके द्वारा पुण्य पापका ग्रहण करे उसीको लेश्याके जाननेवालोंने लेश्या कहा है। गोमट्टसार।

सम्यग्दर्शनके साथ और भी सद्गुण होते हैं—

एवमित्याद्यश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ ९४० ॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ ९४१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ तथा उसके आगे और भी सद्गुण प्रकट होते हैं। वे सब सम्यग्दर्शन सहित हैं इसीलिये सद्गुण हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव ज्ञान, वैराग्य, और भेद विज्ञान। इत्यादि सभी गुण सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाय। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही भेद विज्ञानादि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है। अन्यथा नहीं होती। दूसरा यह भी आशय है कि जो गुण सम्यग्दर्शनके साथमें होते हैं वही सद्गुण हैं। विना सम्यग्दर्शनके होनेवाले गुणोंको सद्गुणोंकी उपमा भले ही दी जाय, परन्तु वास्तवमें वे सद्गुण नहीं हैं। चौथे गुणस्थानसे पहले पहले भेदविज्ञानादि (सद्गुण) होते भी नहीं हैं।

चेतना तीन प्रकार है—

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
यथोपलक्षितो जीवः सार्थनामास्ति नान्यथा ॥ ९४२ ॥

अर्थ—यद्यपि चेतना एक है तथापि आगमके अनुसार उस चेतनाके तीन भेद हैं उन चेतनासे विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धारी कहलाता है। अन्यथा नहीं। भावार्थ—यद्यपि चेतना एक है तो भी कर्मके निमित्तसे उसके कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे तीन भेद हैं उनमें आदिकी दो चेतनायें मिथ्यात्वके साथ होनेवाली हैं, और तीसरी ज्ञान चेतना सम्यग्दर्शनके साथ होने वाली है। इन तीनों चेतनाओंका खुलासा वर्णन पहले आ चुका है।

आशङ्का—

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ ९४३ ॥

अर्थ—क्या सम्पूर्ण जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही हैं अथवा चैतन्यके साथ उसके और भी गुण होते हैं ? उत्तर—हां होते हैं उनमेंसे कुछ गुण नीचे बतलाये जाते हैं।

सभी पदार्थ अनन्त गुणवाले हैं—

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ ९४४ ॥

अर्थ—यह जीव यद्यपि अनन्तगुणोंका धारी है तथापि एक कहा जाता है। जि[illegible] भी पदार्थ समूह है सभी अनन्तगुणात्मक है। भावार्थ-जितने भी पदार्थ हैं सभी अन[illegible] गुणात्मक हैं। अनन्तगुणात्मक होनेपर भी वे एक एक कहे जाते हैं, एक कहे जानेमें का[illegible] भी एक सत्ता गुण है। भिन्न २ सत्ता गुणसे ही पदार्थोंमें भेद होता है। जीव द्र[illegible] भी अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है। भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले भिन्न भि[illegible] अनन्तगुणधारी जीव द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक द्रव्यमें गुणोंकी भेदविवक्षा[illegible] भेद होता है और अभेद विवक्षामें अभेद समझा जाता है। वास्तवमें गुण समूह ही द्रव्य है और वे सभी गुण परस्पर अभिन्न हैं। इसी लिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध है परन्तु नैयायिक दार्शनिक गुण गुणीमें सर्वथा भेद मानते हैं और उन दोनोंमें समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं, नैयायिक लोगोंका यह सिद्धान्त न्यायकी दृष्टिसे सर्वथा बाधि[त] है क्योंकि वे ही स्वयं ज्ञान और जीवका समवाय कहते हैं और समवाय सम्बन्ध उन[के] मतमें ही नित्य होता है फिर उन्हींके मतानुसार मुक्तात्माका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है। इ[स] लिये उनका सिद्धान्त उनके मतसे ही बाधित हो जाता है। इसी आशयको हृदयमें रख[कर] ग्रन्थकार परीक्षकोंको सूचना देते हैं—

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ९४५ ॥

अर्थ—जीव अनन्तगुणात्मक है इस विषयका विशेष परिज्ञान परीक्षकोंको कर लेना चाहिये, जो इस सिद्ध करना चाहते हैं उसे आगे युक्ति, स्वानुभव और आगम प्रमाणसे [illegible] परीक्षकोंको निर्णय कर लेना ही उचित है।

जीवके विशेष गुण—

तद्यथायं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥ ९४६ ॥

अर्थ—चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान, और सम्यक्त्व ये जीवके विशेष गुण हैं।

जीवके सामान्य गुण—

वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ ९४७ ॥

अर्थ—वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण हैं। [illegible]

हों अर्थात् भिन्न २ पदार्थोंके जुदे २ हों, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। विशेष गुण ही वस्तुओंमें परस्पर भेद करानेवाले हैं। जैसे जीवमें विशेषगुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि हैं। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि हैं। इन्हीं सामान्य और विशेष गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं।

सभी गुण स्वाभाविक हैं—

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृता स्वतः ॥ ९४८ ॥

अर्थ—जीवके सामान्यगुण अथवा विशेषगुण स्वभाव सिद्ध हैं। सभी गुण टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान निरन्तर रहते हैं और स्वयं सिद्ध अनादिनिधन हैं।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः ।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ९४९ ॥

अर्थ—तथापि उन गुणोंके विषयमें थोड़ासा विवेचन किया जाता है उसे सावधानीसे सुनना चाहिये। गुणोंका प्रवाह न्याय (युक्ति)के बलसे चला आरहा है उसे कौन रोक सकता है? भावार्थ-द्रव्यकी सहभावी पर्यायको गुण कहते हैं द्रव्यकी अनादि कालसे होनेवाली अनन्त कालतक सभी पर्यायोंमें गुण जाते हैं। गुणोंका नाश कभी नहीं हो सकता है, इसी लिये कहा गया है कि गुणोंका प्रवाह न्याय प्राप्त है उसे कौन रोक सकता है।

वैभाविकी शक्ति—

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥ ९५० ॥

अर्थ—उन्हीं जीवके अनन्त गुणोंमें एक स्वत सिद्ध वैभाविक नामा शक्ति है। वह शक्ति संसार अवस्थामें अपने कारणसे विकृत (विकारी) हो रही है। भावार्थ-वैभाविक भी एक आत्माका गुण है। उस गुणकी दो अवस्थायें होती हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थामें उसकी स्वभाविक अवस्था और आत्माकी अशुद्ध अवस्थामें उसकी वैभाविक अवस्था। अशुद्धताका कारण-राग द्वेषभाव हैं, उन्हीं भावोंके निमित्तसे उस वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है। तथा रागद्वेषके अभावमें उसका स्वभाव परिणमन होता है। आत्माकी संसारावस्थामें उसका विभावरूप परिणमन होता है और मुक्तावस्थामें स्वभाव परिणमन होता है। इसलिये स्वाभाविक और वैभाविक ऐसी दो अवस्थायें उसी एक वैभाविक नामा गुणकी हैं। कोई स्वाभाविक गुण पृथक् नहीं है।

दृष्टान्त—

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः ।
तथाप्यस्यास्त्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोऽपि सा ॥ ९५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें स्वभावसे ही स्वच्छता (निर्मलता) सिद्ध है। तथा सम्बन्ध होनेसे उसकी विकार अवस्था होजाती है। और वह विकार वास्तविक है। भावार्थ—मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेसे दर्पणका स्वरूप मुखमय होजाता है। वह उसकी विकारावस्था है और वह केवल कल्पना मात्र नहीं है किन्तु वास्तवमें कुछ वस्तु है। क्योंकि वह पुद्गलकी पर्याय है। दर्पणकी मुखमय पर्याय सामने ठहरे हुए मुखके निमित्तसे होती है उसी प्रकार जीवके रागद्वेष परिणामोंसे उस वैभाविक गुणकी विकारावस्था होरही है। ऐसी अवस्था इसकी अनादिकालसे है।

विकारावस्थामें पदार्थ सर्वथा अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है—

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५२ ॥

अर्थ—विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थ कहीं बदल नहीं जाता है। प्रकृतिमें जो विकृति होती है उसे ही उसका विकार कहते हैं। भावार्थ—पदार्थमें जो विकार होता है वह उसी पदार्थका विकार कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ ही बदल कर दूसरे पदार्थ रूप हो जाता हो। यदि ऐसा होता तो फिर उसे उसी पदार्थका विकार नहीं कहना चाहिये किन्तु पदार्थान्तर ही कहना चाहिये, इसलिये स्वभाव सिद्ध पदार्थमें जो विकृति होती है वह उसी पदार्थकी निमित्तान्तरसे होनेवाली अशुद्ध अवस्था है जिस निमित्तसे वह अशुद्धावस्था हुई है उस निमित्तके दूर होजाने पर वह पदार्थ भी अपने प्राकृतिक स्वरूपमें आ जाता है।

दृष्टान्त—

तथापि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नुः।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है वह अबुद्धि (पदार्थान्तर) नहीं होजाती है किन्तु बुद्धिमें ही कुछ दूसरी अवस्था हो जाती है। यह बुद्धिकी दूसरी अवस्था है वही उसकी वास्तविक विकृति है। भावार्थ-कुबुद्धि रूप परिणमनको ही बुद्धिकी विकृतावस्था कहते हैं।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५४ ॥

अर्थ—स्वाभाविक ज्ञान हो, अथवा वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही कहा जाता। क्योंकि ज्ञानपना दोनों ही अवस्थाओंमें है। परन्तु इतना विशेष है कि जितना भी इन्द्रियोंके आधीन होता है वह सब वैभाविक है।

विकृतावस्थामें जीवकी वास्तवमें हानि है—

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९६९॥

अर्थ—जीवकी विकृत अवस्थामें वास्तवमें हानि है। विकृत अवस्थासे जीवकी वास्तवमें कुछ हानि न हो ऐसा नहीं है। क्योंकि विकृतावस्थामें जीवको अत्यन्त दुःख होता है और इसका स्वाभाविक सुख गुण नष्ट हो जाता है। भावार्थ—जो लोग सर्वथा निश्चय पर आरूढ़ हैं वे ऐसा कहते हैं कि कर्मबन्धसे वास्तवमें आत्माकी कोई हानि नहीं है, आत्मा सदा शुद्ध है। ऐसा कहनेवाले व्यवहारनयको सर्वथा मिथ्या समझते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, कर्मबन्धसे ही जीव कष्ट भोग रहा है, अत्यन्त दुःखी हो रहा है, चारों गतियोंमें घूमता फिरता है, रागद्वेषसे मूर्छित हो रहा है, अल्पज्ञानी हो रहा है इत्यादि अवस्थायें इसकी प्रत्यक्ष दीख रही हैं इसी लिये आचार्यने इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि वास्तवमें भी इस जीवकी विकृतावस्थामें हानि हो रही है, केवल निश्चय नय पर आरूढ़ रहनेवालोंको नयोंके स्वरूपपर भी थोड़ा विचार अवश्य करना चाहिये। उन्हें सोचना चाहिये कि निश्चय नय और व्यवहार नय कहते किसे हैं? यथार्थमें नय नाम किसी अपेक्षासे पदार्थके निरूपण करनेका है। निश्चय नय आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण करता है, वह बतलाता है कि आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है, वह सदा शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनवाला है, वह चारों गतियोंके दुःखका भोक्ता नहीं है इत्यादि, यह सब कथन आत्माके असली स्वरूपके विचारकी अपेक्षासे है, अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप, कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थासे सर्वथा भिन्न है, बस इसी शुद्ध स्वरूपको प्रकट करना ही निश्चय नयका कार्य है। परन्तु वर्तमानमें जो कर्मकृत अवस्था हो रही है वह मिथ्या नहीं है किन्तु वह जीवकी शुद्ध अवस्था नहीं है इसी लिये नयकी दृष्टिसे यह जीवकी विकृतावस्था मिथ्या प्रतीत होती है। वास्तवमें यह जीवकी निज अवस्था नहीं है इसको व्यवहार नय बतलाता है इसीलिये उसे भी मिथ्या कह दिया जाता है। अन्यथा यदि विकृतावस्था कुछ वस्तु ही न हो, केवल कल्पना अथवा भ्रमात्मक बोध ही हो तो फिर यह शरीरका सम्बन्ध और पुण्य पापका फल तथा जीवका अच्छा बुरा कर्तव्य कुछ नहीं ठहरता है, इसलिये ये सब बातें यथार्थ हैं और विकृतावस्थासे जीव वास्तवमें दुःखी है और उसके सुख गुणकी हानि हो रही है × इसी बातको ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं—

× निश्चयनयपर ही चलनेवाले पूजन आदि शुभ कार्योंमें भी उदास हो जाते हैं यह उनकी भारी भूल है। उन्हें स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंकी इधिर ध्यान देना चाहिये कि जिन्होंने केवल आत्माको ध्येय बनाते हुए भी भक्तिमार्गको कहां तक अपनाया है।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टङ्कोत्कीर्णोस्ति प्राणभृत्।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ ९५६ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान शुद्ध है तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कोई संसारी जीव अपने सुखमें स्थित नहीं किन्तु उल्टा अत्यन्त दुःखी है।

अपने स्वरूपमें स्थित समझना भी भूल है—

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ ९५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मणि मिली हुई (कीचड़ आदिमें) अवस्थामें भी शुद्ध है भिन्न अवस्थामें भी शुद्ध है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी चाहे कर्मोंसे बँधा हुआ हो मुक्त हो सदा अपने स्वरूपमें स्थित है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये।

क्योंकि—

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् बाधितो बलात्।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—क्योंकि जीवको यदि सदा शुद्ध माना जाय तो यह मानना न्यायबलसे बाधित है। जीवको सदा शुद्ध माननेसे न तो संसार ही सिद्ध हो सकता है, और न मोक्ष ही सिद्ध हो सकती है। अथवा दोनोंमें अभेद ही सिद्ध होगा। भावार्थ—संसरणं संसारः परिभ्रमणका नाम ही संसार है, वह बिना अशुद्धताके हो नहीं सकता है। और संसारके अभावमें मुक्तिका होना भी असंभव है। क्योंकि मुक्ति संसार पूर्वक ही होती है। जो बंधा ही नहीं है वह मुक्त क्या होगा। इसलिये जीवको सदा शुद्ध माननेसे संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बनते अथवा दोनोंमें कोई भेद सिद्ध नहीं होता है। इसीको स्पष्ट करते हैं—

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात्।
इष्टाद्वा मन्यमानेस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥ ९५९ ॥

अर्थ—यदि मनुष्य सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे अर्थात् सदा शुद्ध ही बना रहे तो संसार किस नयसे हो सकता है? यदि संसारको इष्ट पूर्वक ही बिना किसी हेतुके शुद्ध माना जाय तो अनिष्टताका प्रसंग आता है। इसे ही दिखाते हैं—

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९६० ॥

अर्थ—यदि जीव सदा शुद्ध है तो फिर मोक्षका आदेश (निरूपण) व्यर्थ है। और

अर्थ—सूत्रोंके अर्थके विस्तारसे जीवके भाव असंख्यातलोक प्रमाण हैं। तथा भावोंकी जातियोंकी अपेक्षासे पांच भाव कहे गये हैं।

पांच भावोंके नाम—

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्यौदयिकोस्ति नुः॥ ९३६॥
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात्।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः॥ ९३७॥

अर्थ—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये मनुष्य (जीव) के पांच भाव क्रमसे कहे गये हैं। इनके त्रेपन उत्तरभेद भी कहे गये हैं। भावार्थ—ये पांच जीवके असाधारणभाव हैं। यद्यपि भेदकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण जीवके भाव हैं अथवा अनन्तभाव हैं परन्तु स्थूलरीतिसे इन्हीं पांचोंमें सब गर्भित होजाते हैं। जो जीवके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं वे भी इन पांच भावोंसे बाहर नहीं हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन पांच भावोंमें ही चौदह गुणस्थान बँटे हुए हैं।* जीवके गुणोंमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान गुण है, और उसके तीन भेदोंमेंसे पहले औपशमिक ही होता है इसलिये औपशमिक भावका पहले नाम लिया गया है। औपशमिककी अपेक्षासे क्षायिक भाववालोंका द्रव्य (जीव राशी) असंख्यात गुणा है इसलिये औपशमिकके पीछे क्षायिकका नाम लिया गया है। क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिकका द्रव्य असंख्यात गुणा है, तथा उपर्युक्त दोनों भावोंके मेलसे यह होता है इसलिये तीसरी संख्या क्षायोपशमिकके लिये कही गई है। उन तीनोंसे औदयिक पारिणामिक भावोंका द्रव्य अनन्त गुणित है इसलिये अन्तमें इन दोनोंका नाम लिया गया है। औपशमिक और क्षायिक भाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। मिश्र भाव भव्य और अभव्य दोनोंके होता है, परंतु इतना विशेष है कि भव्यके सम्यक्त्व और चारित्रकी अपेक्षासे भी होता है। अभव्यके केवल अज्ञानादिकी अपेक्षासे ही है। औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव सामान्य रीतिसे सभी संसारी जीवोंके होते हैं। औपशमिक भाव दो प्रकारका है, क्षायिक भाव नौ प्रकारका है, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका है, औदयिकभाव इकीस प्रकारका है, और पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। इसप्रकार ये जीवके त्रेपन भाव हैं इनका खुलासा ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे।

* जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं॥
औदयिकादिक यथासंभव भावोंमें जीव पाये जाते हैं इसलिये उन भावोंका नाम ही गुणस्थान है। ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है। गोमट्टसार।

औपशमिक भावका स्वरूप—

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६८ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंके पाकका स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंका भाव होता है उसका नाम औपशमिक भाव है । भावार्थ—कर्मोंके उपशम होनेसे जो जीवका भाव होता है उसीको औपशमिक भाव कहते हैं । " आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः । " अर्थात् आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे उदय नहीं होना इसीको उपशम कहते हैं । जैसे कीचसे मिले हुए (खर्वीले) जलमें फिटकरी आदि द्रव्य डालनेसे कीच जलके नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है । इसीप्रकार जिन कर्मोंका उपशम होता है वे उस कालमें उदयमें नहीं आते हैं इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जलकी तरह निर्मल होजाता है ।

क्षायिक भावका स्वरूप—

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥ ९६९ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । यह क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, और उसका स्वाभाविक भाव है । भावार्थ—कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायिक भाव कहते हैं । जैसे फिटकरी आदिके डालनेसे जिस समय कीचड़ नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है उस समय उस निर्मल जलको यदि दूसरे बर्तनमें ले लिया जाय तो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है फिर उसके मलिन होनेकी सम्भावना भी नहीं हो सकती है । क्योंकि मलिनता पैदा करनेवाला कीचड़ था वह सर्वथा दूर गया है इसी प्रकार क्षायिक भाव आत्मासे कर्मके सर्वथा दूर जाने पर होता है । वह सदा शुद्ध रहता है, फिर वह कभी अशुद्ध नहीं हो सकता ।

क्षायोपशमिक भावका स्वरूप—

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥ ९७० ॥

अर्थ—सर्वघाति स्पर्धकोंका अनुदय होने पर और देशघाति स्पर्धकोंका उदय होने पर जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । भावार्थ—क्षायोपशमिक भावमें क्षय और उपशमकी मिश्रित अवस्था रहती है । जैसे मलिन जलमें कुछ फिटकरीके

डालनेसे कुछ तो निर्मल जल रहता है कुछ गदला रहता है, दोनोंकी मिली हुई अवस्था रहती है। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव भी दोनोंकी मिश्रित अवस्था है। सर्वार्थसिद्धिमें मिश्रका ऐसा लक्षण किया है—"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति", अर्थात् जो कर्म सर्वथा गुणका घात करनेवाले हैं उनका (सर्वघातिस्पर्धकोंका) उदयक्षय* होनेसे और उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकोंका सत्तामें उपशम होनेसे तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। यहांपर यह शंका हो सक्ती है कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र आदि भाव हैं, क्या आत्मीक भावोंमें भी कर्मका उदय कारण पड़ता है? यदि पड़ता है तब वे आत्मीक भाव ही नहीं रहे, उन्हें कर्मकृत पर भाव कहना चाहिये। यदि कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है तो फिर देशघाति स्पर्धकोंका उदय मिश्र भावमें कारण क्यों बतलाया गया है? इसका उत्तर यह है कि आत्मीक भावके प्रकट होनेमें कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है, जितने अंशमें कर्मोदय है उतने अंशमें तो उस गुणका घात हो रहा है इसलिये कर्मोदय तो आत्मीक भावोंके घातका ही कारण है, यहांपर भी यही बतलाया है कि जिस समय मिश्र भाव होता है उस समय देशघाती कर्मका उदय रहता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि देशघाती कर्मका उदय मिश्रभावका कारण है। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्दर्शनमें चलता, मलिनता, अगाढ़ता आदि दोष उत्पन्न करती ही है। इसलिये कर्मोदय सदा ही आत्मगुणोंका घातक है।

औदयिक भावका स्वरूप—

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ ।
नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ ९७१ ॥

अर्थ—संसारी जीवके कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है वही औदयिक नामसे कहा जाता है और वही यथार्थ नामधारी है, तथा कर्मबन्ध करनेका वही अधिकारी है। भावार्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंकी जो फलदान विपाक अवस्था है उसीको उदय कहते हैं, कर्मोंके उदयसे जो आत्माका भाव होता है उसीको औदयिक भाव कहते हैं, यही भाव आत्माके गुणोंका घातक, दुःखदायक तथा कर्मबन्धका मूल कारण है।

पारिणामिक भावका स्वरूप—

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९७२ ॥

* [illegible]

अर्थ—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे सर्वथा निरपेक्ष जो आत्माका स्वाभाविक भाव है उसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं। भावार्थ-द्रव्यके निज स्वरूपको पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भावमें कर्मोंकी सर्वथा अपेक्षा नहीं है, किन्तु आत्म द्रव्य मात्र है।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ ९७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार उन भावोंका लेशमात्र लक्षण भिन्न २ कहा गया। अब उनमेंसे प्रत्येक भावका स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जाता है।

औदयिक भावके भेद—

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशतिः ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ ९७४ ॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकम्वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥ ९७५ ॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ ९७६ ॥

अर्थ—सूत्रोंके आशयसे औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—गति ४, कषाय ४, लिङ्ग ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयतत्व १, असिद्ध १, कृष्णादि लेश्या ६ ये क्रमसे इक्कीस भाव हैं, इनका स्वरूप अब कहते हैं, वह न तो अधिक संक्षेप ही होगा और न अधिक विस्तृत ही होगा।

गति-कर्म—

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥ ९७७ ॥

अर्थ—नाम कर्मके भेदोंमें प्रसिद्ध एक गति नामा कर्म भी है। गतियां चार हैं इसलिये वह गति कर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है।

गतिकर्मका विपाक—

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मकः ॥ ९७८ ॥

अर्थ—इस गतिकर्मके विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश देव, मनुष्य तिर्यंच, नरक इन चार गतियोंमेंसे किसी एकको प्राप्त होकर उसके उचित भावोंको करता

है। अर्थात् जिस गतिमें पहुंचना है वहांकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सामग्रीके अनुसार अपने भावोंको बनाता है।

दृष्टान्त—

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ ९७९ ॥

अर्थ--जिस प्रकार तिर्यञ्च अवस्थामें जो उसके योग्य भावसन्तति है वह उस पर्यायके अनुसार वहां अवश्य होती है, तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव सन्तति है वह वहीं पर होती है अन्यत्र नहीं होती।

इसी प्रकार—

एवं देवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ ९८० ॥

अर्थ—इसी प्रकार देवगति, मनुष्यगति, नरकगतिमें भी अपनी २ गतिके योग्य भाव होते हैं। वे ऐसे ही होते हैं जैसे असाधारण हों। भावार्थ-जिस पर्यायमें भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसे वहां द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यता मिलती है, और उसी सामग्रीके अनुसार उस जीवके भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके वहांकी सुखमय सामग्रीके अनुसार शान्तिपूर्वक सुखानुभव करनेके ही भाव पैदा होते हैं। कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके असि मस्यादि कारण सामग्रीके अनुसार कर्म (क्रिया) पूर्वक जीवन वितानेके भाव पैदा होते हैं। तथा जिस प्रकारका क्षेत्र मिलता है उसी प्रकारकी शरीर रचना आदि योग्यता भी मिलती है। इसलिये भावोंके सुधार और बिगाड़में निमित्त कारण ही प्रमुख है।

शङ्काकार—

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ ९८१ ॥

अर्थ—देवादिक गतिया केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं। जब ऐसा सिद्धान्त है तब क्या कारण है कि नाम (देवादिगतियां) कर्म घातिया कर्मोंके समान जीवके भावोंका हेतु समझा जाय? भावार्थ-ऊपर कहा गया है कि जैसी गति इस जीवको मिलती है उसीके अनुसार इसके भावोंकी सृष्टि भी बनती है। इसी विषयमें शङ्काकारका कहना है कि भावोंके परिवर्तनका कारण तो घातिया कर्म ही हो सकते हैं, नाम कर्म तो अघातिया है उसमें भावोंके परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य कहासे आई?

उत्तर—

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८२ ॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म भी नियमसे शरीरादिकी रचना करता है, साथ ही वहां पर मोहनीय कर्मका निरन्तर उदय रहता है, इसी लिये उस देह क्रियाके आकार औदयिक भाव होता है। भावार्थ—यद्यपि नामकर्मका कार्य शरीरादिकी रचना मात्र है वह भावोंके परिवर्तनका कारण नहीं हो सक्ता है, यह ठीक है। तथापि उस नाम कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका उदय भी बराबर रहता है इस लिये उस पर्यायमें औदयिक भाव अपना कार्य करता है। यदि मोहनीय कर्मका उदय नाम कर्मके साथ न हो तो वास्तवमें वह पर्याय जीवके भावोंमें सङ्क्लेश नहीं कर सक्ती है, अरहन्त परमेष्ठीके नाम कर्मका उदय तो है परन्तु मोहनीय कर्म उनके नहीं है इसलिये स्वाभाविक भावोंमें परिवर्तन नहीं होता है। अतः मोहनीय कर्मका अविनाभाव ही वास्तवमें कार्यकारी है।

शङ्काकार—

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८४ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका उदय अनर्गल रीतिसे अपने ही अधीन है। वह फिर भिन्न भिन्न शरीरोंकी क्रियाओंके आकार किस नयसे नियत है ? अर्थात् भिन्न २ शरीरानुसार मोहनीय कर्म क्यों फल देता है ?

उत्तर—

नैवं यतोनभिज्ञोसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाऽबुद्धिपूर्वं स्वलक्षणात् ॥ ९८५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि मोहनीय कर्मका उदय वैभव कितना बड़ा हुआ है, और वह अपने लक्षणके अनुसार बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक आदि भेदोंमें बँटा हुआ है इस विषयमें तुम सर्वथा अजान हो। भावार्थ-मोहनीय कर्मका बहुत बड़ा विस्तार है, वह कहां २ किस २ रूपमें उदयमें आरहा है इसके समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मोहनीय कर्मके भेद—

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८६ ॥

अर्थ—मूर्छित करनेसे सामान्य रीतिसे मोहकर्म एक प्रकार है। और वही दर्शन मोह और चारित्रमोहकी अपेक्षासे वास्तवमें दो प्रकार भी है। भावार्थ—अन्य कर्मोंकी अपेक्षा मोहकर्ममें बहुत विशेषता है, अन्यकर्म अपने प्रतिपक्षी गुणमें न्यूनता करते हैं उसे सर्वथा भी ढक लेते हैं परन्तु अपने प्रतिपक्षी गुणको मूर्छित नहीं करते हैं, जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको ढकता है परन्तु ज्ञानगुणको अज्ञानरूप नहीं करता है, इसी प्रकार अन्तराय कर्म वीर्यगुणको ढकता है परन्तु उसे उल्टे रूपमें नहीं लाता है। उल्टे रूपमें लानेकी विशेषता इसी मोहनीय कर्ममें है, मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षीको सर्वथा विपरीत स्वादु बना डालता है। इसीलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहनेवाला—मूर्छित करनेवाला है। सामान्य रीतिसे वह एक है, और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे उसके दो भेद हैं। इसी मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्ररूप परिणत होजाता है। इसीके निमित्तसे जीव अनन्त संसारमें भ्रमण करता फिरता है।

दर्शन मोहनीयके भेद—

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८७ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म भी सामान्य रीतिसे मिथ्यात्वरूप एक प्रकार है, विशेष रीतिसे मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, भेदोंसे तीन प्रकार है, और अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद प्रथम कषायके है। इस प्रकार ये सात भेद दर्शनमोहनीयके हैं। भावार्थ—मूलमें दर्शनमोहनीयका एक ही भेद है—मिथ्यात्व। पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर उस मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते हैं। एक सम्यक्त्व प्रकृति, दूसरा-सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरा मिथ्यात्वप्रकृति, ये तीन टुकड़े ऐसे ही होते हैं जैसे धान्यको पीसनेसे उसके तीन टुकड़े होते हैं, एक तो छिलकारूप, दूसरा सूक्ष्म कणरूप तीसरा मध्यमका सारभूत अंश—मिगीरूप। जिस प्रकार छिलकेमें पुष्ट करनेकी शक्ति नहीं है, उसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी पूर्ण शक्ति नहीं है फिर भी उसमें चलता, मलिनता आदि दोष उत्पन्न करनेकी अवश्य थोड़ीसी शक्ति है। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेपर सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता है किन्तु उस समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार सूक्ष्म धान्यकणमें पुष्ट करनेकी शक्ति है उसी

प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी* शक्ति है, सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शनका घात होकर तीसरा गुणस्थान इस जीवके हो जाता है। जिस प्रकार धान्यका बीजका अंश पूर्ण पुष्टता उत्पादक है उसी प्रकार मिथ्यात्वप्रकृति भी पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी घातक है। इस प्रकृतिके उदयमें जीवके पहला गुणस्थान रहता है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति एकरूप होनेपर भी तीन भेदोंमें बंट जाती है इसलिये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं। यद्यपि अनन्तानुबन्धि कषाय चारित्र मोहनीयके भेदोंमें परिगणित है तथापि इस कषायमें द्विघातिया होनेसे इस दर्शन मोहनीयके भेदोंमें भी गिनाया गया है। अनन्तानुबन्धि कषायमें स्वरूपाचरण चारित्रको घात करनेकी भी शक्ति है और सम्यग्दर्शनको घात करनेकी भी शक्ति है। क्योंकि अनन्तानुबन्धि कषायकी किसी अन्यतम प्रकृतिका उदय होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन गुणका घात होकर दूसरा गुणस्थान—सासादन हो जाता है। इसीलिये इसको दर्शन मोहनीयमें भी परिगणित किया गया है। इस प्रकार ऊपर कही हुई सात प्रकृतियां दर्शन मोहनीयकी हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मका फल—

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोऽस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥ ९८८ ॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥ ९८९ ॥

अर्थ—इस जीवके दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्याभाव [illegible] होता है। वह मिथ्याभाव ही औदयिक भाव है और वही सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है। [illegible]

* यद्यपि यह प्रकृति सम्यग्दर्शनको पूर्ण घातक है [illegible] परिणाम नहीं होते हैं, किन्तु मिश्रित परिणाम होते हैं, [illegible] की प्रकृति बतलाया गया है।

[illegible]

[illegible]

आत्मासे कठिनतासे दूर होता है। जीवके शुद्ध सम्यग्दर्शन गुणको विपरीत स्वादु कर देना इस दर्शन मोहनीय कर्मका स्वभाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन गुणको मिथ्यादर्शन रूप करदेना दर्शन मोहनीय कर्मका कार्य है।

दृष्टान्त—

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति ।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९९० ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेवाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़नेपर भ्रष्ट होजाती है। वह पुरुष शंखादि सफेद पदार्थोंको भी विभ्रमसे पीलेही देखता है—समझता है।

दार्ष्टान्त—

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणोस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कुदृक् ॥ ९९१ ॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष इस संसारमें जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन्हें भी अपने (आत्माके) मानता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि भिन्न पदार्थोंमें आत्मीयत्व बुद्धि करता है।

यथापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ ९९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यग्दर्शन गुणका लोप कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका उदय भी आत्माके ज्ञान गुणको ढक देता है। भावार्थ—यहांपर लुम्पति, क्रियाके दो आशय हैं (१) दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका लोप करता है उसे छिपा देता है किन्तु उसका नाश नहीं करता है, क्योंकि नाश किसी गुणका होता ही नहीं है (२) लोप करता है, सम्यक्त्वको सर्वथा छिपा देता है अर्थात् उसे विरूप बना देता है, उस रूपमें उसे नहीं रहने देता है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको रोकता है विकृत नहीं करता, इसी लिये निरुणद्धि क्रिया दी है।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ ९९३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका नाश होजाता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे दर्शनका नाश होजाता है। भावार्थ—यहां पर ज्ञान और [illegible] उदयसे [illegible] नष्ट होनेका आशय नहीं है किन्तु उन गुणोंके ढक जानेसे [illegible] [illegible] किसी गुणका नाश होता है और न किसी गुणका [illegible] [illegible]
[illegible]

यथा धाराधराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥ १०९४ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे सूर्यका प्रकाश सदा सूर्यके साथ है उसका कभी अभाव नहीं हो सक्ता है तथापि मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश छिप अवश्य जाता है। भावार्थ-उसी प्रकार ज्ञानादि गुण सदा आत्माके साथ हैं अथवा आत्मस्वरूप हैं उनका कभी नाश नहीं हो सक्ता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे वे ढक अवश्य जाते हैं।

अज्ञान औदयिक नहीं है—

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ १०९५ ॥

अर्थ—जो ज्ञान ही रूढिवश अज्ञान कहा जाता है वह औदयिक नहीं है किन्तु निश्चयसे क्षायोपशमिक है। भावार्थ—यहांपर अज्ञानसे तात्पर्य मन्दज्ञानसे है। प्रायः मन्दज्ञानीको अज्ञानी अथवा मन्द ज्ञानको अज्ञान कह दिया जाता है, वह अज्ञान औदयिक भाव नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है तथा मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है वह भी क्षायोपशमिक ही है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें गिनाया गया है वह कर्मके उदयकी अपेक्षासे है।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेत्तुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥ १०९६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मोंमें एक केवल ज्ञानावरण कर्म भी है, वह [illegible] कर्म आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञान गुणको ढक लेता है। आवरण [illegible] ज्ञान मूर्छित पुरुषकी तरह अपने स्वरूप और अनिश्चित पदार्थोंके [illegible] नहीं रहता है।

अथवा—

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्यान्मनःपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् [illegible]

अर्थ—अथवा अवधिज्ञान वा मनःपर्ययज्ञान [illegible] आवृत होते हैं अर्थात् ढक जाते हैं तब अर्थक्रिया [illegible] समर्थ नहीं रहते हैं।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदा [illegible]
यथावतोदयांशेन [illegible]

अर्थ— इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने २ आवरणसे आच्छ होते हैं, और उनके आवरक कर्मका जितने अंशोंमें उदय रहता है उतने ही अंशोंमें भी तिरोभूत (ढका हुआ) रहता है।

क्षायिक भाव—

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्यावरणक्षयात् ॥ ९९९ ॥

अर्थ—जो केवलज्ञान है वह प्रकटरीतिसे सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है वह सम्पूर्ण आवरणोंके क्षय होनेसे होता है इसलिये वही क्षायिक भाव है।

कर्मोंके भेद प्रभेद—

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ १००० ॥

अर्थ—कर्मोंके मूल भेद आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एकसौ अड़ता हैं। भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र अन्तराय ये आठ मूल भेद कर्मोंके प्रसिद्ध हैं। उत्तर भेद १४८ इस प्रकार हैं-ज्ञाना के ५ भेद, दर्शनावरणके ९ भेद, वेदनीयके २ भेद, मोहनीयके २८ भेद, आयुके ४ नामके ९३ भेद, गोत्रके २ भेद, और अन्तरायके ५ भेद।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ॥
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ १००१ ॥

अर्थ—ये ही कर्म उत्तरोत्तर भेदोंसे असंख्यात लोक प्रमाण हैं, और सर्व कर्म स शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी हैं।

घातिया कर्म—

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ १००२ ॥

अर्थ—उन मूल कर्मोंमें चार घातिया कर्म हैं, और घातिया संज्ञा उनके अर्थानुकूल ही है, क्योंकि जीवके गुणोंका ये कर्म घात करनेवाले हैं ऐसा सिद्धान्त है

अघातिया कर्म—

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया ।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥ १००३ ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंसे बचे हुए बाकीके चार कर्म अघातिया कहलाते हैं। ये

अर्थ—ज्ञान, दर्शनके समान आत्माका सम्यग्दर्शन गुण भी है, और उस सम्यग्दर्शन गुणको मूर्छित करनेवाला कर्म भी दर्शनमोहनीय कहलाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्भावी नहीं है—

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीनि न क्वचित्।
तदुद्दयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००७॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके समान यह कर्म भी कहींपर अन्तर्भूत नहीं हो सक्ता है क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणसे यह सर्वथा जुदा है इसलिये तीसरा ही कर्म इसे मानना चाहिये।

सारांश—

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः॥ १००८॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार जीवका एक स्वतःसिद्ध ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीवका स्वतःसिद्ध एक सम्यग्दर्शन भी गुण है।

अतएव—

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम्।
पृथग्दङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका भिन्न स्वरूप है, भिन्न ही लक्ष्य है, भिन्न ही लक्षण और भिन्न ही दर्शनमोहनीय कर्म है फिर किस नयसे इस कर्मका कहीं पर अन्तर्भाव (गर्भितपना) हो सक्ता है? अर्थात् कहीं पर नहीं हो सक्ता।

चारित्र मोहनीय—

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोस्त्येकः प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम्॥ १०१०॥

अर्थ—इसी प्रकार जीवका एक प्रमाणसिद्ध गुण चारित्र भी है, उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उसीको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

अन्तराय—

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्त्येकस्तदादिवत्
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०११ ॥

अर्थ—पहले गुणोंके समान जीवका एक वीर्य नामक भी गुण है, उस वीर्य गुणमें जो अन्तर डालता है उसे ही अन्तराय कर्म कहते हैं। भावार्थ—आत्माकी वीर्य शक्तिको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है।

सारांश—

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणाश्रितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १०१२ ॥

अर्थ—यहांपर इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार आत्माका ज्ञान गुण है उसी प्रकार अनन्त गुण हैं । ये सभी गुण युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध हैं । भावार्थ—यहांपर अन्यान्य अनन्तगुणोंकी सिद्धिमें ज्ञान गुणका दृष्टान्त दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्माके अनन्तगुणोंमें एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो कि स्पष्टतासे प्रतीत होता है, अन्यान्य गुणोंका विवेचन भी इसी ज्ञान गुणके द्वारा किया जाता है । सभी [illegible] है [illegible] । [illegible] तो वस्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते" अर्थात् ज्ञानके बिना सभी गुण सत्तामात्र हैं, चाहे सामान्य गुण हों चाहे विशेष गुण हों सभी निर्विकल्पक हैं, निर्विकल्पक वस्तु कही नहीं जा सकती है इसलिये ज्ञानके द्वारा उनका निरूपण किया जाता है । इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि सब गुणोंसे ज्ञान गुणमें विशेषता है और यह बात हरएकके अनुभवमें भी आजाती है कि ज्ञान गुण ही प्रधान है इसीलिये ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर इतर गुणोंका उल्लेख किया गया है ।

एक गुण दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं है—

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १०१३ ॥

अर्थ—कोई भी गुण कभी किसी दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं हो सकता है अर्थात् दूसरे गुणमें मिल नहीं जाता है, और न एक गुण दूसरे गुणका आधार ही है और न आधेय ही है, न हेतु ही है और न हेतुमान् (साध्य) ही है ।

किन्तु—

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीयः स्वात्मीयः शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१४ ॥

अर्थ—किन्तु सभी गुण अपनी अपनी भिन्न २ शक्तिके धारण करनेसे भिन्न भिन्न अनेक हैं, और वे सब परस्पर पदार्थके साथ तादात्म्य रूपसे मिले हुए हैं । भावार्थ—दोनों श्लोकोंमें गुणोंको भिन्न २ बतलाते हुए भी पदार्थके साथ उनका [illegible] है, इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुमें [illegible] और गुण भिन्न २ [illegible] ।

पदार्थ है सो ही गुण है और जो गुण हैं सो ही पदार्थ हैं अर्थात् गुणोंका समूह ही पदार्थ है और एक पदार्थमें रहनेवाले अनन्तगुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये सभी गुण परस्परमें अभिन्न हैं, और अभिन्नताके कारण ही एक गुणके ग्रहणमें सभी अनन्तगुणोंका ग्रहण हो जाता है, जीवको ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका ही ग्रहण होता है, परन्तु एकर गुणका भिन्नर कार्य है, भिन्नर कार्य होनेसे उन गुणोंके भिन्न- लक्षण किये जाते हैं, इस प्रकार भिन्न- लक्षणोंवाली भिन्न- अनन्त शक्तियां जलमें जलतरंगोंकी तरह कभी उदित कभी अनुदित होती रहती हैं । सारांश यह है कि द्रव्यसे भिन्न गुणोंकी विवक्षा करनेसे (भेद विवक्षा करनेसे) सभी गुण भिन्न हैं, उनमें परस्पर आधार–आधेय भाव, हेतु हेतुमद्भाव आदि कुछ भी उस समय नहीं है तथा अभेद विवक्षा करनेसे वे सभी गुण अभिन्न हैं। जो एक गुणका आधार है वही इतर सब गुणोंका आधार है, जो एक गुणकी सत्ता है व इतर सब गुणोंकी सत्ता है, जो एक गुणका काल है वही सब गुणोंका काल है आ सभी बातें सबोंकी एक ही है । इसी बातको 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र प्रक करता है । अर्थात् जो द्रव्यके आश्रयसे रहें और निर्गुण हों उन्हें गुण कहते हैं, यहां आचार्यने दोनों बातोंको बतला दिया है, 'द्रव्याश्रया' कहनेसे तो गुण और द्रव्यमें अभे बतलाया है, + जिस समय किसी एक गुणका विवेचन किया जाता है तो उस समय बाकीका गुण समुदाय (द्रव्य) उसका आश्रय पड़ जाता है, इसी प्रकार चालिनी न्यायसे सभी गुण सभी गुणोंके आधारभूत हो जाते हैं क्योंकि गुण समुदायको छोड़कर और कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है और निर्गुणा कहनेसे गुणोंमें परस्पर भेद बतलाया है। एक गुणकी विवक्षासे वही उसका आधार है वही उसका आधेय है। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रहता है इसलिये गुण परस्परमें कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं। लक्षण भेदादिकी अपेक्षासे भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा अभिन्न हैं हरएक पदार्थकी सिद्धि अनेकान्तके अधीन है, अपेक्षा पर दृष्टि न रखनेसे सभी कथन अव्यवस्थित प्रतीत होता है। इसी बातको पूर्वार्द्धमें स्पष्ट किया गया है "तन्नयतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्त'। सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् " अर्थात् अनेकान्त ही बलवान है सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है, अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हो जाता है और उसके विना सभी विरुद्ध हो जाता है ।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात् ।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभिः ॥ १०१५ ॥

+ 'द्रव्याश्रयाः' का यह भी आशय है कि द्रव्यके आश्रयसे गुण अनादि अनन्तकाल रहते हैं।

अर्थ— गुण अनन्त हैं, सब कहे नहीं जा सके है। उनमेंसे कुछ अधिक भी यदि कहे जायें तो भी वचन गौरव होता है इसलिये पूर्वाचार्योंने उनमेंसे प्रसिद्ध कुछ गुणोंका कथन किया है।

परतुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम्॥ १०१६॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः॥
स्याद्यथालक्षितार्द्धावात्स्या स्वाप्यपरा गतिः॥ १०१७॥

अर्थ—जो कहीं किसीके अवधिज्ञान होता है वह भी अनेक प्रकार है, इसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी अनेक प्रकार है, इन दोनोंको समान ही समझना चाहिये। दोनोंही अपने २ आवरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे होते हैं और कभी २ यथायोग्य भावोंके अनुसार उनकी दूसरी भी गति होती है। भावार्थ-अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारकियोंके भव प्रत्यय भी अवधिज्ञान होता है भवप्रत्ययसे होनेवाला अवधिज्ञान तीर्थंकरके भी होता है, अपवाद नियमसे तीर्थंकरका ग्रहण होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिमें भी क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है तथापि बाह्य कारणकी प्रधानतासे भव प्रत्यय ही मुख्य कारण कहा गया है। देव नारक और तीर्थंकर पर्यायमें नियमसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये भवकी प्रधानतासे भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ऐसे अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं। और भी अनेक भेद हैं। अवधिज्ञान भवसे भवान्तर और क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई नहीं जाता है उसे अननुगामी कहते हैं, कोई अवधिज्ञान विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धिसे बढ़ता है और बाल सूर्यके समान बढ़ता ही चला जाता है उसे वर्धमान कहते हैं, कोई संक्लेश परिणामोंके निमित्तसे घटता ही चला जाता है उसे हीयमान कहते हैं, कोई समान परिणामोंसे ज्योंका त्यों बना रहता है उसे अवस्थित कहते हैं, और कोई अवधिज्ञान कभी विशुद्ध परिणामोंसे बढ़ता है, कभी संक्लेश परिणामोंसे घटता भी है उसे अनवस्थित कहते हैं। कर्मके क्षयोपशमके भेदसे अवधिज्ञान के भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। देशावधिके भी अनेक भेद हैं, इसी प्रकार परमावधि और सर्वावधिके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि परमावधि और सर्वावधि ये दो ज्ञान चरम शरीरी मुनिके ही होते हैं। छठे गुणस्थानसे नीचे नहीं होते हैं। सर्वावधिज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा तीनों लोकोंको विषय करता है, द्रव्यकी अपेक्षा एक पुद्गल परमाणु तक विषय करता है * इस प्रकार अवधिज्ञानका बहुत बड़ा

* यह कथन गोम्मटसारकी अपेक्षासे है।

विस्तार है। कभी मिथ्यात्वोदयके साथ होनेसे कु-अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) भी हो जाता है यह भी "अपरागति" का आशय है। अवधिज्ञानके समान मन पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि चाहे ऋजुमती मन पर्यय ज्ञान हो, चाहे विपुलमती हो, छठे गुणस्थानसे नीचे होता ही नहीं है। विपुलमती मनःपर्यय तो एकबार होकर छूटता भी नहीं है, वह चरम शरीरीके होता हुआ भी अप्रतिपाती है अर्थात् फिर गिरता नहीं, जिससे बारहवें गुणस्थान तक जाता है। हां ऋजुमतीवाला गिर भी जाता है। बहुतसे मनुष्य ऐसी शंका करते हैं कि ऋजुमती मनःपर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है और ईहा मतिज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञान है इसलिये यह भी इन्द्रियजन्य हुआ। ऐसी शंका करनेवालोंको यह जान लेना चाहिये कि ईहा मतिज्ञान वहां पर केवल बाहरमें आपेक्षिक है, वास्तवमें ऋजुमती मनःपर्यय तो मनमें ठहरी हुई बातका साक्षात्कार करता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं कराता है। मन.पर्यय ज्ञानमें तो पदार्थका आत्म प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उक्त शंका निर्मूल है। मन.पर्यय ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा ढाई द्वीप तक ही जान सक्ता है आगे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थके अनन्तवें भाग जान सक्ता है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके भेदोंकी अपेक्षासे मन.पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, परन्तु अवधिज्ञानकी तरह इसमें मिथ्यापन नहीं आता है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥ १०१८ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों तो इस जीवके संसारावस्थामें सदा ही रहते हैं, इतना विशेष है कि जैसा निमित्त कारण मिल जाता है वैसे ही इन ज्ञानोंमें भी तरतम भाव होता रहता है।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत ॥ १०१९ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला जितना भी ज्ञान है वह सब क्षायोपशमिक ज्ञान है, औदयिक नहीं है।

सु-अवधि और कु-अवधि—

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२० ॥

अर्थ—किसी कारणवश अवधिज्ञानके दो भेद हो जाते हैं। सम्यक् अवधिको ज्ञान कहते हैं तथा मिथ्या अवधिको अज्ञान कहते हैं। भावार्थ—ज्ञानसे तात्पर्य सम्यग्ज्ञानसे

है। जो ज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होता है उसे ही मिथ्या अवधि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले अवधिज्ञानको सम्यक् अवधि कहते हैं। प्रायः अवधिज्ञान कहनेसे सम्यक् अवधिका ही ग्रहण किया जाता है। मिथ्या अवधिको विभङ्गज्ञान, शब्दसे उच्चारण किया जाता है।

मति श्रुत भी दो प्रकार हैं—

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

अर्थ—मतिज्ञान भी दो प्रकार है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार है, एक ज्ञान एक अज्ञान। सम्यग्ज्ञानको ज्ञान कहते हैं, और मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहते हैं।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः । *
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥ १०२२ ॥

अर्थ—इन तीनों ज्ञानोंमें अर्थात् कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमें जो अज्ञान है वह वास्तवमें क्षायोपशमिक ज्ञान है वह अज्ञान कहीं औदयिक नहीं है। भावार्थ–मिथ्याज्ञान भी अपने अपने आवरणोंके क्षयोपशमसे ही होते हैं इसलिये वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं, वे मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होते हैं इसीलिये मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। मिथ्यात्वके उदयसे उसके अविनाभावी ज्ञान भी पदार्थको विपरीत रूपसे ही जानते हैं। परन्तु जानना क्षायोपशमिक भाव है।

औदयिक ज्ञान—

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १०२३ ॥

अर्थ—जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें कहा गया है वह शून्यतारूप है, जैसे कि चेतनके निकल जानेपर शरीर रह जाता है। भावार्थ–जीवके इकीस औदयिक भावोंमें अज्ञान भी है। यह अज्ञानभाव जीवकी औदयिक अवस्था है। जब तक इस आत्मामें सर्व पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है अर्थात् जबतक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उसके अज्ञान भाव रहता है। यह भाव ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है। पदार्थ [illegible] ही उसका स्वरूप है। अर्थात् जितने अंशोंमें ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है उतने [illegible] अंशोंमें अज्ञान भाव रहता है, जैसे अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण [illegible] यद्यपि सब जीवोंके उदय हो रहा है इसलिये वे सब अज्ञान [illegible] है। यह अज्ञान क्षायोपशमिक नहीं है, [illegible]

* [illegible] पुस्तकमें "[illegible]" ऐसा पाठ है। [illegible] रखा है।

होता तो औदयिक भावोंमें नहीं गिनाया जाता, इसका कारण भी यही है कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी आत्माका गुण है, जितने अंशोंमें भी ज्ञान प्रकट होजाता है वह आत्माका गुण है, और जो आत्माका गुण है वह औदयिकभाव हो नहीं सकता, क्योंकि उदय तो कर्मका ही होता है, कहीं आत्माके गुणोंका उदय नहीं होता है। इसलिये कर्मोंके उदयसे होनेवाली आत्माकी अज्ञान अवस्थाको ही अज्ञानभाव कहते हैं वही अज्ञान औदयिक है। जो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसलिये ही कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको क्षायोपशमिक भावोंमें शामिल किया गया है।

सारांश—

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥ १०५४ ॥

अर्थ—इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हुई कि जो भाव दर्शन मोहनीयके उदयसे होता है और जो भाव चारित्र मोहनीयके उदयसे होता है वह सभी औदयिक है।

तथा—

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम्।
यावांस्तत्रोदयाज्जातो भावोऽस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥ १०५५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार और भी मोहको आदि लेकर जितने घातिया कर्म हैं उन सबके उदयसे जो आत्माका भाव होता है वह सब भी न्यायानुसार औदयिक भाव है।

किंतु—

तथाप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रादितो यथा।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः ॥ १०५६ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनमें इतना समझ लेना और अच्छा है कि घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्मके उदयसे जो भाव होता है वही वैकृत (वैभाविक) भाव है। बाकी सभी कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है वह लौकिक है। भावार्थ—आत्मामें जो भाव मोहनीय कर्मके उदयसे होता है वही विकार है। वही भाव आत्माकी अशुद्धताका कारण है, उसीसे आत्मा कर्मोंका बन्ध करता है और उसीके निमित्तसे वह आत्मा अशुद्धताको धारण करता हुआ अनन्त संसारमें भ्रमण करता रहता है, बाकीके कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको ढकने मात्र हैं। वे न तो बन्धके कारण हैं और न उन गुणोंकी अशुद्धता ही करते हैं।

न [illegible] कर्मणो [illegible]।
चारित्रस्य [illegible] ॥ १०५७ ॥

अर्थ—यह विकल-मोहरूप भाव दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। इन दोनों कर्मोंका उदय बराबर अनादि सन्तति रूपसे संसारी जीवोंके हो रहा है। इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो विकारावस्था हो रही है उसे ही मोहरूप औदयिक भाव कहते हैं।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति ।
तत्त्वस्याप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १०२८ ॥

अर्थ—सूत्रानुसार उस दर्शनमोहनीयके विषयमें ऐसा उल्लेख (कथन) है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर जीवोंको तत्त्वकी प्रतीति (श्रद्धान) नहीं होती है अथवा मिथ्या प्रतीति होती है। भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर इस जीवकी विपरीत ही बुद्धि हो जाती है। उसे उपदेश भी दिया जाय तो भी ठीक पदार्थोंको वह ग्रहण नहीं करता है, यदि करे भी तो उल्टे रूपसे ही ग्रहण करता है। मिथ्यात्वका ऐसा ही माहात्म्य है*।

खुलासा—

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥ १०२९ ॥

अर्थ—अर्थात् सम्यग्दर्शनके विपरीत आत्मा हो जानेसे आत्माके प्रदेशोंमें कलुषता आ जाती है और वह कलुषता आत्माका मिथ्यात्वरूप परिणाम विशेष है।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
[illegible]

[illegible]

जो मिथ्यात्वका उदय हो रहा है वह अबुद्धिपूर्वक है—सामान्य है इसलिये विवेचनमें नहीं आ सकता है। अतः उसका बुद्धिपूर्वक लक्षण श्लोकसे कहा जाता है।

अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि—

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥ १०३१ ॥

अर्थ—सामान्य अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी किसी हेतुसे असिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व स्वसंवेदन ज्ञानसे भलीभांति सिद्ध है। तथा युक्ति, अपने

---

* मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं । गोम्मटसार ।

अनुभव और आगमसे भी सिद्ध है। भावार्थ–हर एक संसारी जीवके मिथ्यात्वका उदय हो रहा है यह बात आगमसे तो सिद्ध है ही, किंतु युक्ति और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः॥ १०३२॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके निरन्तर मिथ्याभाव होरहा है, परन्तु किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन उस मिथ्याभावकी ओर विशेष उपयोगवाला हो रहा है। भावार्थ–यद्यपि सामान्य रीतिसे असंज्ञी जीवों तक तो सभीके मिथ्यात्व कर्मका उदय होरहा है, संज्ञियोंमें भी बहु भाग जीव मिथ्यात्वसे ग्रसित होरहे हैं, वे सभी उस मिथ्यात्वके उदयसे उसी प्रकार मूर्छित होरहे हैं जिस प्रकार कि गाढ़ रीतिसे मदिरा पीनेवाला मूर्छित होजाता है। जिस प्रकार मद्यपायी पुरुषको कुछ खबर नहीं रहती है उसी प्रकार उन जीवोंको भी कुछ खबर नहीं है, कर्मोंके फलको भोगते जाते हैं और नवीन कर्मोंका बन्ध भी करते जाते हैं। अनन्त कालसे उनकी ऐसी ही अवस्था रहती है। वे अपने समीचीन गुण पुञ्जको खोचुके हैं, निपट अज्ञानी भी बन चुके हैं, परन्तु उनकी यह अवस्था अज्ञानभावोंमें ही लिप्त रहती है असंज्ञी जीव कर्मबन्ध करनेमें तथा उसका फल भोगनेमें बुद्धिपूर्वक उपयुक्त नहीं होसकते हैं। बुद्धिपूर्वक उपयोग लगानेमें संज्ञी जीव ही समर्थ हैं इसलिये कितने ही संज्ञी जीव अपने उपयोगको उस मिथ्याभावकी ओर विशेषतासे लगाते हैं, अर्थात् वे मिथ्या सेवनमें जान बूझ कर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। तथा दूसरे जीवोंको भी उसमें लगाते हैं ऐसे ही जीव बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व सेवी कहे जाते हैं।

अथवा—

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु॥ १०३३॥

अर्थ—अथवा उन संज्ञी जीवोंका मन चञ्चल रहता है इसलिये मिथ्याभाव पूर्ण पदार्थोंमें कभी २ उपयुक्त होता है। भावार्थ–कोई संज्ञी जीव मिथ्यात्व प्रवृत्तिमें सदा लगे रहते हैं और कोई कभी २ लगाते हैं।

सारांश—

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत्॥ १०३४॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसंगत है कि इन जीवोंके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही स्वयं मिथ्याभाव हो रहा है, और उसका प्रवाह अनादिकालसे अनन्तकाल तक चला जाता है।

मिथ्यात्वका कार्य—

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ॥
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि आत्माके स्वरूप-
की प्राप्ति नहीं होने पाती। यदि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय न होता तो अवश्य ही आत्माके
उस स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती। इसलिये आत्माके स्वरूपको नष्ट करना ही दर्शनमोहनीय
कर्मका कार्य है।

स्वरूपानुपलब्धिका फल—

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान्।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है। इस प्रकार
सम्यग्दृष्टियोंको जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय कर्ममें ऐसी शक्ति है।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

अर्थ—प्रसिद्ध तथा स्वच्छन्द (पुष्ट) ऐसे करोड़ों दृष्टान्त भी यदि दिये जांय तो भी
यही बात सिद्ध होगी कि मोहनीय कर्ममें इसी प्रकारकी शक्ति है, जिस वस्तुमें जो शक्ति है
वह अनिवार्य है। मोहनीय कर्ममें आत्माके स्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है, इस शक्तिको
उस कर्मसे कोई दूर नहीं कर सका है। क्यों कि भिन्न २ पदार्थोंकी भिन्न २ ही शक्तियां
होती हैं और जो जिसका स्वभाव है वह अमिट है।

शंका—

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राऽव्यापकः कथम् ॥ १०३८॥

. . . . . है,
. . . है

उत्तर—

अथ तथापि केषाञ्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३९॥

अर्थ—किन्हीं २ संज्ञी जीवोंके बुद्धिपूर्वक-गृहीत मिथ्यात्व होता है, वह पदार्थोंके

मिथ्या भावको लिये हुए होता है। भावार्थ—बंधका कारण असलमें मिथ्यात्व भाव है और इसके मूल मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र ये दो भेद हैं और उत्तर भेद असंख्यात लोक हैं। मिथ्यात्वके संबंधसे ही अन्य भाव भी बंधके कारण कहलाते हैं इसलिये मिथ्यात्वके सहचारी भावोंमें बंधके साधकपनेका नियम व्याप्त होकर रहजाता है और स्वरूपोपलब्धि मिथ्यादर्शनका सहचारी भाव नहीं है इसलिये उसमें यह नियम व्याप्त होकर नहीं रहता।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०४०॥

अर्थ—अर्थात् वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे एक प्रकार है, अर्थात् मिथ्याभावोंके जितने भी भेद हैं उन सबोंमें मिथ्यात्व है इसलिये मिथ्यात्वकी अपेक्षासे तो कौनसा ही मिथ्या भाव क्यों न हो सब एक ही है, और आलाप (भेदों) की अपेक्षासे वह असंख्यात लोक प्रमाण है।

आलापोंके भेद—

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥१०४१॥

अर्थ—जो एक जातिका आलाप (भेद) है वह भी अनेक रूपोंमें विभक्त होनेसे अनेक प्रकार है। जैसे-एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि। भावार्थ–मिथ्यात्व कर्मके अनेक भेद हैं परन्तु जो एक भेद है वह भी अनेक प्रकारका है, कभी इस जीवके विपरीत भाव होता है, कभी एकान्तभाव होता है, कभी संशयभाव होता है, कभी अज्ञानभाव होता है कभी विनयभाव होता है इत्यादि सभी भाव मिथ्यात्वके एक भेदमें ही गर्भित है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि हर एक कर्मके अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदोंमें प्रत्येक भेदका भी तरतमस्वरूप अनेक प्रकार होता है। दृष्टान्तके लिये ज्ञानावरण कर्मको ही लेलीजिये ज्ञानावरण कर्मके सामान्य रीतिसे पांच भेद हैं–मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। उनमें जो मतिज्ञानावरण है वह भी अनेक प्रकार है, किसी वर्गणामें * तीव्र अनुभाग बन्ध होता है और किसीमें कम होता है, किसी वर्गणाकी स्थिति अधिक पड़ती है, किसीकी कम पड़ती है। तथा एक प्रकारकी शक्तिके रखने वाले भी कर्म भिन्न भिन्न कार्यों द्वारा फलीभूत होते हैं। इन्हीं कर्मोंके भेद प्रभेदोंसे आत्माके भाव भी अनेक प्रकारके होते रहते हैं। वास्तवमें आत्माका ज्ञान गुण एक है, उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद केवल कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं, और उन भेदोंमें भी

* वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंका धारण करनेवाले कर्मपरमाणुको वर्ग कहते हैं। भिन्न २ वर्ग समूहकी भिन्न २ वर्गणायें होती हैं।

अनेक भेद हैं। किसी जीवके अधिक मतिज्ञान पाया जाता है किसीके कम पाया जाता है। इतने भी मतिज्ञान धारी हैं सभी कुछ न कुछ भेदको लिये हुए हैं। इसी प्रकार [illegible] जीके अनेक भेद हैं और उन्हींके निमित्तसे उनके प्रतिपक्षी गुणोंमें न्यूनाधिकता पाई जाती है। यहांतक मिथ्यात्वके असंख्यात भेद तो बतलाये गये, अब उसीके शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भेद बतलाये जाते हैं—

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०४२ ॥

अर्थ—अथवा शक्तिकी अपेक्षासे वह मिथ्यात्व परिणाम स्वभावसे अनन्त प्रकार है क्योंकि एक एक आलापके प्रति अनन्त २ शक्तियां होती हैं। भावार्थ—प्रत्येक [illegible] अनंतानंत वर्गणाओंका समूह है और प्रत्येक वर्गणामें अनन्तानन्त परमाणुओंका समूह रहता है, इसलिये प्रत्येक परमाणुमें प्रतिपक्षी गुणको घात करनेकी शक्ति होनेसे उस कर्मके तथा [illegible] प्रतिपक्षी गुणके भी अनंत भेद हो जाते हैं, तथा अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भी [illegible] अनन्त भेद हैं।

तथा—

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः।
शक्तिभेदात् क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥ १०४३ ॥
क्वचित् कदाचित् [illegible] पुनः क्षणात्।
निमज्जन्ति पुनस्तान्ये [illegible] यथोदयात् ॥ १०४४ ॥

अर्थ—उन कर्मोंकी जितनी भी शक्तियां हैं वे सब [illegible] हैं, वे यथायोग्य जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भावों द्वारा [illegible] करती हुई [illegible] प्रगट होती हैं। और [illegible] कार्य कर करके शान्त हो जाती हैं [illegible] हैं। [illegible] शान्त होते ही दूसरी शक्तियां अपने उदयानुसार प्रगट हो जाती हैं। उन शक्तियोंका [illegible] जाना ही एक कार्य है। भावार्थ—जो कर्म जिस समयमें उदय होता है [illegible] उत्कृष्टतासे जितनी भी [illegible] शक्तियोंको [illegible] उदयमें [illegible] है [illegible] [illegible] देता है साथ ही नवीन कर्मोंका बन्ध करता है, [illegible] है और दूसरा कर्म उदयमें आ जाता है। इसी प्रकार [illegible] [illegible] फल देकर उन नवीन कर्मोंका [illegible] करके [illegible] [illegible] हुए कर्म उदयमें आते हैं और [illegible] २ कर्म [illegible] रहते हैं, [illegible] [illegible] रहता है [illegible] कि [illegible] [illegible] नहीं [illegible]

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके कतिपय दृष्टान्त—

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥ १०४५ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है-जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना।

तथा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा १०४६ ॥
दर्शितेष्वेपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ॥
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि । * ॥ १०४७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म पदार्थ-परमाणु धर्मादि द्रव्य, अन्तरित पदार्थ-राम रावणादि, दूरवर्ती पदार्थ-सुमेरु अकृत्रिम चैत्यालय आदि। इसका वर्णन पहले भी आचुका है। ये पदार्थ जिनेन्द्र कथित-आगमसे ही जाने जा सक्ते हैं अन्यथा नहीं। इन पदार्थोंका स्याद्वाद पारंगत आचार्योंने अच्छी तरह शास्त्रोंमें विवेचन किया है परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष उनको नहीं स्वीकार करता है। भावार्थ-जैनाचार्योंने प्रथमानुयोग-शास्त्रोंमें मोक्षगामी-उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्र लिखे हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उस कथनको ही मिथ्या समझता है, वह समझता है कि जिन राम रावणादिका चरित आचार्योंने लिखा है वह केवल काल्पनिक है वास्तवमें राम रावण आदिक हुए नहीं हैं। यह आचार्योंकी कल्पना उपन्यासकी तरह समझानेके लिये है। इसी प्रकार सुमेरु, विदेह आदि जो उसके सर्वथा परोक्ष हैं उन्हें भी वह मिथ्या समझता है। मिथ्यात्व कर्मने उसकी आत्मापर इतना गहरा प्रभाव डाल दिया है जिससे कि उसकी बुद्धि सत्पदार्थोंकी ओर जाती ही नहीं है। वास्तवमें जबतक तीव्र कर्मका प्रकोप इस आत्मापर रहता है तबतक इसका कल्याण होता ही नहीं है। जिन जीवोंका कर्म शान्त हो जाता है उनके अन्तरंग किवाड़ तुरन्त खुल जाते हैं और उसी समय वे सुपथमें लग जाते हैं। स्वामी विद्यानन्दि गौतम गणधर आदिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कि पहले मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उन्हीं पदार्थोंको असत्य समझते थे परन्तु पीछे निमित्तवश मिथ्यात्व कर्मके हट जानेसे उन्हीं पदार्थोंको यथार्थ समझने लगे। जो लोग उन्हीं आचार्योंकी कही हुई तत्त्व फिलासिफी (तत्त्व सिद्धान्त) को ठीक मानते हैं और उन्हीं आचार्योंकी कही हुई प्रथमानुयोग कथनीको काल्पनिक समझते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि

* मिथ्याकर्मोदयादपि: ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है।

आचार्योंको ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी थी जो कि बिना किसी प्रयोजनके कल्पना करके लोगोंको ठगते ! यदि यही कर्तव्य उनको करना शेष था तो क्यों सांसारिक सुखका परित्याग कर कठिन तप करनेके लिये भयास्पद जंगलको उन्होंने निवास स्थान बनाया था ? यदि कहा जाय कि अपना कल्याण करनेके लिये तो दूसरे लोगोंको प्रतारण करना आत्मकल्याण नहीं कहा जा सकता है ! इसलिये आचार्योंकी कृतिको जो मिथ्या बतलाते हैं वे बिचारे मिथ्यात्व कर्मोदयके सताये हुए हैं। दूसरी बात यह है कि कल्पनासे शिक्षा अवश्य मिलती है परन्तु निश्चय स्वरूप परिज्ञान कभी नहीं हो सकता, और बिना निश्चय स्वरूप परिज्ञान हुए उस शिक्षाको सुखद शिक्षा नहीं कहा जा सकता। पद्मपुराणमें लिखा है कि रावणने कैलाश पर्वत उठानेके पीछे उस पर्वत पर जब चैत्यालय और मुनिमहाराजके दर्शन किये तब भक्तिके वश अपने हाथकी नसको निकालकर बना कर उनके गुणोंका गद्गद गान किया। इसी प्रकार वज्रजंघने मुनिमहाराजके दर्शन कर अणुव्रतोंको ग्रहण किया, रावणने रामचंद्रको सीताके जीवने बहुत कुछ विचलित करनेका उद्योग किया, परंतु वे ध्यानमें दृढ़ ही बने रहे, किंचिन्मात्र भी विचलित न हो सके; इत्यादि बातोंको यदि ठीक माना जाता है तब तो मनुष्य उसी प्रकारकी क्रियाओंसे अपने भावोंका सुधार कर सके हैं और रावणके समान भक्तिरसमें मग्न हो सके हैं, वज्रजंघके समान अपने अंतरंगको छोड़ सके हैं; रामचन्द्रके तुल्य ध्यानमें निश्चल–उपयोगी बन सके हैं। अंजनचोर सरीखे पुरुषोंके आगे पीछेके कर्तव्योंसे भावोंका वैचित्र्य जान सके हैं। परन्तु इन सब बातोंको काल्पनिक समझनेसे कुछ कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि कल्पनामें रावणकी भक्ति, रामचन्द्र–उनका ध्यान, वज्रजंघ–उसका सुधार, अंजनचोर–उसकी कथा आदि, ये सब कार्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्थामें किस आधार पर और किस आदर्शसे उनकी यथार्थ शिक्षा ली जा सकती है ! जिसने पाप किया वह नरकको गया, जिसने पुण्य किया वह स्वर्गको गया, यह पाप पुण्यका फल भी मिथ्या ही प्रतीत होगा, क्योंकि कल्पनामें न कोई स्वर्ग गया और न नरक गया, ऐसी अवस्थामें नरक स्वर्ग व्यवस्था भी उठ जाती है। केवल वे ही बातें शेष रह जाती हैं जो कि प्रत्यक्ष–इन्द्रियोंसे जा रही हैं, परोक्ष पदार्थ कुछ पदार्थ नहीं ठहरते। परोक्ष पदार्थोंमें बुद्धि न जानेसे अज्ञानी पुरुष उनको भी उतना ही समझता है जितना कि वह देखता है। ऐसा विपरीत भाव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होता है।

मिथ्यात्व कर्मोदयसे होनेवाले भाव—

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रक्रमस्यपि न पा ॥ १०४८ ॥

अर्थ—ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं इसलिये वे इन्द्रिय और शरीरके बि[ना] भी मुक्त जीवके निरन्तर रहते हैं, इसी विषयमें मिथ्यादृष्टि विचार करता है कि [यह] कहना ठीक है अथवा ठीक नहीं है। भावार्थ—ज्ञान और सुख आत्माके निज गुण हैं, गुणोंका कभी नाश नहीं होता है, यदि गुणोंका ही नाश हो जाय तो द्रव्यका भी [नाश] हो जाय, और द्रव्यका नाश होनेसे शून्यताका प्रसंग आवेगा इसलिये गुण पुञ्ज-[आत्मा] सदा टङ्कोत्कीर्णके समान अखण्ड रहता है परन्तु संसारमें ज्ञान और सुखका अनु[भव] शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा ही होता रहता है। यद्यपि इन्द्रियोंसे आत्मीक सुखका स्वाद नहीं आता है। आत्माका सुख तो आत्मामें ही स्वयं होता है, इन्द्रियां उसकी बाधक हैं इन्द्रियों द्वारा जो सुख होता है वह केवल शुभ कर्मका फलस्वरूप है तथापि मिथ्यादृष्टि उसी सुखको आत्मीक सुख समझने लगता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानको वह यथार्थ-प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान समझता है। और उसी समझके अनुसार वह यह कल्पना करता है कि बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान हो ही नहीं सके हैं। इसीलिये वह मुक्तात्माओंके ज्ञान, सुखमें सन्देह करता है कि बिना शरीर और इन्द्रियोंके मुक्तात्माओंके ज्ञान और सुख जो बताया है वह हो सका है या नहीं! वास्तवमें इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमाबद्ध और परोक्ष होता है, जहांपर इन्द्रियोंसे रहित-अतीन्द्रिय ज्ञान होता है वहीं पर उसमें पूर्णता और निर्मलता आती है। मुक्त जीवोंके जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय होता है। इसी प्रकार उनके जो सुख होता है वह इन्द्रियोंसे सर्वथा विलक्षण होता है, इन्द्रियजन्य जो सुख है वह कर्मोदय जनित है इसलिये दुःख ही है। मिथ्यादृष्टि दुःखको ही सुख समझता है।

और भी—

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट्।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित्॥ १०४९॥

अर्थ—जैन शास्त्रोंमें स्वतः सिद्ध जीवादिक छह द्रव्य कहे गये हैं वे हो सके हैं या नहीं? ऐसी भी आशंका वह आत्मस्वरूपको नहीं जाननेवाला-मिथ्यादृष्टि करता है।

और भी—

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत्।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक्॥ १०५०॥

अर्थ—पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, एक ही पदार्थमें नित्यता और अनित्यता [दोनों] रहते हैं। इस विषयमें भी मिथ्यादृष्टि संशय करता है कि एक पदार्थमें नित्यता और अनित्यता दो धर्म रह सके हैं या नहीं? वह समझता है कि नित्यता और अनित्यता [दो]

परस्पर विरोधी हैं इस लिये उनका एक पदार्थमें रहना असंभव है। भावार्थ—पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे सदा रहता है उसका कभी भी नाश नहीं होता है। परन्तु पर्याय दृष्टिसे वह अनित्य है। जैसे मनुष्य मरकर देव हो जाता है। यहां पर जीवकी मनुष्य पर्यायका तो नाश हो गया और देव पर्यायका उत्पाद हो गया परन्तु जीवका न तो नाश हुआ है और न उत्पाद हुआ है। जो जीव मनुष्य पर्यायमें था वही जीव अब देव पर्यायमें है, इस लिये जीवद्रव्यकी अपेक्षासे तो जीव नित्य है परन्तु जीवकी पर्यायोंकी अपेक्षासे वह अनित्य है अतः जीवमें कथंचित् नित्यता, और कथंचित् अनित्यता दोनों ही धर्म रहते हैं, परन्तु जिस अपेक्षासे नित्यता है उस अपेक्षासे अनित्यता नहीं है, यदि जिस अपेक्षासे जीवमें नित्यता है उसी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी मानी जावे तब तो अवश्य विरोध संभव है परन्तु अपेक्षाके न समझनेसे ही मिथ्या दृष्टि इन धर्मोंको विरोधी समझता है।

और—

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम्॥ १०५१॥

अर्थ—कर्म-ज्ञानावरणादि, नो कर्म-शरीरादि जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें 'मैं आत्मा हूं, इस प्रकार जो बुद्धि होती है वह दर्शनमोहकी चेष्टा है। भावार्थ—दर्शन मोहनीयके उदयसे यह जीव शरीरादि जड़ पदार्थोंको ही आत्मा समझता है।

और—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात्॥ १०५२॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अधर्ममें धर्मबुद्धि करता है।

और भी—

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात्॥ १०५३॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके वशीभूत होकर यह जीव अनेक खोटे २ आशयोंके वशमें रहकर धन धान्य पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये मिथ्या देवोंकी सेवा करता है। तथा और कुकर्म भी करता है। भावार्थ—जो लोग बरगद इत्यादि वृक्षोंसे चण्डी, मुण्डी, भैरों, क्षेत्रपाल, माता आदि कुदेवोंकी पूजा करते हैं तथा जो हिंसादिक निंद्य कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं वे सब मिथ्यात्व कर्मके वशीभूत हैं।

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेऽपि मोहस्य [illegible] ॥ १०८४ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हो गई कि गतिके बहानेसे जो भाव कहे गये हैं वे [illegible] कर्मके साथ उदयमें आनेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे औदयिक हैं। भावार्थ— ऊपर नामकर्मके भेदोंमें गति कर्मका विवेचन करते हुए उसे औदयिक भावोंमें गिनाया है, और यह बतला दिया है कि नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चारों पर्यायोंमें आत्माके भाव भिन्न २ रीतिसे असाधारण होते हैं। जैसी पर्याय होती है उसीके अनुसार आत्माकी भाव सन्तति भी होजाती है। अर्थात् जिस पर्यायमें यह आत्मा जाता है उसी पर्यायके अनुसार इसके भावोंकी रचना हो जाती है। [illegible] औदयिक है। यहां पर किसीने शंका की थी कि गति कर्म तो नाम कर्मका भेद है [illegible] कर्म है, उसमें आत्माके भावोंको परिवर्तन करनेकी योग्यता कहांसे आ सकती है? [illegible] उत्तरमें यह कहा गया है कि उस गति कर्मके उदयके साथ [illegible] कर्मका भी उदय हो रहा है इसलिये वही आत्माके भावोंके परिवर्तनका कारण है। [illegible] पर्याय उस परिवर्तनमें सहायक कारण है, क्योंकि भावोंमें भिन्न [illegible] भिन्न २ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी योग्यता मिलती है और [illegible] जैसी [illegible] है उसीके अनुसार मोहनीयके उदयसे आत्माके भावोंमें परिवर्तन [illegible] है, [illegible] अनुसार कर्मोदय विशेष रीतिसे फलवान होता है। [illegible] उदयसे होनेवाले भाव भी औदयिक हैं। इनमें [illegible] समझना चाहिये।

[illegible] रागाद्याः बुद्धिपूर्वकाः।
[illegible] ॥ १०८५ ॥

[illegible]

बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है । जैसे-मिथ्यादृष्टि शरीरादि भिन्न पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिसे राग कर सका है परन्तु सम्यग्दृष्टि शरीरादिमें राग अवश्य कर सका है किन्तु आत्मत्व बुद्धिसे नहीं कर सका है । क्योंकि शरीरादिमें आत्मत्वबुद्धि करनेवाला तो केवल दर्शनमोह है ।

सारांश—

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०६६ ॥

अर्थ—इस प्रकार गतिकर्मके आश्रयसे चार औदयिक भाव होते हैं । परन्तु बन्धके करनेवाले केवल मोहकर्मके उदयसे होनेवाले ही भाव हैं । भावार्थ—विना मोहनीय कर्मके गति कर्मका उदय कुछ नहीं कर सका है, केवल उदयमें आकर खिर जाता है ।

कषाय भाव—

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥१०६७॥
ते चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोऽप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०६८ ॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०६९ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें भी जीवके औदयिक भाव हैं । और उन कषायोंके जितने उत्तर भेद हैं वे सब भी औदयिक भाव हैं । कषायोंके उत्तर भेद नामकी अपेक्षासे सोलह भी हैं तथा पचीस भी हैं । परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे उनके असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद हैं । अथवा शक्तिकी अपेक्षासे उन कषायोंके अनन्त भी भेद हैं । क्योंकि एक २ भेदके प्रति अनन्त अनन्त शक्तियाँ हैं । ये सब कषायें पाप रूप [ ] अर्थात् सभी कषायें आत्माके गुणोंका घात करनेवाली हैं । भावार्थ—सामान्य रूपसे क्रोध मान माया लोभ ये कषायोंके चार भेद हैं, अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन भेदोंकी अपेक्षासे उनके सोलह भेद हैं । अर्थात् इन चारों भेदोंमें क्रोध मान माया लोभ जोड़ देनेसे सोलह भेद हो जाते हैं । इन्हींमें हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद इन नौ नोकषायोंको जोड़ देनेसे उनके पच्चीस भेद हो जाते हैं । अन्तर्भेद और शक्तियोंकी अपेक्षासे उनके असंख्यात लोकप्रमाण भेद

अनन्त भेद भी हैं। +अनन्तानुबन्धि कषाय आत्माके स्वरूपाचरणचारित्रका घात करती है। ×अप्रत्याख्यानावरण कषाय आत्माके देशचारित्रका घात करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय। *आत्माके सकल चारित्रका घात करती है। तथा संज्वलन कषाय+ आत्माके यथाख्यातचारित्रका घात करती है। अनन्तानुबन्धि कषायका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका चौथे गुणस्थान तक उदय रहता है। प्रत्याख्यानावरन कषायका पांचवें गुणस्थान तक उदय रहता है। संज्वलन कषायका दशवें गुणस्थान तक उदय रहता है। इन कषायोंका जहां २ तक उदय है वहीं २ तक ये आगे प्रकटने वाले गुणोंको नहीं होने देती हैं। इन कषायोंका वासनाकाल इस प्रकार है—संज्वलन कषायका अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान कषायका एक पक्ष अर्थात् १५ दिन, अप्रत्याख्यान कषायका छह महीना और अनन्तानुबन्धिका संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भव। वासनाकालका अभिप्राय यह है कि इतने काल तक इनका संस्कार आत्मामें बैठा रहता है। जैसे संज्वलन कषायके संस्कार केवल अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सके हैं। प्रत्याख्यान कषायके संस्कार एक पक्ष तक अर्थात् १५ दिन तक रह सके हैं। इसी प्रकार औरोंका संस्कारकाल समझना चाहिये। इन सबमें अनन्तानुबन्धिका संस्कारकाल सबसे अधिक है। उसके संस्कार अनन्त भव तक रह सके हैं।

चारित्रमोहनीयका कार्य—

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोऽस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०८० ॥

अर्थ—जीवका एक चारित्र गुण है, वह शुद्ध स्वरूप है परन्तु इस संसारमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह विकृत हो रहा है अर्थात् अनादि कालसे चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह अशुद्ध हो रहा है।

+ अनन्त-अनन्तसंसार, अनुबध्नाति स अनन्तानुबन्धी, अर्थात् जो अनन्त [illegible] अनन्तानुबन्धी कहते हैं। अनन्तानुबन्धीका [illegible] सम्यग्दर्शनका भी घात [illegible] है [illegible] अनन्तकाल तक [illegible] है।

× [illegible] अप्रत्याख्यानावरण [illegible] हैं।

* [illegible] हैं।

+ [illegible] है

चारित्रमोहके भेद—

तस्माच्चारित्रमोहस्य तद्भेदाद्द्विविधो भवेत्।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६१ ॥

अर्थ—इस लिये उसके भेदसे चारित्र मोह दो प्रकार है एक द्रव्य रूप, दूसरा भावरूप द्रव्यरूप चारित्र मोह पुद्गल स्वरूप है और भावरूप चारित्र मोह चैतन्य स्वरूप है। भावार्थ—चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो आत्माके चारित्र गुणकी राग द्वेष रूप वैभाविक अवस्था है उसीसे चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद होजाते हैं, एक द्रव्य मोह दूसरा भाव मोह। पौद्गलिक चारित्र मोह द्रव्य मोह है और उसके निमित्तसे होनेवाले आत्माके राग-द्वेषरूप भाव, भावमोह है।

द्रव्य मोह—

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः।
वैकृतः सोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६२ ॥

अर्थ—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम मूर्ति है। जिस द्रव्यमें ये चारों गुण पाये जावें उसे मूर्तिमान द्रव्य कहते हैं, ऐसा मूर्तिमान द्रव्य छहों द्रव्योंमेंसे एक है और वह पुद्गलके नामसे प्रसिद्ध है। उसी पुद्गलकी एक वैभाविक पर्याय चारित्र मोहरूप है।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०६३ ॥

अर्थ—पौद्गलिक जितना भी मोह है सभी पृथ्वी पिण्डके समान है, वह स्वयं पुद्गल है आत्मा नहीं है पौद्गलिक द्रव्यमोह और आत्मा इन दोनोंका परस्पर बन्ध होता है।

भाव मोह—

त्रिविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः।
उदयादात्मनो भावो भावमोहः स उच्यते ॥ १०६४ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके पौद्गलिक मोहनीय कर्मोंके उदयसे आत्माका जो भाव होता है उसे ही भाव मोह कहते हैं। भावार्थ—द्रव्यमोहके उदयसे होनेवाली आत्माकी वैभाविक अवस्थाका नाम ही भावमोह है।

भाव मोहका स्वरूप—

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्।
बन्धहेतुः स एव स्याद्द्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६५ ॥

अर्थ—जलमें जिसप्रकार काई (हरा मल) के सम्बन्धसे जल मलिन हो जाता है उसी प्रकार वह भाव भी (रागद्वेषरूप) मलिन होता है, तथा वही कर्मोंके बन्धका कारण

बन्धका कारण है। भावार्थ-बिना कषाय भावोंके कर्म आत्माके साथ बंध नहीं सकते। जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं, कषाय भाव ही उनके बन्धका कारण है, इसीलिये दशवें गुणस्थान तक ही कर्मबन्ध होता है, उससे ऊपर कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु योगोंके निमित्तसे जिस समयमें कर्म आते हैं उसी समयमें खिर भी जाते हैं।

भाव मोह ही अनर्थोंका मूल है—

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥ १०३६ ॥

अर्थ—संसारमें जितने भी अनर्थ हैं उन सबका मूल-कारण वही भाव मोह है क्योंकि अनर्थके मूल कारण कर्म हैं और उन कर्मोंका भी आदि कारण वह भाव मोह है।

और भी—

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥ १०३७ ॥

अर्थ—वह भाव मोह अपवित्र है, आत्माके गुणोंका घातक है, रौद्रस्वरूप है, दुःखरूप है, और दुःखका फल स्वरूप है, अथवा दुःख ही उसका फल है। उसके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण आपत्तियोंका वह स्थान है।

भावमोहमें परस्पर कार्यकारण भाव—

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः।
[illegible] ॥ १०३८ ॥

अर्थ-वह भाव मोह कार्य भी है और कारण भी है। पूर्वमें बंधे हुए कर्मोंके [illegible] है [illegible] कार्य [illegible] है, तथा नवीन कर्मोंके आस्रवका [illegible] कारण है [illegible] परस्पर कार्य कारण भाव [illegible] है—

[illegible]
[illegible] ॥ १०३९ ॥

अर्थ—[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ १०४० ॥

[illegible]

अर्थ—उस भाव कर्मके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म आते हैं (आत्माके बंधते हैं) इसलिये वह कारणरूप है। भावार्थ—भाव कर्मोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका होता है, उन कर्मोंके निमित्तसे नवीन भाव मोह पैदा होता है, फिर उससे नवीन कर्म- ते हैं उन कर्मोंके निमित्तसे दूसरा भाव मोह पैदा होता है। इस प्रकार यह परस्पर कार्य- भाव सन्तति अनादि कालसे चली आ रही है। एक बार द्रव्य मोह कारण पड़ता है मोह उसका कार्य पड़ता है। इस प्रकार परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव है।

विशेष—

विशेषः कोप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १०७१ ॥

अर्थ—इस भावमोहमें इतनी कोई विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय का है, परन्तु कारण उस मोहनीय कर्म तथा सम्पूर्ण कर्मोंके बंधका है। भावार्थ—द्रव्य के उदयसे ही भाव मोह होता है इसलिये वह कार्य तो केवल मोह कर्मका ही है। सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थिति अनुभाग डालनेवाला वही एक भाव मोह है इसलिये वह कारण कर्मोंका है।

सारांश—

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः।
निमित्तनैमित्तिकोभावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७२ ॥

अर्थ—इस लिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार कुम्हार और घटका त्तनैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव यहां पर दृष्टान्तका उद्दिष्ट अंश ही लेना चाहिये, दृष्टान्त स्थूल है।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०७३ ॥

अर्थ—बाह्य दृष्टिसे तो जीव और कर्मोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है परन्तु दृष्टिसे कषायोंका निमित्तनैमित्तिक भाव है। अन्तर्दृष्टिसे जीव कर्मका नहीं है। र्थ—जीवके चारित्र गुणका विकार राग द्वेष है और वही राग द्वेष कर्म बन्धका हेतु है ये अन्तर्दृष्टिसे कषाय भाव चारित्र गुणकी वैभाविक अवस्था और कर्मोंका ही उपर्युक्त है। स्थूल दृष्टिसे जीवका भी कहा जा सकता है।

यदि जीवका ही उपर्युक्त भाव माना जाय तो—

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७४॥

अर्थ—यदि कर्म बन्धका निमित्त कारण स्वयं जीव ही माना जाय तो जीव सदा कर्म बन्धका कर्ता ही बना रहेगा। फिर किसी जीवकी कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगी। इसलिये कर्म बन्धके करनेवाले आत्माके वैभाविक भाव कषाय मात्र ही हैं। जब तक उन भावोंकी सत्ता है, तभी तक आत्मा कर्म बन्ध करता है, उनके अभावमें कर्म बन्ध नहीं करता है। जीव स्वयं कर्मबन्धका कारण नहीं है। किन्तु अशुद्ध जीव है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः॥ १०७५॥

अर्थ—इस प्रकार वे चारों ही कषायें औदयिक कही गई हैं। वे कषायें आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक पर्यायें हैं।

नोकषाय—

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल॥ १०७६॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेदके भेदसे तीन प्रकारके लिङ्ग भी औदयिक भाव हैं। वे भाव नो कषाय कर्मोंके उदयसे होते हैं

चारित्र मोहके भेद—

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम्॥ १०७७॥

अर्थ—जैनागममें चारित्र मोह कर्मके दो भेद किये हैं। पहला-कषाय, दूसरा नोकषाय। कषाय—जो आत्माके गुणोंको कषे अर्थात् उन्हें नष्ट करे उसे कषाय कहते हैं, और कुछ कम कषायको नोकषाय कहते हैं। जो भाव ईषत्-थोड़ा है, वे दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं।

नो कषायके भेद—

नवापि नोकषायाख्या नवधा स्वविधानतः।
हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम्॥ १०७८॥

अर्थ—नो कषायके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष और नपुंसक। अर्थ-जिसके उदयसे हंसी आवे उसे हास्य नोकषाय कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता (प्रेम) हो उसे रति कहते हैं। जिसके

* [illegible]
[illegible]

उदयसे अरुचि हो उसे अरति कहते हैं। जिसके उदयसे शोक हो उसे
कहते हैं। जिसके उदयसे उद्वेग (भय) हो उसे भय कहते हैं। जिसके उदयसे दूसरे
दोषोंको यह जीव प्रकट करे और अपने दोषोंको छिपावे उसे जुगुप्सा कहते हैं। अप
दूसरोंसे घृणा करना भी जुगुप्सा है। जिसके उदयसे स्त्रीत्व भाव हो अर्थात् पुरुषके साथ रमण
करनेकी वाञ्छा हो उसे स्त्री वेद कहते हैं। जिसके उदयसे पुंस्त्व भाव हो अर्थात् स्त्रीके साथ
रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे पुंवेद कहते हैं। जिसके उदयसे नपुंसकत्व भाव हो अर्थात् स्त्री
पुरुष दोनोंसे रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे नपुंसक वेद कहते हैं। ये नौ नो कषाय कर्मोंके
भेद हैं। इन्हींके उदयसे ऊपर कहे हुए कार्य होते हैं। इतना विशेष है कि कहीं पर जैसा
भाव वेद होता है वैसा ही द्रव्य वेद होता है परंतु कहीं कहीं पर द्रव्य वेद दूसरा होता है
और भाव वेद दूसरा। आत्माके भावोंको भाव वेद कहते हैं और शरीरके आकारको द्रव्य वेद
कहते हैं। यदि कोई पुरुष पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा करे तो उसके द्रव्य वेद तो
पुरुष वेद है परन्तु भाव वेद स्त्री वेद है। प्रायः अधिक तर द्रव्यके अनुकूल ही भाव होता है,
किन्तु कहीं २ पर विषमता भी हो जाती है। इन तीनों वेदोंके उदयसे जैसे इस जीवके
परिणाम होते हैं उसका क्रम आचार्योंने इस प्रकार बतलाया है। पुरुषकी काम वासना तृणकी
अग्निके समान है। जिस प्रकार तृणकी अग्नि उत्पन्न भी शीघ्र होती है और भस्म होकर
शान्त भी शीघ्र ही होजाती है। स्त्रीकी काम वासना कण्डेकी अग्नि (उपलोंकी अग्नि)के
समान होती है कंडेकी अग्नि उत्पन्न भी देरसे होती है और ठहरती भी अधिक काल तक
है। इसी प्रकार स्त्रियोंकी काम वासना बिना निमित्तकी प्रबलताके सदा दबी ही रहती है परन्तु
प्रबल निमित्तके मिलने पर उत्पन्न होकर फिर शान्त भी देरसे होती है। इसी लिये आवश्यक है
कि स्त्रियोंको ऐसे निमित्तोंसे बचाया जावे। और सदा सदुपदेशकी उन्हें शिक्षा दी जावे। ऐसी
अवस्थामें उनकी कामवासना कभी दीप्त नहीं हो सकती है परन्तु आजकलके शिक्षितम्मन्य
लोग अपने भावोंसे उनकी तुलना करके उनके जीवनको कलंकित और दुखदाई बनानेका
व्यर्थ ही उद्योग करते हैं। यह उनका दयाका परिणाम केवल हिंसामय है और अनर्थका
है। यदि स्वभावमृदु स्त्रियोंको सदा सन्मार्गकी शिक्षा दी जावे तो वे कभी नहीं
मार्गको और पैर रक्खेंगी। और ऐसी ही निष्कलङ्क स्त्रियोंकी सन्तान संसारका कल्याण
करनेमें समर्थ हो सकती है। नपुंसककी काम वासना ईंटोंके पाक (अवा)के समान होती है
उसकी अग्नि दोनोंकी अपेक्षा अत्यन्त दीप्त होती है। संसारी जीव इन्हीं वेदोंके
सताये हुए हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्यों २ विषय सेवनकी तरफ यह मनुष्य
ज्यों २ इसकी भ्रमाग्नि और आकांक्षा बढ़ती ही जाती है, खेद तो इस बातका है
कि अधिक सेवनसे मनुष्य तृप्तिकी वाञ्छा करता है परन्तु उस अग्निको ईंधन नहीं

है कि अग्निको शान्त करनेके लिये क्या उसमें लकड़ी डालनेकी आवश्यकता है! यदि विषय सेवन तृप्तिका मार्ग है तो अनादिकालसे अभी तक क्यों नहीं तृप्ति हो पाती! इसलिये इनसे जितना जल्दी सम्बन्ध छुड़ाया जाय और इनको ओर विरक्तता की जाय उतना ही परम सुख समझना चाहिये।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम्।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७९ ॥

अर्थ—इसलिये चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ये नोकषाय भी चारित्र गुणके वैभाविक भाव हैं।

प्रत्येकं विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०८० ॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञा—आगमके अनुसार प्रत्येक लिङ्ग स्वभावसे ही द्रव्य भेद, भाव भेद इन भेदोंसे दो दो प्रकार हैं। इन दोनोंका वर्णन पहले श्लोकमें सविस्तर किया गया है।

नाम कर्म-स्वरूप—

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥ १०८१ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंमें एक नाम कर्म है वह चित्रोंके समान अनेक रूपवाला है, अर्थात् जिस प्रकार चित्रकार अपने हस्त कौशलसे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार यह नाम कर्म भी अपने अनेक भेदोंसे अनेक आकार बनाता है। शरीर, संहनन, गति, जाति, अङ्गोपाङ्ग आदि सभी रचना इस नाम कर्मके उदयसे ही होती है। इसका बहुत भाग [illegible] है। नाम कर्म पौद्गलिक है, इसकी वैभाविक व्यञ्जन पर्याय है। इसीलिये यह मूर्त है, और कुछ विपाकी है* भावार्थ—कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका शरीरमें ही विपाक होता है। अर्थात् शरीरमें ही उनका फल होता है, कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका क्षेत्रमें ही विपाक होता है, अर्थात् उनका उदय तभी आता है जब कि संसारी जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरके लिये जाता हुआ विग्रह गतिमें होता है। कुछ कर्म ऐसे हैं कि भवविपाकी हैं अर्थात् मनुष्यादि पर्यायोंमें ही उनका फल होता है, और कुछ कर्म ऐसे हैं जो जीवविपाकी हैं, अर्थात् उनका जीवमें फल होता है।

* [illegible] नहीं है। [illegible] ([illegible]) [illegible]

उनमें ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं। पांच शरीरोंसे लेकर स्पर्श पर्यन्त * ५० प्रकृतियां, तथा निर्माण, आताप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात परघात ये नाम कर्मकी ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं इनका फल शरीरमें ही होता है। नरकादि चारों आयु भव विपाकी हैं। आयुका कार्य प्राप्त हुई पर्यायमें नियमित स्थिति तक रोकना है। इसलिये आयुका फल नरकादि चारों पर्यायोंमें ही होता है। चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी हैं। आनुपूर्वी कर्म उसे कहते हैं कि जिस समय जीव पूर्व पर्यायको छोड़ कर उत्तर पर्यायमें जाता है, उस समय जब तक वहां नहीं पहुंचा है, तब तक मध्यमें उस जीवका पहली पर्यायका आकार बनाये रक्खे। चार गतियां हैं इस लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां भी चार ही हैं। जिस आनुपूर्वीका भी उदय होता है वह पहली पर्यायके आकारको रखती है। इसी लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां क्षेत्र विपाकी हैं। इनका फल परलोक गमन करते समय जीवकी मध्य अवस्थामें ही आता है। निम्न लिखित ७८ प्रकृतियां जीव विपाकी हैं वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घातिया कर्मोंकी ४७ और २७ नाम कर्मकी। नाम कर्मकी २७ प्रकृतियां इस प्रकार हैं। तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति, सुभग, दुर्भग, नरकगति, तिर्यग्गति मनुष्यगति, देवगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जाति, ये प्रकृतियां जीव विपाकी हैं।

अंगोपाङ्ग और शरीरनामकर्मके कार्य—

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौस्तोऽप्यभेदवत्।
तद्विपाकात्त्रिलिङ्गानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८२ ॥

अर्थ—उसी नाम कर्मके भेदोंमें एक अंगोपांग और एक शरीर नाम कर्म भी है। ये दोनों ही भेद नाम कर्मसे अभिन्न हैं। इन्हीं दोनोंके उदयसे स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक-वेदके आकार होते हैं। भावार्थ—शरीर और अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे इस जीवके शरीर और अंग तथा + उपांग बनते हैं, शरीरके मध्य तीनों वेदोंके आकार भी इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे बनते हैं। वेदोंसे यहां पर द्रव्य वेद समझना चाहिये।

---

* ५ शरीर, ३ आङ्गोपाङ्ग, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण।

+ णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसोय।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं॥

अर्थ—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, (चूतड़), पीठ, पेट, सिर ये आठ तो अंग कहलाते हैं बाकी सब उपांग कहलाते हैं। जैसे उंगलियां, कान, नाक, मुंह, आंखे आदि।

गोम्मटसार।

द्रव्य वेदसे भाव वेदमें कार्यकृता नहीं आती—

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०८३ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेदके आकारका पाना नाम कर्मका कार्य है। इस आकारकी भावलिङ्गोंमें कुछ भी कार्यकारिता नहीं है। भावार्थ-नाम कर्म केवल द्रव्यवेद-शरीरमें लिङ्गाकृतिको बनाता है, स्त्री पुरुषोंके भावोंमें जो रमण करनेकी वान्छा होती है व भाव वेद कहलाता है। ऐसा भाव वेद नाम कर्मके उदयसे नहीं होता है। जब तक भाव वेदका उदय न हो तब तक केवल द्रव्य वेद कुछ नहीं कर सक्ता है, केवल आकार मात्र है। इसीलिये नवमें गुणस्थानसे ऊपर केवल वेदोंका द्रव्याकार मात्र है।

भाव वेदका कारण—

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८४ ॥

अर्थ—भाववेदोंके होनेमें केवल एक चारित्र मोहकर्मका उदय ही निश्चयसे कारण है, किसी दूसरे कर्मका उदय उनके होनेमें कारण नहीं है।

वेदोंके कार्य—

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल ।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८५ ॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥ १०८६ ॥ ×

अर्थ—पुंवेदके उदयसे द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी वान्छा होती है। स्त्री वेदके उदयसे पुरुषोंके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। और जो अशक्त सामर्थ्य हीन होनेसे न तो स्त्रियोंके साथ ही भोग कर सक्ता है, और न पुरुषोंके साथ ही कर सक्ता है किन्तु दोनोंकी वान्छा रखता हुआ हृदयमें ही जला करता है ऐसा भाव नपुंसक वेदके उदयसे होता है। ÷

वेदोंकी सम विषमता—

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८७ ॥

× संशोधित पुस्तकमें क्लीववेदोदयादिति, पाठ है। इसका कोई अर्थ भी नहीं निकलता है।

÷ णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥
यह नपुंसकका लक्षण है। गोम्मटसार।

अर्थ—कहीं पर जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग भी होता है। कहीं पर द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

उदाहरण—

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतर।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८८ ॥

अर्थ—जितनी भी चारों निकायोंके देवोंकी देवियां हैं उन सबके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता। और जितने भी देव हैं उन सबके पुंवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता। भावार्थ—देव देवियोंके द्रव्यवेद और भाववेद दोनों एक ही होते हैं।

भोग भूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८९ ॥

अर्थ—भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता! और ...हांके पुरुषोंके केवल पुंवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता अथवा इन दोनोंमें ...स्पर विषमता नहीं होती। भावार्थ—देव देवियोंके समान इनके भी समान ही वेद होता है, ...देवियां और भोगभूमिके स्त्री पुरुष इनके नपुंसक वेद तो दोनों प्रकारका होता ही नहीं ...और स्त्रीवेद भी द्रव्यभाव समान ही होता है विषम नहीं।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०९० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकियोंके एक नपुंसक वेद ही होता है। वही तो द्रव्यवेद होता है ...ही भाववेद होता है। नारकियोंके द्रव्यसे अथवा भावसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद सर्वथा ...ते।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात् केवलः किल ॥ १०९१ ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९२ ॥

...—तिर्यंच जातिमें सभी एकेन्द्रिय जीवोंके नपुंसकवेद ही होता है, जितने भी ...द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) हैं उन सबके केवल नपुंसक वेद ही होता है। ...ी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं उन सबके भी केवल नपुंसक वेद ही होता है। वही ...ा है और वही भाव वेद होता है। दूसरा वेद कभी नहीं होता।

...र्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
...रश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९३ ॥

लिये सचित्त त्याग प्रतिमावाला पदार्थोंको अचित्तबनाकर खाता है। हरीको नहीं खाता है, जलको प्रासुक बनाकर पीता है। यद्यपि ऐसा करनेसे वह जीव हिंसासे मुक्त नहीं होता, तथापि जितेन्द्रिय अवश्य हो जाता है। स्वादिष्ट पदार्थोंको अस्वादिष्ट बनानेसे इन्द्रियोंकी लालसायें कम हो जाती हैं ÷ इन्द्रिय संयम पालनेवाला ही आगे चलकर आठवीं आरंभ त्याग प्रतिमामें प्राण संयम भी पालने लगता है। परन्तु संकल्पी हिंसाका त्यागी पहलेसे ही होता है। आठवीं प्रतिमामें आरंभ जनित हिंसाका भी वह त्यागी हो जाता है।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः *
असंयतत्वं तन्नाम भावोस्त्यौदयिकः स च ॥ ११२४॥

अर्थ——ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकारका संयम जहांपर लेश मात्र भी नहीं पाया जाता है वहीं पर असंयत भाव होता है, वह आत्माका औदयिक भाव है।

शंकाकार—

ननु चाऽसंयतत्त्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥ ११२५ ॥

अर्थ—असंयत भाव और कषायोंमें परस्पर क्या अन्तर है क्योंकि दोनों ही एक चारित्र मोहनीयकी पर्याय हैं। अर्थात् दोनों ही चारित्र मोहके उदयसे होते हैं ?

÷ इन्द्रियोंकी लालसा घट जानेसे मनुष्य अपना तथा परका बहुत कुछ उपकार कर सकता है। अनेक कर्तव्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परन्तु उनकी वृद्धि होनेसे मनुष्यका बहुतसा समय इन्द्रिय भोग्य योग्य पदार्थोंकी योजनामें ही चला जाता है। तथा विषयाबद्धता में वह निज कर्तव्यको भूल भी जाता है।

* लेशतः पाठसे यह बात प्रकट होती है कि उक्त दोनों संयम यथाशक्ति जघन्य अवस्थामें भी पाले जाते हैं। इसी लिये जो नियम रूपसे पांचवीं प्रतिमामें नहीं हैं वे भी पाक्षिक अवस्थामें भी अभ्यास रूपसे हरितादिका त्याग कर देते हैं। कुछ नये विद्वान् पांचवीं प्रतिमासे नीचे हरितादिके त्यागका विरोध करते हैं, प्रत्युतः हरितादि भक्षणका विधान करते हैं यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि विधानका कहीं उपदेश नहीं है जितना भी कथन है वह निषेध मुखसे है चाहे वह थोड़े ही अंशोंमें क्यों न हो। पांचवीं प्रतिमामें तो हरितादिका त्याग आवश्यक है, उससे नीचे यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि अभ्यास रूपसे उसका करना प्रशस्त ही है। जितने अंशोंमें भी त्याग मार्ग है उतना ही अच्छा है। इसलिये जो पुरुष अव्रती हैं, यदि वे हरीका पर्वोंमें त्याग करते हैं, उपवासादि धारण करते हैं कन्दमूलका त्याग करते हैं तो ऐसी अवस्थामें अव्रत वे शुभ प्रवृत्तिवाले हैं। भले ही वे मन्द ज्ञानी हों परन्तु अनन्त स्थावर जीवोंके वधसे बच जायेंगे। जितनी भी प्रतिमायें हैं सभी त्यागकी मर्यादाको आवश्यक बतलाती हैं परन्तु उनसे नीची श्रेणीवाला भी लेश मात्र त्यागी अथवा अभ्यास रूपमें पूर्ण त्यागी भी बन सकता है।

अर्थ—चारित्र मोह कर्ममें भी समाससे दो शक्तियां हैं—(१) असंयम (२) कषाय

शंकाकार—

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम्।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः पञ्चविंशतिः स्फुटम् ॥ ११३३ ॥

अर्थ—यदि कषाय और असंयतभाव दोनों चारित्र मोहके ही भेद हैं तो चारित्र मोहनीयकी संख्याका बढ़ना भी न्याय संगत है। पचीसके स्थानमें असंयत भावको मिलाकर छब्बीस भेद उसके होने चाहिये?

उत्तर—

सत्यं यत्रातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
+ आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥ ११३४ ॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
किन्तु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः ॥ ११३५ ॥

अर्थ—ठीक है, जहांपर भिन्न भिन्न जातियोंमें बँटी हुई कार्माण वर्गणायें होती हैं, वहीं पर आलाप (भेद) की अपेक्षासे असंख्यात वर्गणायें भिन्न २ होती हैं। अथवा जहां भिन्न जातिवाली वर्गणायें होती हैं वहीं पर आलापकी अपेक्षासे संख्या भेद होता है, जहां ऐसा नहीं होता वहां कर्मोंकी संख्या भी भिन्न नहीं समझी जाती है। यहां पर भिन्न जातिवाली वर्गणायें नहीं हैं किन्तु एक चारित्र मोहनीयकी ही हैं इसलिये मोहकी छब्बीसवीं संख्या नहीं हो सकती है परन्तु शक्ति भेद अवश्य है, वह भी [illegible] स्वभाव वाला है। भावार्थ—जहां पर जातिकी अपेक्षासे वर्गणाओंमें भेद होता वहीं पर कर्मोंके नाम भी जुदे २ हो जाते हैं जैसे—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण परन्तु जहां पर जातिभेद नहीं है किन्तु शक्ति भेद है वहां पर कर्मोंकी नाम जुदी जुदी नहीं होती। जैसे-एक ही मतिज्ञानावरण क्षयोपशमके भेदसे भेदवाला है। दृष्टान्तके लिये धतूरको ही ले लीजिये। धतूरकी जड़ भिन्न है उसके [illegible] भिन्न काममें आते हैं तथा उसके फल भिन्न काममें आते हैं परन्तु धतूर [illegible] कहा जाता है। इसलिये जहां पर शक्ति भेद होता है [illegible] भेद [illegible]। यदि विना जातिभेदके केवल शक्तिभेदसे ही नाम भेद [illegible] कषाय सम्यक्त्व और [illegible] मोहनीयके छब्बीस भेद होने चाहिये।

+ [illegible] न क्वचित्' ऐसा संशोधित पुस्तकमें दूसरा अर्थ लिखा गया है।

कषायके कुछ स्पर्धक प्रमत्त भावको पैदा करते हैं, कुछ नहीं करते वहां भी शक्ति भेदसे चारित्र मोहके अधिक भेद होने चाहिये ! इस लिये जहां जातिभेद होता है वहीं पर संख्या भेद भी होता है यहां पर जातिभेद नहीं है। जहां पर जिस जातिकी कषाय है वहां पर उसी जातिका व्रताभाव–असंयत है।

कषाय और असंयमका लक्षण—

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३१ ॥

अर्थ—जीवके कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है यही कषायका लक्षण है। तथा जीवके व्रत रहित भावोंका नाम ही असंयम है। भावार्थ–कषायका स्वरूप गोमट्टसारमें भी इस प्रकार कहा है " सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स, संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति। सम्मत्तदेससयल चरित्तजहखाद् चरण परिणा॥ घादंति वा कषाया चउसोल असंख-लोगमिदा " जिस प्रकार कोई किसान एक बीघा, दो बीघा दश बीघा खेतको जोतता है, जोतनेके पीछे उसमें धान्य पैदा करता है। उसी प्रकार यह कषाय तो किसान है, जीवका कर्मरूपी खेत है, उस खेतकी अनन्त संसार हद (मर्यादा) है, उस खेतको यह कषायरूपी किसान बराबर जोतता रहता है, फिर उससे सांसारिक सुख दु खरूपी धान्य पैदा करता है। अर्थात् जो जीवके परिणामोंको हलके समान कषता रहे उसे, कषाय कहते हैं। अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र रूप जीवके शुद्ध परिणामोंको जो घाते उसे कषाय कहते हैं। कषायें चार हैं–(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ। ये चारों ही क्रमसे चार चार प्रकारके होते हैं उनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं–एक तो ऐसा क्रोध जैसे कि पत्थर पर रेखा। एक ऐसा जैसे पृथ्वी पर रेखा। एक ऐसा जैसे धूलिपर रेखा। एक ऐसा जैसे पानीपर रेखा। पत्थर पर की हुई, रेखा गाढ़ होती है, बहुत काल तक तो ऐसी ही बनी रहती है। पृथ्वीपर की हुई उससे कम कालमें नष्ट होजाती है, इसी प्रकार धूलि और जल-रेखायें क्रमसे अति शीघ्र मिट जाती हैं। क्रोध कषायका यही भेद क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य देवगतियोंमें जीवको लेजाता है। जैसे क्रोधकी तीव्रमन्दादिकी अपेक्षासे चार शक्तियां है उसी प्रकार मान, माया, लोभ की हैं। मानके दृष्टान्त–पर्वत, हड्डी, काठ, बेंत। मान कषायको कठोरताकी उपमा दी गई है। पर्वत बिल्कुल सीधा रहता है थोड़ा भी नहीं मुड़ता। इसी प्रकार तीव्र मानी सदा पर्वतके समान कठोर और सीधा रहता है, इससे कम दर्जेवाले मानीको हड्डीकी उपमा दी है। हड्डी यद्यपि कठोर है तथापि पर्वतकी अपेक्षा कम

१ गाठ क्रमसे बहुत कम कठोरता है। ये चारो मान कषायें भी क्रमसे नरकादि

है। मायाको वक्रता (कुटिलता–टेढ़ापना–मुड़ा हुआ) की उपमा

दी है उसके दृष्टान्त ये हैं—वेणुके नीचेका भाग, भैंसका सींग, गौका मूत्र, खुरपा। वेणुके नीचेका भाग बहुत गांठ गंठीला होता है। तथा उत्तरोत्तर कम कुटिलता है। ये चारों माया कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। लोभकी चिक्कणतासे उपमा दी है। उसके दृष्टान्त ये हैं—कृमि राग, अर्थात् हिरमिजीका रंग पहियेकी ओंगन, शरीरका मल, हल्दीका रंग। ये चारों लोभ कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। जीवके व्रत रहित भावोंका नाम असंयम है, किन्हीं परिणामोंमें यह जीव अष्टमूल गुणोंको भी धारण नहीं कर सक्ता है। किन्हीं परिणामोंमें अष्ट मूल गुणोंको धारण कर लेता है परन्तु अणुव्रतोंको नहीं धारण कर सक्ता है। कहींपर अणुव्रतोंको तो धारण कर लेता है परन्तु उनके अतीचारोंको नहीं छोड़ सक्ता है। कहीं पर महाव्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है। जब तक असंयम भावका उदय रहता है तब तक आत्मा व्रतोंको धारण करनेके लिये तत्पर नहीं होता है।

कषाय और असंयमका कारण—

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि॥ ११३७॥

अर्थ—कषाय भाव और असंयम भावका कारण—दो शक्तियोंको धारण करनेवाला केवल चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है। किसी दूसरे कर्मका उदय इन दोनोंमें सर्वथा कारण नहीं है।

दोनों साथ ही होते हैं—

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोस्य तथोदयात्॥ ११३८॥

अर्थ—कषायभाव और असंयतभाव ये दोनों साथ साथ होते हैं, क्योंकि समान दो शक्तियोंको धारण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मका उदय ही वैसा होता है।

दृष्टान्त—

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः॥ ११३९॥

अर्थ—दो शक्तियोंको धारण करनेवाले कर्मके उदयसे एक साथ दो भाव उत्पन्न होते हैं इस विषयमें अनन्तानुबन्धी कषायका दृष्टान्त भी है—सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्रको घात करने रूप दो शक्तियोंको धारण करनेवाली अनन्तानुबन्धि कषाय जिस समय उदयमें आती है उस समय सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों ही गुण नष्ट हो जाते हैं।

शङ्काकार—

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात्।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ॥ ११४०॥

अर्थ—जब कि अप्रत्याख्यानके उदयसे देशव्रतकी और प्रत्याख्यानके उदयसे महाव्रतकी क्रम क्रमसे क्षति होती है तब अप्रत्याख्यानके उदय समयमें महाव्रत क्यों नहीं हो जाता क्योंकि उस समय महाव्रतको रोकनेवाला प्रत्याख्यानका तो उदय रहता ही नहीं और यदि अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय माना जाय तो दोनोंका क्रमक्रमसे उदय क्यों कहा है ?

उत्तर—

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ ११४१ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यानके उदयकालमें महाव्रत नहीं होता और पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानके उदयका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानका उदय रहता है इसलिये कथंचित् क्रमसे उदय कहा जाता है तथा अप्रत्याख्यानका उदय कहनेसे प्रत्याख्यानका भी उदय आजाता है क्योंकि अप्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्व प्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्वके साथ अविनाभावी हैं, अर्थात् प्रत्याख्यानके बंधोदय सत्त्वके बिना अप्रत्याख्यानके बंध उदय सत्त्व नहीं होसकते। इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनोंका उदय रहते हुए भी अप्रत्याख्यानका उदय कहनेमें कोई दोष नहीं आता। अविनाभावी पदार्थोंमें एकका कथन करनेसे दूसरेका कथन स्वयं होजाया करता है। यहां यह शंका होसकती है कि जब अन्यतरका ही (किसी एकका) प्रयोग करना इष्ट है तब अप्रत्याख्यानके स्थानमें प्रत्याख्यानका ही प्रयोग क्यों नहीं किया जाता अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यानके उदयसे प्रत्याख्यानके उदयका बोध होता है उसी प्रकार प्रत्याख्यानका [illegible] उदयका भी बोध हो जाना चाहिये परंतु इसका उत्तर यह है [illegible]

[illegible] प्रत्याख्यानका उदय अप्रत्याख्यानके उदयके बिना भी रह जाता है। इसलिये [illegible] जगह प्रत्याख्यानका प्रयोग नहीं होसकता।

असिद्धत्वभाव—

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४२ ॥

अर्थ—असिद्धत्वभाव भी औदयिक भाव है। यह भाव आठों कर्मोंके उदयसे होता है। भिन्न २ कर्मोंके उदयसे भी होता है और आठों कर्मोंके सम्मिलित उदयसे भी होता है।

सिद्धत्वगुण—

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम्॥ ११४३॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित पुरुषकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्धत्वगुण अथवा सिद्धावस्था है। वह अवस्था ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्यादि आठ गुण स्वरूप है। भावार्थ—ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानगुणको ढक रक्खा है। जीवोंमें ज्ञानकी जो न्यूनाधिकता पाई जाती है वह ज्ञानावरण कर्मकी न्यूनाधिकताके निमित्तसे ही पाई जाती है। मूर्खोंसे विद्वानोंमें, विद्वानोंसे महाविद्वानोंमें ज्ञानका आधिक्य पाया जाता है उनसे ऋषियोंमें, तथा उनसे महर्षियों और गणधरोंमें ज्ञानका आधिक्य उत्तरोत्तर होता गया है परन्तु यह सब ज्ञान क्षयोपशमरूप ही है। जहां पर ज्ञानावरणरूपी पर्दा सर्वथा हट जाता है वहीं पर यह आत्मा समस्त लोकालोकको जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाता है। उस सर्वज्ञ-ज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायें साक्षात् झलकती हैं। हर एक आत्मामें सर्वज्ञ—ज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति है परन्तु ज्ञानावरण कर्मने उस शक्तिको मेघोंसे ढके हुए सूर्यके समान छिपा दिया है। इसी प्रकार दर्शन गुणको दर्शनावरण कर्मने ढक रक्खा है। संसारमें जो जीव देखे जाते हैं उनमें कितने तो ऐसे हैं जो केवल पदार्थोंको छूना ही जानते हैं, उनके मुह, नाक, आंख, कान, नहीं होते, दृष्टान्तके लिये वृक्षको ही ले लीजिये। वृक्षके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसीसे वह पानीका स्पर्श कर वृद्धि पाता है। इसी कोटिमें पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वाले जीव भी हैं। इन जीवोंके पृथिवी आदि ही शरीर हैं इसलिये हम सिवा उस पृथ्वी जल आदि स्थूल शरीरके उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते हैं। उन जीवोंकी चेतना कर्मोंसे गहरी आच्छादित है इसलिये केवल वृक्ष पर्वतादिकी वृद्धिसे उनका अनुमान कर लेते हैं। कुछ जीव पदार्थोंको छूते हैं और चखते हैं। उनके पहले जीवोंकी अपेक्षा एक मुंह (रसना इन्द्रिय) अधिक है। इन जीवोंकी चेतना कर्मोंके कुछ मंद होनेसे पदार्थके रसका अनुभव भी कर सक्ती है। कुछ जीवोंमें पदार्थोंकी गन्ध जाननेकी भी शक्ति है ऐसे जीवोंके नासिका इन्द्रिय भी होती है इस श्रेणीमें चींटियां, मकोड़े आदि जीव आते हैं। इन जीवोंके आंखे कान नहीं होते हैं। भ्रमर, बरैं, मक्खी आदि जीव देख भी सके हैं। और कुछ जीव सुन भी सके हैं। और कुछ जीव ऐसे होते हैं जो मनमें पदार्थोंका अनुभव भी करते हैं। इस श्रेणीमें मनुष्य पशु आदि आते हैं। यहांपर विचारनेकी यह बात है कि जैसे मनुष्य आंखसे जितना देखता है क्या वह उतनी ही देखनेकी शक्ति रखता है! नहीं, वह सम्पूर्ण आत्मासे समस्त पदार्थोंके देखनेकी शक्ति रखता है, परन्तु देखता क्यों नहीं! देखता इस लिये नहीं, कि वह आख रूपी झरोखेसे परतन्त्र हो रहा है। दर्शनावरण कर्मने

उसके दर्शन गुणको ढक दिया है केवल थोड़ासा क्षयोपशम होनेसे वह आंख रूपी झरोखेसे देख सक्ता है। जिन जीवोंके इतना भी क्षयोपशम नहीं होता वे विचारे इतना भी नहीं देख सके अर्थात् उनके आंख भी नहीं होती, जैसा कि पहले कहा गया है। इसका दृष्टान्त स्पष्ट ही है जैसे एक आदमी बंद मकानमें बंद कर दिया जाय तो वह बाहरकी वस्तुओंको नहीं देख सका है। परन्तु उस मकानकी यदि एक खिड़की खोल दी जाय तो वह खिड़कीके सामने आये हुए पदार्थोंको देख सक्ता है यदि दूसरी खिड़की भी खोल दी जाय तो उसके सामने आए हुए पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है। इसी प्रकार पूर्व पश्चिमकी तरह उत्तर दक्षिणकी तरफकी खिड़की भी यदि खोल दी जाय तो उधरके पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है। यदि सब मकानकी भित्तियोंको गिरा दिया जायं और चौपट कर दिया जाय तो वह आदमी चारों ओरके पदार्थोंको देख सक्ता है। दूसरा दृष्टान्त दर्पणका ले लीजिये। एक विशाल दर्पण पर यदि काजल पोत दिया जाय तो उसमें सर्वथा मुंह दिखाई नहीं देता है। परन्तु उसी दर्पण पर एक अंगुली फेर कर उसका अंगुलीके बराबरका भाग स्वच्छ कर दिया जाय तो उतने ही भागमें दीखने लगेगा। यदि दो अंगुली फेरी जायँ तो कुछ अधिक दीखने लगेगा इसी प्रकार तीन चार पांच अंगुलियोंके फेरनेसे बहुत अच्छा दीखने लगेगा। कपड़ेसे अच्छी-तरह पूरे दर्पणको साफ कर दिया जाय तो सर्वथा स्पष्ट और पूर्णतासे दीखने लगेगा। इसी प्रकार आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेकी शक्ति है परन्तु दर्शनावरण कर्मने उस शक्तिको ढक रक्खा है। उसीके निमित्तसे आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखोंके बन्धनमें पड़कर पदार्थको स्पष्टतासे नहीं देख सक्ता है। और न सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थको ही देख सक्ता है। आत्मा जब दर्शनावरण कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है तब वह इन्द्रियोंकी सहायतासे नहीं देखता है, किन्तु आत्मासे साक्षात् देखने लगता है उसी समय अखिल पदार्थोंका वह प्रत्यक्ष भी कर लेता है जैसे कि खिड़कीसे देखनेवाला मकानको फोड़ देनेसे खिड़कियोंकी सहायताके बिना आसपासके समस्त पदार्थोंको देख लेता है। वेदनीय कर्म अनेक प्रकारसे सांसारिक सुख दुःख देता रहता है। यद्यपि वेदनीय कर्म अघातिया है तथापि रति कर्म और अरति कर्मका सम्बन्ध होनेके कारण वह आत्माको आघात पहुंचाता है* इसीलिये वेदनीय कर्मका पाठ घातिया कर्मोंके बीचमें दिया है। जबतक वेदनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा सांसारिक सुख दुःखकी बाधासे बाधित रहता है। वेदनीय कर्मके दो भेद हैं (१) साता (२) असाता। असाताके उदयसे तो इस जीवको असाता होती ही रहती है परन्तु साताके उदयसे भी साता होती है वास्तवमें वह भी असाता ही है। संसारी जीव सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता है इसलिये

* ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें रति अरतिका उदय न होनेसे वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सका।

साताके उदयसे जो सुखसा प्रतीत होने लगता है उसे ही वह सच्चा सुख समझता है। वास्तवमें वह सुख नहीं है किन्तु दुःखकी कमी है। सांसारिक सुखका उदाहरण ऐसा है जैसे किसी आदमीमें कोई मुद्गरकी मार लगावे और लगाते २ थक जाय तो उस समय पिटनेवाला समझता है कि अब कुछ साता मिली है। ठीक इसी प्रकार दुःखकी थोड़ी कमीको ही वह जीव सुख समझने लगता है। सांसारिक सुखके विषयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है 'कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।' अर्थात् (१) सांसारिक सुख कर्मोंके अधीन हैं। जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तभी तक है। (२) इसी लिये उसका अन्त भी शीघ्र हो जाता है (३) बीच बीचमें उसके दुःख भी आते रहते हैं (४) और पापका बीज है अर्थात् जिन बातोंमें संसारी सुख समझता है वे ही बातें पापबन्धकी कारणभूत हैं इसलिये सांसारिक सुख दुःखका कारण अथवा दुःख रूप ही है। वेदनीय कर्मका अभाव हो जानेसे आत्मा अव्याबाध गुणका भोक्ता हो जाता है। आत्माके उस निराकुल स्वरूप अव्याबाध (बाधा रहितपना) गुणको वेदनीय कर्मने ढक रक्खा है मोहनीय कर्मके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। आठों कर्मोंमें एक यही कर्म अनर्थोंका मूल है। यह कर्म सब कर्मोंका राजा है। यही आठों कर्मोंके बन्धका कारण है। मोहनीय कर्ममें दूसरे कर्मोंसे एक बड़ी विशेषता यही है कि दूसरे गुण तो अपने प्रतिपक्षी गुणोंको ढकते ही हैं परन्तु मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको विपरीत स्वादु बना देता है। यह कर्म आत्माके प्रधान गुण सम्यक्त्व और चारित्रका घात करता है। इसी कर्मने जीवोंको कुपथगामी—भ्रष्ट—अनाचारी तथा रागी द्वेषी बना रक्खा है। इस कर्मके दूर हो जानेसे आत्मा परम वीतराग—शुद्धात्मानुभवी हो जाता है। आयु कर्म बेड़ीका काम करता है। जिस प्रकार किसी दोषीको बेड़ीसे जकड़ देने पर फिर वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसी प्रकार यह संसारी जीव भी गतिरूपी जेलखानोंमें आयुरूपी बेड़ीसे जकड़ा रहता है जब तक आयु कर्म रहता है तब तक इसे मृत्यु भी नहीं उठा सक्ती है। नरकगतिमें वर्णनातीत दुःखोंको सहन करता है परन्तु आयु कर्म वहांसे टलने नहीं देता है। आयु कर्मके चार भेद हैं, उनमें तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु शुभ हैं। नरकायु अशुभ है। आयु कर्मके उदयसे यह जीव कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है परंतु अपने वास्तविक स्वरूपका अवगाहन नहीं करता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें नहीं ठहर पाता है। इसलिये आयुकर्मने जीवके अवगाहन गुणको छिपा रक्खा है।

नाम कर्मने आत्माके सूक्ष्मत्व गुणको रोक रक्खा है। इस कर्मके उदयसे आत्मा गति, जाति, शरीर, अंग, उपांग, आदि अनेक प्रकारके अनेक रूपोंको धारण करता हुआ स्थूल पर्यायी बन गया है। वास्तवमें स्पर्शादिक विकारोंसे रहित—अमूर्तिक आत्माका सूक्ष्म स्वरूप

है। परन्तु नाम कर्मने उन सूक्ष्मताको छिपा दिया है। जिस प्रकार किसी कारखानेका एक इंजन अनेक कार्योंको करता है, उसी प्रकार नामकर्म भी आत्माको अनेक रूपोंमें घुमाता है। नाम कर्मकी उपमा एक बहु रूपधारी—बहुरूपियासे ठीक घटती है। जिस प्रकार बहु रूपोंको धारण करनेवाला बहुरूपिया अपने असली सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखता है, उसी प्रकार नाम कर्मने आत्माके असली—सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रक्खा है और स्थूल पर्यायोंसे उसे बहु रूप-धारी—बहुरूपिया बना रक्खा है।

आत्मा अनन्त गुणधारी, निर्विकार शुद्ध है उसमें न नीचता है और न उच्चता है वह सदा एकसा है, परन्तु गोत्र कर्मने उसे ऊंच नीच बना रक्खा है। नीच गोत्रके उदयसे वही अनन्त गुण धारी आत्मा कभी नीच कहलाने लगता है और उच्च गोत्रके उदयसे कभी उच्च कहलाने लगता है। गोत्र कर्मका कार्य गोमट्टसारमें इसप्रकार है 'संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा, उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं, अर्थात् कुल परम्परासे चला आया जो जीवका आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है। उस कुल परम्परामें यदि उच्च आचरण है तो वह उच्च गोत्र कहलाता है। यदि निंद्य हीन आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहलाता है। यद्यपि उच्च नीच गोत्रमें आचरणकी अवश्य प्रधानता है, परन्तु साथ ही कुल परम्पराकी भी प्रधानता अवश्य है। अन्यथा किसी क्षत्रिय राजाके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही उच्च कहलाने लगता है। इसी प्रकार एक चाण्डालके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही नीच कहलाने लगता है। यदि उच्च नीचका आचरणसे ही सम्बन्ध हो तो जन्म दिनसे ठीक उन्हें उत्तम और नीच क्यों समझने लगते हैं। उन्होंने अभी कोई आचरण नहीं प्रारंभ किया है। यदि कहा जाय कि उन्होंने आचारण भले ही न किया हो परन्तु उनके माता पिता तो अपने आचरणोंसे उच्च नीच बने हुए है, उन्हींके यहां जो बालक जन्म लेता है वह भी उसी श्रेणीमें शामिल किया जाता है तो सिद्ध हुआ कि साक्षात् आचरण उच्च नीचका कारण नहीं है, किन्तु कुल परम्परा ही प्रधान कारण है। गोत्र कर्मका लक्षण बताते हुए स्वामी पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी यही कहा है—यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्, जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं। और जिसके उदयसे निंद्य कुलोंमें जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते हैं। इस उच्चगोत्र नीचगोत्रके लक्षणसे यह बात स्पष्ट है कि कुल परम्परासे ही उच्चता नीचताका व्यवहार होता है। साक्षात् आचरणोंसे नहीं होता। इसका कारण भी यही है कि गोत्र कर्मका उदय वहींसे प्रारंभ होजाता है जहांसे कि यह जीव एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमें जाने लगता

है। अर्थात् विग्रहगतिमें ही उच्च अथवा नीच कर्मका उदय प्रारंभ होजाता है, और जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही इस जीवको पर्याय मिलती है इसीलिये-उस कर्मोदयके कारण ही उस जीवको जन्म समयसे ही संसार उच्च नीचका व्यवहार करने लगता है। लोकमें यह व्यवहार भी प्रसिद्ध है कि कोई आदमी यदि ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर शिल्पीका कार्य करने लगे तो लोग उसे यही कह कर पुकारते हैं कि यह जातिका तो ब्राह्मण है परन्तु हीन कर्म करता है, उसे हीन कर्म करते हुए भी उस पर्यायमें शूद्र कोई नहीं कहता है। यदि साक्षात् आचारणोंसे ही वर्ण व्यवस्था मान ली जाय तो उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मका उदय ही निरर्थक है। कर्मोदयको निरर्थक मान लेनेसे संसारका सब रहस्य ही उठ जाता है। आयु कर्मका बन्ध नित्य होता है वह छूटता नहीं है और जीवको उस पर्यायमें नियमसे ले जाता है। यदि इसको भी अकिंचित्कर समझ लिया जाय तो फिर जीवका घूमना ही बन्द हो जाय परन्तु जब तक कर्म हैं तब तक ऐसा होना असंभव है। वे अपना शुभाशुभ फल देते ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि एक मनुष्यने जीवनभरमें कोई काम न किया हो, वैसे ही पड़े २ आनंदसे जीवन विताया हो तो उस जीवनमें संसार उसे किस वर्णका कहकर पुकारेगा ? उससे उच्चताका व्यवहार किया जायगा या नीचताका ? क्योंकि उसने साक्षात् आचरण तो कोई किया नहीं है। विना साक्षात् आचरणके वर्ण व्यवस्था नहीं माननेवालोंके मतसे उसे वर्ण रहित कहें अथवा चारों वर्णोंसे अतिरिक्त कुछ हीन-पञ्चमवर्णवाला, कहें ? क्योंकि उसके साथ उच्चता अथवा नीचताका कुछ न कुछ व्यवहार करना ही होगा। उस व्यवहारका आधार वहां आचरण तो है नहीं, इसलिये विना कुल परम्परासे आई हुई उच्चता नीचताको स्वीकार किये किसी प्रकार काम नहीं चल सकता। जो लोग कुलागत वर्ण व्यवस्थाका लोप करते हैं वे अविचारितरम्य-कर्म विजयी साहसी हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग भी माता पिताको उपदेश देते हुए कहा करते हैं यदि तुम योग्य पुत्र चाहते हो तो अपने भाव उत्तम रक्खो, तुम्हारे जैसे भाव होंगे पुत्रमें भी वे भाव होंगे, इस उपदेशसे स्वभावकृत संस्कारोंका ही प्राधान्य सिद्ध होता है।* इसलिये गुण कर्मसे नहीं,

* यदि स्वभावकृत उच्चता नीचता न हो, और आचारोंके कारणसे ही मानी जाय तो भारतवासी क्यों [illegible] घानी-[illegible] [illegible] [illegible] पालते हैं ? इसीलिये न, कि वे स्वभावसे उच्चपनेका [illegible] देते हैं। स्वभावसे जैसे कुलमें यह जीव उत्पन्न होता है वैसे संस्कार [illegible] पड़ने लगता है, इस विषयमें एक दृष्टान्त है कि किसी ब्राह्मणने एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] उसे [illegible] होनेके कारण [illegible] किया। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

किन्तु स्वभावसे ही गोत्र व्यवस्था न्यायसङ्गत है। परम्परा गुण कर्म भी कारण हैं। इस प्रकारकी उच्चता और नीचता इस गोत्र कर्मके कारण ही आत्मा प्राप्त करता है, गोत्र कर्मके अभावमें वह अगुरुलघु है। न तो बड़ा है और न छोटा है, यह छोटा बड़ा उच्च नीच व्यवहार कर्मसे होता है। गोत्र कर्मने आत्माके उस अलौकिक अगुरुलघु गुणको छिपा दिया है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तिको नष्ट कर रक्खा है। वीर्य शक्ति आत्माका निज गुण है, उसीको आत्मिक बलके नामसे पुकारा जाता है। शारीरिक बल और आत्मिक बलमें बहुत अन्तर है। शारीरिक बलवालोंसे जो कार्य नहीं हो सके हैं वे आत्मिक बल वालोंसे अच्छी तरह हो जाते हैं। योगियोंमें यद्यपि शारीरिक बल नहीं है वे तपस्वी हैं साथ ही क्षीण शरीरी भी हैं परन्तु आत्मिक बल उनमें बहुत बड़ा हुआ है उसीका प्रभाव है कि वे इतने साहसी हो जाते हैं कि सिंहोंसे भरे हुए अति भयानक जंगलमें निर्भय होकर ध्यान लगाते हैं। यह उनके आत्मिक बलका ही परिणाम है। बहुतसे विद्वान् मानसिक बलको ही आत्मीक बल समझते हैं उन्हें यह पूंछना चाहिये कि वह मानसिक बल ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तब तो सिद्ध हो चुका कि ज्ञानसे बल दूसरा गुण है, परन्तु ज्ञानमें वह सहायक अवश्य है, उसीके निमित्तसे मानसिक ज्ञानमें उसकी उपचरित कल्पना कर ली जाती है। जितनी जिसकी आत्मिक बल शक्ति प्रबल है उतना ही उसका ज्ञान भी पुष्ट होता है यदि ज्ञानसे वह अभिन्न है तो उसमें बल शब्दका प्रयोग किस आशयसे किया जाता है? इसलिये यह बात निर्धारित है कि ज्ञानसे अतिरिक्त एक वीर्य नामा भी आत्माकी शक्ति है। उस शक्तिका शारीरिक बलसे सम्बन्ध अवश्य है। बाह्य शक्ति अन्तरंग शक्तिमें सहायक है। आत्मा जितना किसी पदार्थका ज्ञान करता है उतनी अन्तरंग बल शक्ति भी साथ ही उसमें सहायता पहुंचाती है। इसीलिये आचार्योंने

जंगलमें निकल गये, वहां हाथियोंका झुण्ड देखकर उनपर वे सिंहनीके बच्चे, सिंह टूट पड़े, परन्तु उस भयास्पद कौतुकसे गीदड़ डरकर पीछे भागा। सिंहनीके बच्चे भी अपने बड़े भाईको लौटता हुआ देख छोड़ तो पड़े परन्तु उनसे न रहा गया, वे माताके बोले मा! आज हमें बड़े भाईने हाथियोंकी शिकारसे रोक दिया है यह ठीक नहीं किया है। सिंहनीने मनमें सोचा कि इसका कुल तो गीदड़ोंका है इसलिये इसमें डरपोक स्वभाव मेरे पास रहनेपर भी आ ही जाता है। उसने एकान्तमें उस गीदड़को बुलाकर उसे शिक्षा रूप उपदेश दिया "शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक। यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते" हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान् है, देखनेमें योग्य है, परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है उस कुलमें हाथी नहीं मारे जाते इसलिये तू यहांसे ही अब चला जा, अन्यथा ये मेरे बच्चे तुझे यहां तक बचाये रक्खेंगे। तात्पर्य यही है कि कुलका असर शिक्षा ही विद्यावान् क्यों न हो, आ ही जाता है। यह उस श्लोकमें नहीं लिखा।

केवलज्ञानके अन्तर्गत अनन्त वीर्यका सद्भाव बतलाया है। जहां पर आत्मामें वह अनन्त वीर्य शक्ति प्रकट हो जाती है वहां फिर शारीरिक बलकी उसे आवश्यकता नहीं पड़ती है। उस अनन्त वीर्य शक्तिको अन्तराय कर्मने रोक रक्खा है। जितना २ अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही आत्मिक बल क्षयोपशम रूपसे संसारी जीवोंमें पाया जाता है। उसी अन्तराय कर्मके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पांच भेद हैं। किसी सेठके यहां बहुतसा धन भी है परन्तु उसके देनेके परिणाम नहीं होते, समझना चाहिये उसके दानान्तराय कर्मका उदय है। दो आदमी एक दिन और एक ही साथ व्यापार करने निकलते हैं, एक उसमें हानि उठाता, एक लाभ उठाता है, समझना चाहिये कि एकका अन्तराय कर्म तीव्र है, एकका मन्द है। भोग्य-योग्य सामग्री रक्खी हुई है परन्तु उसे किसी कारणसे भोग नहीं सका है, समझना चाहिये उसके भोगान्तराय कर्मका उदय है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तियोंको रोक रक्खा है। इस प्रकार आठों ही कर्मोंने आत्माकी अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंको छिपा दिया है इसलिये आत्माकी असली अवस्था प्रकट नहीं हो पाती। आत्मा अल्पज्ञानी नहीं है, अल्पदर्शी भी नहीं है, मिथ्या दृष्टिभी नहीं है, दुःखी भी नहीं है, शरीरावगाही भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है, छोटा बड़ा भी नहीं है, और अशक्त भी नहीं है, किन्तु वह अनन्त ज्ञानी-सर्वज्ञ है, सम्यग्दृष्टि है, सर्वदर्शी है, अनन्त शक्तिशाली है, सूक्ष्म है, अगुरुलघु है, आत्मावगाही है, अव्याबाध-बाधा रहित है। इन्हीं अचिन्त्य शक्तियोंसे जब आत्मा विकसित होने लगता है अर्थात् जब वे आठ गुण उसके प्रकट हो जाते हैं तभी वह सिद्ध कहलाने लगता है। आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्ध है। अथवा ज्ञानादि-शक्तियोंके पूर्ण विकाशका नाम ही सिद्ध है। इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी शुद्धावस्था-सिद्धावस्थाको छोड़ कर मोक्ष और कोई पदार्थ नहीं है। कर्म मल कलङ्कसे रहित आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं * जब तक कर्मोंका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा शुद्ध नहीं कहा जा सकता। अर्हन्त देवके यद्यपि घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे स्वाभाविक गुण प्रकट हो गये हैं परन्तु अघातिया कर्मोंके सद्भावसे प्रतिजीवी गुण प्रकट नहीं हुए हैं इसलिये अभी तक उन्हें संसारवासी ही कहा जाता है। [illegible]

* [illegible]

कुछ सुख दुःख नहीं पहुंचा सक्ता है क्योंकि उसके परम सहायक मोहनीय कर्मको वे नष्ट कर चुके हैं, अपने सखाके वियोगमें वेदनीय भी सर्वथा क्षीण हो चुका है + तथापि योगके निमित्तसे अभी तक कर्मोंका आना जाना लगा हुआ है, यद्यपि अब उन कर्मोंको आत्मामें स्थान नहीं मिल सक्ता है, स्थान देनेवाली आकर्षण शक्तिको तो वे पहले ही नष्ट कर चुके हैं तथापि योगद्वारके खुले रहनेसे अभी तक वेदनीयके आने जानेकी बाधा सी (वास्तवमें कुछ बाधा नहीं है) लगी हुई है। इस प्रकार अघातिया कर्मोंने आत्माकी प्रतिजीवी शक्तियोंको × छिपा रक्खा है। और घातिया कर्मोंने इसकी अनुजीवी शक्तियोंको छिपा रक्खा है। उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि आठों ही कर्मोंके उदयसे औदयिक भाव होता है और उनके अभावमें आत्मा सिद्ध हो जाता है। •

+ णट्ठा य राय दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥
गोम्मटसार।

अर्थात् केवली भगवानके (अर्हन्तके) रागद्वेष सर्वथा नष्ट हो चुका है इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नष्ट हो चुका है, इसलिये उनके साता असाता वेदनीयसे होनेवाला इन्द्रियजन्य सुखदुःख नहीं होता है।

× सत्तात्मक गुणत्व रहित—कर्मोंके अभावसे होनेवाली अवस्थाओं [illegible]

• अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥
गोम्मटसार।

अर्थ—सिद्धोंका स्वरूप इस प्रकार है—(१) अष्टकर्म रहित (२) [illegible] (३) रागद्वेष [illegible] (४) [illegible] (५) अष्टगुण सहित (६) [illegible] (७) लोकाग्रभागमें निवास करनेवाले। [illegible]

जब तक संसार है सिद्धावस्था नहीं होती—

नेदं सिद्धत्वमेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११४४ ॥

मुख प्रकट होजाता है-इसीलिये सिद्धोंका परम शान्त-परम सुखी ऐसा विशेषण दिया है। मस्करी-मस्करपूर मतवाले मुक्त जीवका फिर संसारमें आना स्वीकार करते हैं इसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण-निरञ्जन दिया है, अब उनके रागद्वेष अञ्जन नहीं है इसलिये अब वे कभी कर्मोंके जालमें नहीं आ सकते हैं। कर्मोंका कारण राग द्वेष है। जब कारण ही नहीं तो कार्य भी किसी प्रकार नहीं हो सक्ता है। इसलिये एकवार मुक्त हुए जीव फिर कभी नहीं संसारमें लौटते। आर्य समाज भी मुक्त जीवका लौटना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भी मिथ्या है। बौद्ध दर्शन मुक्त जीव (पदार्थ मात्र) को क्षणिक मानता है परन्तु सर्वथा क्षणिकता सर्वथा बाधित है, सर्वथा क्षणिक मानने पर मुक्ति संसार आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती है इसीलिये सिद्धोंका नित्य विशेषण दिया है। सिद्ध सदा नित्य है वे सदा सिद्ध पर्यायमें ही रहेंगे। उनमें अनित्यता कभी नहीं आसक्ती है। योगदर्शन मुक्त जीवको निर्गुण मानता है, नैयायिक और वैशेषिक भी मुक्त जीवके बुद्धि सुखादि गुणोंका नाश मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जीव गुण स्वरूप ही है। गुणोंका नाश माननेसे जीवका ही नाश हो जाता है। दूसरें-गुण नित्य होते हैं उनका नाश होना ही असंभव है। तीसरे-उक्त दर्शनवाले ही जीवका और गुणोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं और समवाय सम्बन्ध उन्हींके मतमें नित्य स्वीकार किया है, नित्य भी कहना और नाश भी कहना स्वयं उनके मतसे ही उनका मत बाधित करना है। इसलिये गुणोंका सिद्धोंमें नाश नहीं होता किन्तु उनमें गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाते हैं इसीसे सिद्धोंका 'अष्ट गुणसहित' विशेषण दिया है। ईशान मतवाले मुक्त जीवको कृतकृत्य नहीं मानते हैं अर्थात् मुक्त जीवको भी अभी काम करना बाकी है ऐसा उनका सिद्धान्त है इसी सिद्धान्तके अन्तर्गत ईश्वरको सृष्टि कर्ता माननेवाले आते हैं। परन्तु शरीर रहित, इच्छा रहित, क्रिया रहित मुक्त जीवके सृष्टिका करना हरना कुछ नहीं हो सक्ता है। सृष्टि सदासे है। उसका करना, हरना भी असिद्ध ही है। और उपर्युक्त तीन बातोंसे रहित मुक्त जीवके भी उसका करना, हरना असिद्ध है। इसीलिये सिद्धोंका 'कृतकृत्य' विशेषण दिया है। सिद्ध सदा वीतराग-अलौकिक-आत्मोत्थ-परमानन्दका आस्वादन करते हैं उन्हें कोई कार्य करना नहीं है। मण्डली नामक सिद्धान्त मुक्त जीवको सदा ऊर्ध्वगमन करता हुआ ही मानता है अर्थात् मुक्त जीव जबसे ऊपर गमन करता है तबसे बराबर करता ही रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। इस सिद्धान्तका निराकरण-'लोकाग्रनिवासी, इस विशेषणसे हो जाता है। जहां तक धर्म द्रव्य है वहीं तक अनंत शक्ति होनेके कारण एक समयमें ही मुक्त जीव चला जाता है, धर्म द्रव्यके अभावसे आगे नहीं जा सक्ता। धर्म द्रव्य लोक तक है इसलिये सिद्ध जीव लोकाग्रमें ठहर जाते हैं।

अर्थ—जब तक महा अनर्थोंका घर संसार ही इस जीवका सब कुछ है। तब तक इसके सिद्धपना नहीं होता है किन्तु असिद्धत्व रहता है भावार्थ—जब तक इस जीवके आठ कर्मोंका सम्बन्ध है तब तक इसके सिद्ध पर्याय नहीं होती है। जीवकी अशुद्ध पर्याय संसारावस्था है। इसके छूटने पर उसकी शुद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है। उसीका नाम सिद्ध पर्याय है।

लेश्या-भाव—

लेश्या षड्डेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४९ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेद हैं—१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल। इन्हीं छह भेदोंसे लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीवके औदयिक भाव हैं। क्योंकि लेश्यायें योग और कषायोंके उदयसे होती हैं। कर्मोंके उदयसे होनेवाले आत्माके भावोंका नाम ही औदयिक भाव है। भावार्थ—कषायोंके उदयसे रंजित योग प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। गोमट्टसारमें भी लेश्याका लक्षण इसी प्रकार है—जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होई। ततो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं मुद्दिट्ठं। अर्थात् कषायोंके उदयसे अनुरंजित [illegible] योगोंकी प्रवृत्तिका नाम ही लेश्या है। कर्मके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम [illegible] है [illegible] अंगोपांग और शरीर नाम कर्मके उदयसे मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और [illegible] वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाका [illegible] है उसीका नाम योग है। उस योगके [illegible] भेद हैं (१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) [illegible] योगका भाव भी [illegible] होता है [illegible] है। इतना विशेष है कि एक समयमें [illegible] लेश्यात्व होते हैं। [illegible]

[illegible]

अगृहीत–जिनको पहले कभी ग्रहण नहीं किया था (३) गृहीतागृहीत जिनमेंसे कुछको पहले ग्रहण किया था, कुछको नवीन ग्रहण किया है। योगके साथ ही कषायोंका उदय रहता है। वह आए हुए कर्मोंमें स्थिति अनुभाग बन्ध डालता है। आये हुए कर्म–आत्माके साथ बँधे हुए कर्म कितने काल ठहरेंगे, और उनमें कितना रस पड़ा है यह कार्य कषायोंका है। अर्थात् कर्मोंमें नियमित काल तक स्थिति डालना और उनकी रस शक्तिमें हीनाधिकता करना कषायोंका कार्य है। जिस प्रकार योगोंकी तीव्रतासे अधिक कर्मोंका ग्रहण होता है उसी प्रकार कषायोंकी तीव्रतासे कर्मोंमें स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अधिक पड़ता है। मन्द कषायोंसे मन्द पड़ता है। इस प्रकार प्रकृतिबंध * प्रदेशबंध योगसे होते हैं। स्थिति बंध अनुभाग बन्ध कषायसे होते हैं। योग कषायके समुदायका नाम ही लेश्या है। इसलिये लेश्या ही चारों बंधोंका कारण है। लेश्याके दो भेद हैं (१) भावलेश्या (२) द्रव्यलेश्या। वर्णनाम कर्मके उदयसे जो शरीरका रंग होता है उसे ही द्रव्य लेश्या कहते हैं। द्रव्य लेश्या जन्म पर्यन्त एक जीवके एक ही होती है। जिसका जैसा शरीरका रंग होता है वही उसकी द्रव्य लेश्या समझनी चाहिये। द्रव्य लेश्याके रंगोंके भेदसे अनेक भेद होजाते हैं। स्थूलतासे द्रव्य लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसे छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं। वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणि (नीलम) के समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोती लेश्या, सुवर्णके समान पीत लेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्ललेश्या होती है। इनमें प्रत्येकके [illegible] अपेक्षासे अथवा मिश्रकी अपेक्षासे अनेक भेद हैं। तथा इन्द्रियों-के [illegible] अपेक्षासे असंख्यात भेद हैं। स्कन्धोंकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। परमाणुओंकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। [illegible] अपेक्षासे सामान्य रीतिसे द्रव्यलेश्याका [illegible] है–[illegible] कृष्णलेश्या ही होती है। [illegible]

* [illegible]

गई है। वास्तवमें लेश्याओंका सद्भाव दशवें गुणस्थानतक ही है क्योंकि वहीं तक कषायोंके उदय सहित योगोंकी प्रवृत्ति है। ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोदय न होनेसे लेश्याओंका लक्षण ही नहीं जाता है। इसलिये ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्या कही गई है * उपचारका भी यह कारण है कि इन गुणस्थानोंमें अभी योग प्रवृत्तिका सद्भाव है। यद्यपि कषायोदय नहीं है तथापि दशवें गुणस्थान तक कषायोदयके साथ २ होनेवाली योग प्रवृत्ति अब भी है। इसलिये योग प्रवृत्तिके सद्भावसे तथा भूत पूर्व नयकी अपेक्षासे उपर्युक्त तीन गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्याका सद्भाव कहा गया है + चौदहवें गुणस्थानमें योग प्रवृति भी नहीं है इसलिये वहां उपचारसे भी लेश्याका सद्भाव नहीं है। विशेष—नारकियोंके कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें ही (भावलेश्या) होती हैं। मनुष्य तिर्यञ्चोंके छहों लेश्यायें हो सकी हैं। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आदिसे पीत पर्यन्त लेश्यायें होती हैं परन्तु इनकी अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ होती हैं। तथा आदिके चार स्वर्गों तक पीत लेश्या होती है तथा पद्मका जघन्य अंश होता है। बारहवें स्वर्ग तक पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्याका जघन्य अंश होता है। इनसे ऊपर शुक्ल लेश्या होती है। परन्तु नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है। सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है। नील लेश्याका सत्रह सागर है। कापोत लेश्याका सात सागर है। पीत लेश्याका दो सागर है। पद्मलेश्याका अठारह सागर है (शुक्ल लेश्याका कुछ अधिक तेतीस सागर है। ज्यों लेश्याओं वाले जीवोंकी पहचानके लिये उन लेश्याओंवाले जीवोंके कार्य इस प्रकार हैं-कृष्ण लेश्यावाला जीव-तीव्र क्रोध करता है, वैरको नहीं छोड़ता है। युद्धके लिये सदा प्रस्तुत रहता है, धर्म, दयासे रहित होता है, दुष्ट होता है, और किसीके वशमें नहीं आता है।* नील लेश्या वाला जीव—मंद, विवेकहीन, अज्ञानी, इन्द्रियलम्पट, मानी मायावी, आलसी, अभिप्रायको छिपाने वाला, अति निद्रालु, ठग, और धन धान्य लोलुप होता है।×

* "मुख्याभावे, सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते" अर्थात् जहां पर मुख्यका अभाव हो परन्तु कोई प्रयोजन अथवा निमित्त अवश्य हो वहीं पर उपचार कथन होता है।

+ णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्व गदिणाया, अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा। गोमट्टसार।

* चंडो ण मुयइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स
▲ मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य।
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स।

कपोत लेश्यावाला जीव–क्रोधी, अन्यकी निंदा करनेवाला, दूसरोंको दोषी कहनेवाला, शोक और भय करनेवाला दूसरेकी सम्पत्ति पर डाह करनेवाला, दूसरेका तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरोंको (दुष्ट) समझनेवाला स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि लाभको नहीं समझनेवाला, रणमें मरनेकी इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवालेको धन देनेवाला, और कार्य अकार्यको नहीं समझनेवाला होता है।+ पीत लेश्यावाला जीव–कार्य अकार्य तथा सेव्य असेव्यको समझनेवाला, सबोंपर समान भाव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला होता है। • पद्म लेश्यावाला जीव–दानी, भद्र परिणामी, सुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु–गुरु पूजक होता है + शुक्ल लेश्यावाला जीव–पक्षपात रहित, निदान बन्ध नहीं करनेवाला समदर्शी इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे राग द्वेष रहित, और कुटुम्बसे ममत्व रहित होता है। छहों लेश्याओंवाले जीवोंके विचारोंके विषयमें एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है–छह पथिक जङ्गलके मार्गसे जा रहे थे, मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आमके वृक्षके पास पहुंच गये। उस वृक्षको फलोंसे भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़कर इसके आम खाऊंगा, नीललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं जड़से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता किन्तु स्कन्ध (जड़से ऊपरका भाग) से काटकर इसके आम खाऊंगा। कपोतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो बड़ी बड़ी शाखाओंको ही गिरा कर आम खाऊंगा। पीतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं छोटी छोटी शाखाओंको तोड़कर समग्र वृक्षकी हरियालीको क्यों नष्ट करूं, केवल इसकी छोटी [illegible]

+ रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं इव परं पि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि वड्ढिं वा॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स॥
+ जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥
• चागी भद्दो चोक्खो उज्जुवकम्मो य खमइ बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥
+ ण य कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स॥

गोम्मटसार।

डालियों (टहनियों) को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा। शुक्ललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि तुम तो फलोंके खानेकी इच्छासे इतना २ बड़ा आरंभ करनेके लिये उद्यत हो, मैं तो केवल वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे हुए फलोंको ही बीनकर खाऊंगा। इन्हीं लेश्यागत भावोंके अनुसार यह आत्मा आयु और गतियोंका बन्ध करता है। जैसी इसकी लेश्या (भाव) होती है उसीके अनुसार आयु और गतिका बन्ध इसके होता है। परन्तु सम्पूर्ण लेश्यागत भावोंसे आयुका बन्ध नहीं होता है किन्तु मध्यके आठ अंशों द्वारा ही होता है। अर्थात् लेश्याओंके सब छव्वीस अंश हैं। उनमें मध्यके आठ अंश ऐसे होते हैं जो कि आयु बन्धकी योग्यता रखते हैं। उन्हींमें आयुका बंध होसक्ता है। बाकीके अंशोंमें नहीं हो सक्ता। ये मध्यके आठ अंश आठ अपकर्ष कालोंमें होते हैं। अपकर्ष नाम घटनेका है अर्थात् भुज्यमान आयुके दो भाग घट जानेपर अवशिष्ट एक भागके प्रमाण अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालका नाम अपकर्षकाल है। इन्हीं कालोंमें आयुबन्धके योग्य लेश्याओंके मध्यके आठ अंश होते हैं। परन्तु जिस अपकर्षमें आयुबन्धके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश होगा उस अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा औरोंमें नहीं। इसीलिये किसीके आठों अपकर्षोंमें आयुका बन्ध होसक्ता है, किसीके सब अपकर्षोंमें नहीं होता किन्तु किसी २ में होता है। किसीके आठों ही अपकर्षोंमें नहीं होता है। जिसको आठों ही अपकर्षोंमें बन्धकी योग्यता नहीं मिलती हैं उसके आयुके अन्त समयमें एक आवलिका असंख्यातवां भाग शेष रह जाने पर उससे पहले अन्तर्मुहूर्तमें अवश्य आयु बन्ध होता है। दृष्टान्तके लिये—कल्पना करिये एक मनुष्यकी ६५६१ वर्ष की भुज्यमान (वर्तमान—उदय प्राप्त) आयु है। उसके पहला अपकर्ष काल २१८७ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इस कालके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें यदि आयुबंधके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश हो तो परभवकी आयुका बंध हो सकता है। यदि यहां पर कोई अंश न पड़े तो ७२९ वर्ष शेष रहने पर दूसरा अपकर्ष काल पड़ेगा वहां आयुका बन्ध हो सकता है। यदि वहां भी आयुबंधकी योग्यता नहीं मिले तो तीसरा अपकर्षकाल २४३ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इसी प्रकार ८१ वर्ष शेष रहने पर चौथा, २७ वर्ष शेष रहने पर पांचवा, ९ वर्ष शेष रहने पर छठा, ३ वर्ष शेष रह जाने पर सातवां और भुज्यमान आयुमें कुछ १ वर्ष शेष रह जानेपर आठवां अपकर्ष पड़ेगा। इन आठोंमें कहीं कहीं योग्यता हो जाने पर आयुका बंध हो सकता है। [illegible] हो तो [illegible] हो सकता है। यदि कहीं भी योग्यता न हो तो [illegible] आयुका बंध [illegible] [illegible]

बंध होता है। इसीलिये आचार्योंका उपदेश है कि परिणामोंको सदा उज्वल बनाओ, नहीं मालूम किस समय आयुका त्रिभाग पड़ जाय। मरण कालमेंसे तो अवश्य ही क्रोधादिका त्याग कर शान्त हो जाओ क्योंकि मरणकालमें तो आयुबंधकी पूर्ण संभावना है। इसीलिये समाधि मरण करना परम आवश्यक तथा परम उत्तम कहा गया है। *

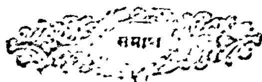
उपर्युक्त आयुबन्धके योग्य आठ अंशोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश योग्यतानुसार चारों गतियोंके कारण होते हैं। अठारह अंशोंमेंसे जैसा अंश होगा उसीके योग्य गति बन्ध होगा। शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव नियमसे सर्वार्थसिद्धि जाते हैं। उसीके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं तथा मध्यम अंशसे मरे हुए आनतसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिसे नीचे तक जाते हैं। पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव सहस्रार स्वर्ग जाते हैं उसके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग जाते हैं और मध्यम अंशसे मरे हुए इनके मध्यमें जाते हैं। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए सनत्कुमार माहेन्द्र तक जाते हैं। उसके जघन्य अंशसे मरे हुए सौधर्म ईशान स्वर्गतक जाते हैं और मध्यम अंशसे इनके मध्यमें जाते हैं। इसप्रकार इन शुभलेश्याओंके अंशों सहित मरकर जीव स्वर्ग जाते हैं। और कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतीलेश्याओंके उत्कृष्ट जघन्य मध्यम अंशोंसे मरे हुए जीव सातवें नरकसे लेकर पहले नरक तक यथायोग्य जाते हैं। तथा भवनत्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव और सातों पृथिवियोंके नारकी अपनी२ लेश्याओंके अनुसार मनुष्यगति अथवा तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि जिस गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है उसी गतिमें जाते हैं, बाकीमें नहीं। क्योंकि आयुबन्ध छूटता नहीं है। गतिबन्ध छूट भी जाता है। आयुका अविनाभावी ही गतिबन्ध उदयमें आता है। बाकीकी उदीरणा हो जाती है। तथा गतिबन्धके होनेपर भी मरण समयमें जैसी लेश्या होती है उसीके अनुसार उसी गतिमें नीचा अथवा ऊंचा स्थान इस जीवको मिलता है। उपर्युक्त लेश्याओंके विवेचनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि अनर्थोंका मूल कारण लेश्यायें ही हैं। इस पञ्चपरावर्तनरूप अनादि अनन्त–मर्यादारहित संसार समुद्रमें यह आत्मा इन्हीं लेश्याओंके निमित्तसे गोते खा रहा है। कभी अशुभलेश्याओंके उदयसे नरक तिर्यञ्च गतिरूप गहरे भ्रमरमें पड़कर घूमता हुआ नीचे चला जाता है, और कभी शुभ लेश्याओंके उदयसे मनुष्य, देव गतिरूप तरंगोंमें पड़कर ऊपर उछलने लगता है, जिस समय यह आत्मा नीचे जाता है उस समय अति व्याकुल तथा चेतना हीनसा होजाता है, जिस समय ऊपर आता,

* देव नारकियोंके भुज्यमान आयुके छह महीना, और भोग भूमियोंके नौ महीना शेष रह जानेपर परभवकी आयुका बन्ध होता है। उनके उतने ही कालमें आठ अपकर्षकालकी योग्यता होती है। इनकी किसी कारण वश अकालमृत्यु नहीं होती है इसलिये इनके विशेषता है।

है उस समय भी यद्यपि तीव्र तरंगोके झकोरोंसे शान्ति लाभ नहीं करने पाता है तथापि नीचेकी अपेक्षा कुछ शान्ति समझने लगता है। इसी लिये कतिपय विचारशील उस भ्रमरजालसे बचनेके लिये अनेक शुभ उद्योग करते हैं। बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे छहो लेश्याओंके स्वरूपको उनके कार्योंको उनसे होनेवाले आयु बन्ध और गति बन्ध आदिको समझकर अशुभलेश्याओंको छोड़ दें, और शुभ लेश्याओंको ग्रहण करें। अर्थात् तीव्र क्रोध, धर्महीनता, निर्दयता, स्वात्म प्रशंसा, परनिंदा, मायाचार आदि अशुभ भावोंका त्यागकर समता, दया भाव, दानशीलता, विवेक धर्मपरायणता आदि शुभ भावोंको अपनावें इसी लिये गोमट्टसारके आधारपर लेश्याओंका इतना विवेचन किया गया है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे वास्तविक विचार करनेपर शुभ तथा अशुभ दोनों लेश्यायें इस संसारसमुद्रमें ही डुबानेवाली हैं। अशुभ लेश्या तो संसार समुद्रमें डुबाती ही हैं परन्तु शुभ लेश्या भी उससे उद्धार नहीं कर सकी। क्योंकि वह भी तो पुण्य बंधका ही कारण है, और जब तक इस आत्माके साथ बन्ध लगा हुआ है तब तक यह आत्मा परम सुखी नहीं होसक्ता है। इसलिये जो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकारकी लेश्याओंसे रहित हैं वे ही परमसुखी-सदाके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त-अनन्त गुण तेजोधाम, वीतराग-निर्विकार-कृतकृत्य-स्वात्मानुभूतिपरमानन्दनिमग्न-सिद्ध परमेष्ठी हैं। उन्हीं परम मङ्गलस्वरूप सिद्ध भगवानके ज्ञानमय चरणारविन्दोंको हृदय मंदिरमें स्थापित कर तथा उन्हींकी बार बार भावना कर इस ग्रन्थराजकी यह सुबोधिनी टीका यहीं समाप्त की जाती है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैन-धर्मोस्तु मंगलं ॥१॥

(मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी वीर सं० २४४८.)



ॐ नमः सिद्धेभ्यः

टीकाकारकी प्रशस्ति

शहर आगराके निकट ग्राम चावली* नाम
वैश्योंमें विख्यात तहँ श्रीयुत तोताराम ॥ १ ॥
धर्मवंत बुधिवंत अति पद्मावति पुरवाल
परउपकारी दैवपर पूजक जिन गुणमाल ॥ २ ॥
छहसुत तिनके हैं सभी गण्य मान्य विद्वान
धर्मनिष्ठ विनयी बड़े व्यापारी नयवान ॥ ३ ॥
बाल ब्रह्मचारी सुधी रामलालजी नाम
पुत्ररत्न ये ज्येष्ठ थे जिनसेवक वसु जाम ॥ ४ ॥
तिनसे लघु सागार हैं भाई मिट्ठनलाल
सर्वमान्य निजगौरवी, ग्रामपंच बड़ भाल ॥ ५ ॥
तृतिय भ्रात पण्डित प्रमुख शास्त्री लालाराम
निपुण न्याय सिद्धान्तमें काव्यकलाके धाम ॥ ६ ॥
उनका ही उपकार यह टीका ग्रन्थ अनेक
भावपूर्ण विस्तृत सरल रचीं स्व-परहितहेत ॥ ७ ॥
आदिपुराण प्रसिद्ध है, उत्तर हू जु पुरान
शान्तिनाथ जिनराजका शान्तिपुराण महान ॥ ८ ॥
पात्रकेशरी स्तोत्र अरु धर्मामृत सागार
धर्मप्रश्नउत्तर सहित, सरल श्रावकाचार ॥ ९ ॥
तत्त्वकोष तत्त्वानुशा-सन हू शास्त्र महान
चरित्रसार पुनि जिनशतक, सूक्तिमुक्तावलि जान ॥ १० ॥
मणिमाला वैराग्यकी, ग्रन्थ इष्ट उपदेश,
क्रियामञ्जरी, मालिका प्रश्नोत्तर अवशेष ॥ ११ ॥
संशयवदनविदारिका आदि शास्त्र अभिराम
इन सबकी टीका रचीं शास्त्री लालाराम ॥ १२ ॥
देखि नास्तिकोंका महा धुवका अवर्णवाद
आदिपुराण समीक्षका रचा परीक्षावाद ॥ १३ ॥
युक्ति पूर्ण सागम कथन देखि निरुत्तर होय
बैठि रहे चुप होयके मिथ्यावादी लोय ॥ १४ ॥

शास्त्रीजीका ट्रैक्ट यह पहुंचौ चारों ओर
सत्य धर्मकी जय हुई विघटौ मिथ्या शोर ॥ १५ ॥
पण्डित नंदनलालजी तिनतें लघुवर भ्रात
सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥
तिनहू इक चारित्रका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाइ
जातें निजहित भवि करें तत्त्व जथारथ पाइ ॥ १७ ॥
चौवीसौं जिनराजका पाठ रचौ अनमोल
छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥
दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान
पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्यान ॥ १९ ॥
तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल
तिन सबकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥
उनतें छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल
द्वितिय जौंहरी, प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥
सभी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन
श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरू जिन बैन ॥ २२ ॥
आर्षवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई भ्रात
धर्म दिगम्बर जग बढ़ै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥
गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ
पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥
महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि
विद्वद्वर जगके सभी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥
मैं बालक मतिमंद हूं शास्त्ररहस्य-अजान
अति साहस मैंने कियौ करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥
भूल चूक जो रहगई सुज्ञानी गुणमाल
पढ़ौ पढ़ावो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २७ ॥
पञ्चाध्यायी ग्रन्थको पढ़ै सुनै जो कोय
दृढ़ सम्यक्की संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ २८ ॥

शास्त्रीजीका ट्रैक्ट यह पहुंचौ चारों ओर
सत्य धर्मकी जय हुई विघटौ मिथ्या शोर ॥ १५ ॥
पण्डित नंदनलालजी तिनतैं लघुवर भ्रात
सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥
तिनहू इक चारित्रका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाइ
जातैं निजहित भवि करैं तत्त्व जथारथ पाइ ॥ १७ ॥
चौवीसौं जिनराजका पाठ रचौ अनमोल
छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥
दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान
पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्यान ॥ १९ ॥
तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल
तिन सबकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥
उनतैं छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल
द्वितिय जौंहरी, प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥
सभी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन
श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरू जिन बैन ॥ २२ ॥
आर्षवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई भ्रात
धर्म दिगम्बर जग बढ़ै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥
गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ
पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥
महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि
विद्वद्वर जगके सभी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥
मैं बालक मतिमंद हूं शास्त्ररहस्स-अजान
अति साहस मैंने कियौ करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥
भूल चूक जो रहगई सुज्ञानी गुणमाल
पढ़ौ पढ़ावो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २७ ॥
पञ्चाध्यायी ग्रन्थको पढ़ै सुनै जो कोय
दृढ़ सम्यक्त्वी संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ २८ ॥

शास्त्रीजीका ट्रैक्ट यह पहुंचो चारों ओर
सत्य धर्मकी जय हुई विघटो मिथ्या शोर ॥ १५ ॥
पण्डित नंदनलालजी तिनतें लघुवर भ्रात
सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥
तिनहु इक चारित्रका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाइ
जातें निजहित भवि करें तत्त्व जथारथ पाइ ॥ १७ ॥
चौवीसों जिनराजका पाठ रचौ अनमोल
छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥
दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान
पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्यान ॥ १९ ॥
तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल
तिन सबकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥
उनतें छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल
द्वितिय जोंहरी, प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥
सभी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन
श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरू जिन बैन ॥ २२ ॥
आर्षवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई भ्रात
धर्म दिगम्बर जग बढ़ै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥
गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ
पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥
महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि
विद्वद्वर जगके सभी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥
मैं बालक मतिमंद हूं शास्त्ररहस-अजान
अति साहस मैंने कियो करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥
भूल चूक जो रहगई सुज्ञानी गुणमाल
पढ़ो पढ़ावो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २७ ॥
पञ्चाध्यायी ग्रन्थको पढ़ै सुनै जो कोय
दृढ़ सम्यक्ती संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ २८ ॥
